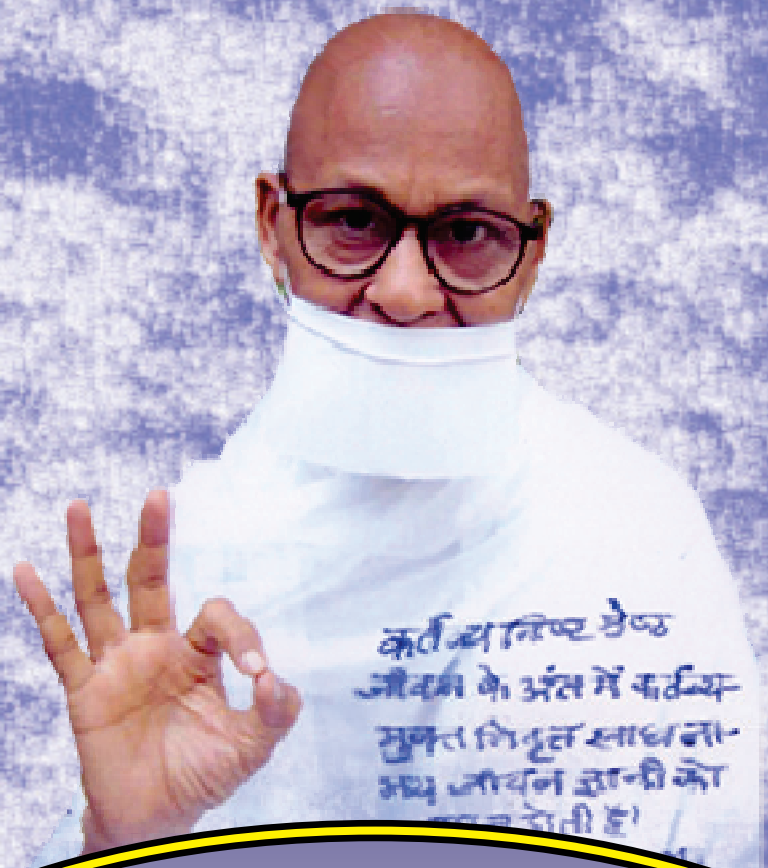

आगम मनीषी
श्री तिलोकचंद जैन द्वारा संपादित
जैनागम नवनीत प्रश्नोत्तर
भाग ० ९

चार छेद सूत्र : परिचय

प्रश्न-१ : चार छेद सूत्र कौन से है ? इन्हें छेद सूत्र क्यों कहा गया है और इन चार का क्रम कैसे निर्धारित करना ?

उत्तर- सामायिक आदि पाँच चारित्र है, जिसमें वर्तमान में भगवान महावीर स्वामी के शासन में छेदोपस्थापनीय चारित्र ही मुख्य होता है और इन चारों छेद शास्त्रों में छेदोपस्थापनीय चारित्र स ब धी विधि निषेध विशेष है। अतः ये चारों शास्त्र छेद सूत्र रूप में प्रचारित हुए हैं।

चार छेदसूत्रों का क्रम इस प्रकार है- (१) निशीथ सूत्र (२) दशा श्रुतस्क ध सूत्र (३) बृहत्कल्प सूत्र और (४) व्यवहार सूत्र। इस क्रम का मुख्य आधार इस प्रकार है। प्रथम निशीथ सूत्र गणधर रचित आचारा ग सूत्र का ही अध्ययन(णिसीहज्झयण)पच्चीसवाँ अध्ययन था। यह कथन समवाया ग सूत्र में है। दशाश्रुतस्क ध आदि तीन सूत्र भद्रबाहुस्वामी चौदहपूर्वीकृत है। जिसका कथन अनेक ग्र थों में एव व्याख्याओं में है।

अतः गणधर रचित आचारा ग सूत्र का अध्ययन होने से निशीथ सूत्र का क्रम सर्व प्रथम रखा है। शेष तीनों का क्रम यथावत् निशीथ के बाद रखा गया है। तीनों का नाम शास्त्र पाठ में **दसा-कप्प-व्यवहारों** इस तरह आता है। अतः चारों का एक निश्चित आगम सम्मत क्रम इस प्रकार सिद्ध होता है- (१) निशीथ सूत्र (२) दशाश्रुत स्क ध सूत्र (३) बृहत्कल्प (कप्प) सूत्र (४) व्यवहार सूत्र।

व्यवहार सूत्र के दसवें अध्ययन में साधु-साध्वी के लिये शास्त्रों के अध्ययन का क्रम भी दर्शाया है जिसमें २३वें सूत्र में सर्व प्रथम आचारा ग और निशीथ सूत्र का अध्ययन(आचार प्रकल्प अध्ययन) करना कहा गया है, उसके बाद सूत्रकृता ग सूत्र के अध्ययन के बाद **दसा-कप्प-व्यवहार** के अध्ययन करने का कथन है। इस अपेक्षा को ध्यान में रखते हुए भी चार छेद सूत्रों का उपरोक्त क्रम निर्धारित किया गया है, वह आगमाधार युक्त एव सहज स्वीकार करने योग्य है तथा स देह रहित है। तथापि समाज में अन्यान्य क्रम से भी इन छेदसूत्रों को अनाग्रह भाव से विचारणा बिना स्वीकारा जाता है। परन्तु विचार करने पर उपरोक्त आशय समझ में आवे जैसा है।

निशीथ सूत्र

प्रश्न-१ : निशीथ सूत्र के रचनाकार में किसका नाम आता है?

उत्तर- इतिहास की विविध भ्रामकता से निशीथसूत्र के रचनाकार के रूप में तीन नाम आते हैं- (१) आचार्य भद्रबाहु स्वामी (२) विशाखागणि (३) आर्यरक्षित। कि तु आगम प्रमाण से यह सूत्र आचारा ग का २५वाँ अध्ययन होना एव अध्ययन(पठन-पाठन) क्रम में सर्व प्रथम होने से विशाखागणि और आर्यरक्षित की स गति नहीं हो सकती। क्यों कि व्यवहार सूत्र में भद्रबाहु स्वामी ने इसे अध्ययन में प्राथमिकता दी है। और भद्रबाहु स्वामी ने तीन छेद सूत्र **दशा कप्प व्यवहार** की रचना की थी यह बात भी प्रमाण युक्त है। अतः निशीथ सूत्र गणधर रचित आचारा ग का २५वाँ अध्ययन था जिसे किसी भी समय स्वत त्र करके निशीथ सूत्र नाम करण कर दिया गया है।

प्रश्न-२ : इस सूत्र पर व्याख्याएँ किस प्रकार उपलब्ध हैं ?

उत्तर- देवर्द्धिगणि के आगम लेखन काल के बाद ही व्याख्याओं की रचना-लेखनकाल प्रार भ होता है। सर्व प्रथम वराहमिहिर के भाई द्वितीय भद्रबाहुस्वामी ने चारों छेद सूत्र पर निर्युक्ति नामक व्याख्या प्राकृत पद्य में लिखी। फिर निशीथ सूत्र पर आचार्य सिद्धसेनगणि ने भाष्य रूप व्याख्या पद्य में लिखी। मता तर से आचार्य स घदासगणि ने भी भाष्य व्याख्या करी, ऐसा उल्लेख मिलता है पर वह ज्यादा महत्त्वशील नहीं है। निर्युक्ति भाष्य के आधार पर चूर्णि नामक व्याख्या आचार्य स घदासगणि ने निशीथसूत्र पर विस्तार से लिखी जिसे पूर्णतः आगरा से उपाध्याय श्री अमरमुनिजी ने सर्व प्रथम प्रकाशित करवाई। जिसमें प.र.श्री कन्हैयालालजी **कमल** म॰सा॰भी पूर्ण सहयोगी थे।

इस प्रकार निशीथ सूत्र का नाम निर्देश देवर्द्धिगणि के द्वारा न दी सूत्र में हुआ। विक्रम की छट्ठी शताब्दि में निर्युक्ति, सातवीं सदी में भाष्य और आठवी सदी में चूर्णि की रचना हुई। प्राचीन व्याख्या सभी प्राकृत स स्कृत में उपलब्ध है। हिंदी में इनका विवेचन ब्यावर से एव गुजराती में राजकोट से गुरुप्राण फाउन्ड़ेशन से हुआ है।

प्रश्न–३ : निशीथ सूत्र क्या गोपनीय है ? साध्विया या श्रावक नहीं पढ़ सकते ?

उत्तर– निशीथ सूत्र में साध्वाचार स ब ध दोषों का, अतिचार अनाचारों का प्रायश्चित विधान है अतः पात्र–अपात्र की अपेक्षा कुछ लेखक विचारक इसे गोपनीय सूत्र कह देते हैं। वास्तविकता यह है कि सूत्र–शास्त्र योग्य एव तैयार शिष्यों साधु-साध्वी को पढ़ाये जाते एव योग्य श्रावको के भी ११ अ ग शास्त्रों के अध्ययन का वर्णन मिलता है। यह निशीथ सूत्र आचारा ग का अध्ययन रूप होने से योग्य प्रायः सभी साधु-साध्वी को आवश्यक रूप से अध्ययन एव क ठस्थ रखने की प्रणाली प्रार भ से थी अतः गोपनीयता की एका त बात महत्त्वशील नहीं है।

व्यवहार सूत्र उद्देशक–५ सूत्र–१५, १६ के अनुसार क ठस्थ किये इस शास्त्र को भूल जाना साधु-साध्वी के लिये अपराध माना गया है एव उसका कठोर प्रायश्चित्त विधान किया है।

निशीथसूत्र पर चूर्णि व्याख्या स स्कृत–प्राकृत में आचार्य स घदास गणि ने लिखी। इस सूत्र के प्रायश्चित विधानों को हेतु कारण सहित समझाने के लिये दोष सेवन की सामान्य परिस्थिति से लेकर पराकाष्टा तक की स्थितियों को स्पष्ट करते हुए उसके प्रायश्चित्त के दर्जे किस तरह घटते बढ़ते है उन सभी दर्जों का स्थितियों का बहुत स्पष्ट वर्णन विस्तार से किया है जो मात्र साधकों को अनुभव वृद्धि के लिये और प्रायश्चित्त की तारतम्यता समझाने के लिये किया है। इतना सारा विस्तार और खुले दोष सेवन के दर्जे लिखे होने से उन्होंने ही इस व्याख्या सूत्र की अतिगोपनीयता दर्शायी है। जो दोषों के सेवन की स्पष्टता होने से उपयुक्त भी है। कि तु हमारे शास्त्र स क्षिप्त और मर्यादित भाषा में होने से और योग्य गुरु शिष्य के अध्यापन की पर परा होने से इन्हें गोपनीय किसी शास्त्र में या न दी सूत्र में नहीं कहा गया है।

प्रश्न–४ : निशीथ सूत्र का स क्षिप्त परिचय क्या है ?

उत्तर– निशीथ सूत्र यह नाम करण न दी सूत्र से प्राप्त होता है। अतः स भवतः यह नाम देवर्धिगणि के लेखन समय में कायम किया गया हो। पूर्व में यह आचार प्रकल्प, आचारा ग सूत्र इस तरह से प्रसिद्ध

था। विभाग की अपेक्षा इसमें २० उद्देशक(अध्याय) हैं जिसमें १९ उद्देशकों में अमुक दोषो के प्रायश्चित्त कहे है। अ तिम उद्देशक(२०) में प्रायश्चित्त उतारने स ब ध अर्थात् वहन करने स ब ध वर्णन है।

प्रायश्चित्त विभाजन भी १९ उद्देशकों में ४ प्रकार से विभक्त किया गया है।– (१) उद्देशक–१ में गुरु मासिक प्रायश्चित्त कथन है। (२) उद्देशक २ से ५ तक में लघु मासिक प्रायश्चित्त विधान के दोष स्थान कहे हैं। (३) उद्देशक–६ से ११ में गुरु चौमासिक प्रायश्चित्त स्थान कहे हैं। (४) उद्देशक–१२ से १९ तक लघु चौमासी प्रायश्चित्त स्थान कहे हैं।

प्रश्न–५ : इस सूत्र के निर्युक्तिकार १४ पूर्वी भद्रबाहु स्वामी थे ?

उत्तर– निर्युक्तिकार द्वितीय भद्रबाहु वराहमिहिर के भाई थे। वराह-मिहिर ने वराही स हिता ग्र थ की रचना की थी, जिसमें उसका रचना समय अ कित है जो विक्रम स वत् ५६२ का समय होता है। वह समय वीर निर्वाण की ग्यारहवीं शताब्दि अर्थात् देवर्धिगणी के ३०–४० वर्ष बाद का होता है। अतः १४ पूर्वी भद्रबाहुस्वामी नामसाम्यता से भ्रमित चल गया है। वास्तव में आगम लेखन के बाद ही व्याख्याएँ लिखना प्रास गिक होता है और जो वराहमिहिर के वराही स हिता में लिखे शक् स वत से स्पष्ट हो जाता है।

प्रश्न–६ : ये निशीथ सूत्र में कहे प्रायश्चित्त कब किसको किस प्रकार आते हैं ?

उत्तर– अनिवार्य कारणों से या बिना कारण स यम मर्यादा का भ ग करके यदि कोई स्वय आलोचना करे, तब ये सूत्रोक्त प्रायश्चित्त आते हैं। जिसमें अतिक्रम व्यतिक्रम और अतिचार का प्रायश्चित ***मिच्छामि दुक्कड़*** से प्रतिक्रमण से हो जाता है। अनाचरण रूप दोष का स्पष्ट सेवन हो जाने पर इस सूत्र में कहे गये प्रायश्चित्त आते हैं। यह स्थविरकल्पी सामान्य साधु-साध्वियों की मर्यादा हैं।

(१) लघु मासिक में जघन्य एक एकासना उत्कृष्ट २७ उपवास।
(२) गुरु मासिक में जघन्य एक निवी(दो एकासना)उत्कृष्ट ३० उपवास।
(३) लघु चौमासी में जघन्य एक आय बिल उत्कृष्ट १०८ उपवास।
(४) गुरु चौमासी में जघन्य एक उपवास उत्कृष्ट १२० उपवास।
(५) इन्ही दोषों का बारम्बार सेवन करने पर अथवा ल बे समय तक

दोष चलता रहने पर प्रायश्चित्त सीमा बढ़ती जाती है। तप से छेद प्रायश्चित्त तक भी बढ़ जाती है।

(६) कोई बड़े दोष का गुप्त रूप से सेवन करके छिपाना चाहे और कभी कोई दूसरा व्यक्ति दोष को प्रमाणित सिद्ध करके प्रायश्चित्त दिलावे तो दीक्षा छेद का प्रायश्चित्त आता है।

(७) दूसरे के द्वारा सिद्ध करने पर खोटा बचाव करने का प्रयत्न करे, झूठ कपट विपरीत आचरण करे फिर मजबूरी से स्वीकार करे तो नई दीक्षा का प्रायश्चित्त आता है।

(८) यदि प्रमाणित होने पर भी खोटा दुराग्रह करे, दोष स्वीकार नहीं करे, प्रायश्चित्त नहीं ले तो गच्छ से मुक्त कर दिया जाता है।

प्रश्न-७ : परिस्थितिवश कारण से लगने वाले दोष और शिथिलता से लगने वाले दोष के प्रायश्चित्त में किस प्रकार का फर्क होता है ?

उत्तर- परिस्थिति, कारणवश का प्रायश्चित्त :-

क्रम	प्रायश्चित्त नाम	जघन्य तप	उत्कृष्ट तप
१.	लघुमासी	एक एकासना	सताइस एकासना
२.	गुरुमासी	एक निवी	तीस निवी
३.	लघु चौमासी	एक आय बिल	१०८ उपवास
४.	गुरु चौमासी	एक उपवास	१२० उपवास(पाँच वर्ष में)

शिथिलाचार, आसक्ति आदि के दोष का प्रायश्चित :-

क्रम	प्रायश्चित्त नाम	जघन्य तप	उत्कृष्ट तप
१.	लघुमासी	एक आय बिल	सताइस आय बिल या उपवास
२.	गुरुमासी	एक उपवास	तीस आय बिल या उपवास
३.	लघु चौमासी	चार आय बिल	१०८ उपवास
४.	गुरु चौमासी	चार उपवास	१२० उपवास पाँच वर्ष में या ४ मास का दीक्षा छेद

प्रश्न-८ : लघुमासी गुरुमासी आदि चार विभाजन का खास आशय क्या है ?

उत्तर- दोषों के चार विभाजन अपेक्षा विशेष से स्थूल दृष्टि से किये

गये हैं। (१) मूलगुण के दोष, मौलिक स्थूल विराधना दोष एव गृहस्थ की सेवा युक्त दोष ये **गुरु में** समाविष्ट होते हैं। (२) उत्तरगुण के दोष; सामान्य विराधना के दोष और अल्प विराधना वाली गृहस्थ सेवा का दोष **लघु में** समाविष्ट होते हैं। (३) इन दोनों में भी तुलनात्मक दृष्टि से अल्प और छोटे दोष मासिक में लिये हैं और (४) बड़े और विशेष दोष को **चौमासी में** लिये हैं।

निशीथ सूत्र का यह चार प्रकार का विभाजन बहुत ही गूढ एव अनेका तिक दृष्टि से है। इसके लिये एका त और निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। १ से १९ उद्देशकों के विषयों को देखने से चि तन करने से ऐसा आभास होता है।

चारों विभागों को एक निश्चित एव एका त स्थिर परिभाषा में बाँधना दुविधाजनक है। मोटे रूप में एव अनाग्रह भाव से समझना ही सर्वोचित होगा।

फिर भी पाठक मोटे रूप में यह समझें कि-

(१) मूलगुण, भारी एव बड़े दोष - गुरु चौमासी में

(२) मूलगुण एव छोटे दोष - गुरु मासी में

(३) उत्तरगुण के विशाल एव अधिक विराधना दोष-लघु चौमासी

(४) उत्तरगुण के अल्प दोष, मूलगुण के अत्यल्प दोष-लघु मासी

इसके सिवाय समाचारी, विनय, अप्रमाद, सेवा स ब ध सामान्य उपेक्षा में भी लघु मासी या लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता हैं।

विशेष प्रमाद, विशेष समाचारी भ ग, विशेष अविनय आशातना आदि का गुरु मासी या गुरु चौमासी प्रायश्चित्त होता है। यह स्थूल अनुभव अनाग्रह भाव से ध्यान में रखना चाहिये। विशेष तो १९ उद्देशकों में शास्त्रकार ने जो स कलन दिया है उसे उसी अपेक्षा से समझने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये।

प्रश्न-९ : देवसिय प्रतिकमण से स ब धित समाचारी स ब धी एव सामान्य जीवन स ब धी प्रायश्चित्त व्यवस्था क्या है?

उत्तर- देवसिय प्रतिक्रमण में अतिचारों का जो ***मिच्छामि दुक्कड़*** दिया जाता है उसमें भूल से कोई दोष प्रवृत्ति रूप के रह गये हो

उसका एक उपवास। कोई भी वस्तु रखते-उठाते, काया से प्रवृत्ति करते अयतना हुई हो उसका एक उपवास। प्रतिलेखन प्रमार्जन में विवेक नहीं रहा या नहीं हुआ उसका एक उपवास। बादर पाँच स्थावर की अचानक विराधना हुई हो तो एक-एक उपवास। अन त काय या स मूर्च्छिम मनुष्य स ब धी विराधना हुई हो तो एक बेला।

वर्षा के ग दे पानी में चलना पड़ा हो तो एक उपवास। स्वच्छ पानी में चलना पड़ा तो ४ उपवास। लीलन फूलन युक्त पानी में चलना पड़े तो बेला प्रायश्चित्त लेना। यह दो चार दस कदम का प्रायश्चित्त समझना। ४०-५० कदम आदि चलना पड़े तो उपवास की जगह ४ उपवास और ४ उपवास की जगह बेला एव बेले की जगह तेला प्रायश्चित्त लेना।

अधिक ल बे समय तक दोष लगते रहने पर या विराधना की मात्रा बढ़ने पर चौला प चोला तप अथवा ३०-४०-५० उपवास की वृद्धि होती है।

विराधना के साथ गृहस्थ सेवा ड़ॉक्टर सेवा आवागमन, ओपरेशन आदि शामिल हो जाने पर और अधिक समय दोष चलने पर १२० उपवास का प्रायश्चित्त आता है।

इन दोषों की सीमा व्यवहार से कुछ आगे बढ़ जाने पर या वाहन आदि दोष शामिल हो जाने पर(१८० उपवास) उत्कृष्ट छः मासी प्रायश्चित्त भी आता है।

जघन्य से लेकर उत्कृष्ट तक बीच के प्रायश्चित्त में तप स ख्या बढ़ाने का समाचारी से अथवा बहुश्रुत की आज्ञा अनुभव से होता है। प्रायश्चित्त दाता का अनुभव प्रायश्चित्त देते, सुनते और औत्पातिकी बुद्धि आदि से चिंतन करने से बढ़ता जाता है। फिर वह प्रायश्चित्त विषय, व्यक्ति की परिस्थिति या क्षमता तथा द्रव्य क्षेत्र काल भाव के प्रस ग से प्रायश्चित्त तप का सही निर्णय करने वाला होता है। बहुश्रुत योग्यता स पन्न निष्पक्ष दिल वालों के जिम्मे से सारे मध्यम तप प्रायश्चित्त विधान नियत होते हैं। यह अधिकार, योग्यता स्वतः अभ्यास चि तन अनुभव से प्राप्त होते हैं एव गुरुगम से श्रवण, धारण, प्रश्न वार्ता से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न-१० : दीक्षा छेद का प्रायश्चित्त कब आता है ?

उत्तर- तप प्रायश्चित्त उत्कृष्ट १८० उपवास तक होता है उसके आगे दीक्षा छेद का प्रायश्चित्त आता है इसमें दीक्षा पर्याय कम हो जाती है। (१) दोषों की स्थिति में अत्यधिक लोकापवाद लोक निंदा हो, दोष सेवन करने वाले के परिणाम स यम शिथिलता के एव स्वच्छ दता के हो तो छेद प्रायश्चित्त आता है। (२) मूलगुण के दोषों का बार बार सेवन करने से या अत्यधिक ल बे समय तक दोष सेवन करने से। (३) अकारण अपवाद सेवन करने से। (४) मूल गुण के दोष सेवन से अधिक लोक नि दा होने से। अनुशासन के अत्यधिक भ ग करने से। (५) स्वच्छ दता या स्वच्छ द प्ररूपणा करने से। (६) आचार्य आदि की अत्यधिक अवगणना करने से ।

इत्यादि परिस्थितियों में प्रायश्चित्त दाता द्वारा उचित लगे तो छेद प्रायश्चित्त दिया जा सकता है।

उद्देशक-१

प्रश्न-१ : इस उद्देशक में कितने सूत्र है और किन-किन विषयों के प्रायश्चित्त है ?

उत्तर- इसमें ५८ सूत्र है जिनके द्वारा गुरुमासिक प्रायश्चित्त योग्य दोषों का निर्देश किया गया है।

विषय- (१) ब्रह्मचर्य (२) फूल (३) वर्षा आदि का पानी (४) छीका-चिलमिलिका (५) सई, कैंची आदि (६) पात्र आदि उपकरण परिकर्म (७) वस्त्र सीवन आदि (८) रसोई घर का धूँआ (९) पूतिकर्म।

प्रश्न-२ : इन विषयों स ब धी प्रायश्चित्त किस प्रकार दर्शाये है ?

उत्तर- (१) बाल्यभाव वश गुप्ता ग से किसी भी प्रकार की कुतुहलवृत्ति अर्थात् स चालन आदि क्रियाएँ करने से (२) फूल आदि सचित पदार्थ की सुग ध लेने पर सू घने पर (३) मकान में या मार्गों में वर्षा आदि का पानी उल्ल घन करने हेतु पाव रखने के लिये पत्थर आदि रखवाना या मकान में फूलण आदि के लिये तेल वगैरह लगवाना। पुल जैसा मार्ग बनवाना या आलम्बन-सहारा लेने जैसा साधन बनवाना; पानी

बहकर निकल जाय वैसा मार्ग(नाली) बनवाना (४) चूहे, बिल्ली, कुत्ते आदि से सुरक्षा हेतु आहार को ऊँचा रखने हेतु छींका आदि बनवाना; आहार करने आदि के लिये पर्दा ब धवाना या मच्छर आदि की रक्षा हेतु मच्छरदानी-चिलमिलिका बनवाना। (५) सूई, कैंची, नख काटने का साधन और कान शोधन का साधन इत्यादि वस्तुएँ प्रयोजन बिना लावे, खुद के या दाता के चुभ जाय लग जाय इस तरह लेवे देवे। अथवा गुम न जाय टूट न जाय इसका विवेक न रखे, जिस काम के लिये बोलकर लावे उससे दूसरा काम करे, खुद के लिये लावे और अन्य को देवे, सुधार कार्य करवावे। (६) पात्र तथा द ड़ आदि केर ग रोगान या अन्य परिकर्म निष्प्रयोजन करे या गृहस्थ से करवावे। (७) वस्त्र सीवन आदि कार्य निष्प्रयोजन करे या गृहस्थ से करवावे। (८) औषध के लिये रसोई घर का धूँवा उतरवावे। (९) आधाकर्मी का अंश(लेप) जिसमें मिला हो ऐसा पूतीकर्म आहार लेवे ।

ये दोष कुछ गृहस्थ सेवा के एव कुछ बड़े दोष होने से इनका गुरु मासिक प्रायश्चित्त कहा है। इसमें भी कभी किसी का जघन्य कभी मध्यम और कभी उत्कृष्ट प्रायश्चित्त दिया जाता है। जिसका स्पष्टीकरण पहले प्रश्नों में कर दिया है। ***[देखे प्रश्न-६ से १० तक]***

उद्देशक-२

प्रश्न-१ : इस उद्देशक में कितने सूत्र हैं उनमें किन विषयों का प्रायश्चित्त है ?

उत्तर- इसमें ५७ सूत्रों द्वारा **लघु मासिक** प्रायश्चित्त योग्य दोषों का निर्देश किया गया है। **विषय :-** (१) पादप्रोंछन (२) इत्रादि (३) पदमार्ग आदि (४) सूई आदि का सुधार कार्य (५) सूक्ष्म हिंसा झूठ आदि (६) पात्र, द ड़ आदि परिकर्म (७) पात्र गवेषणा (८) आहार स ब धी (९) कल्पमर्यादा (१०) अन्य मतावल बी का साहचर्य (११) शय्यातर पिंड़ (१२) शय्या स स्तारक (१३) उपधि प्रतिलेखन।

प्रश्न-२ : इन विषयों स ब धी प्रायश्चित्त किस प्रकार दर्शाया है ?

उत्तर- (१) पादप्रोंछन एक हाथ ल बा चौड़ा वस्त्र होता है जो पाँव

पोंछने, बैठने या उच्चार पासवण के समय भी काम आ सकता है। कारण होने पर उसे ड़ ड़े से बा धकर मकान की दिवाल या छत के जाले वगैरह साफ किये जा सकते हैं। ऐसा काष्ट द ड़युक्त पादप्रोंछन निष्कारण बनावे, रखे और कारण होने पर भी ड़ेढ़ महिने से अधिक रखे। **(२)** अचित्त सुग धी पदार्थ तेल इत्र आदि सू घे। **(३)** पानी उल्ल घन के पदमार्ग आदि प्रथम उद्देशक में गृहस्थ से कराने का है यहाँ खुद करने का समझना । **(४)** सूई कैंची आदि के सुधार कार्य भी यहाँ खुद करने का कथन है। **(५)** पात्र-द ड़ आदि परिकर्म भी खुद करने का है। **(६)** कठोर शब्दों से किसी को ठेस पहुँचावे, छोटा असत्य बोले, थोड़ा सा भी अदत्त ग्रहण करे, शरीर स स्कार विभूषा करे, ज्यादा उपधि वस्त्रादि रखे। अख ड़(लम्बे) वस्त्र या बहुमूल्य वस्त्र, चर्म रखे। **(७)** पात्र-द ड़ आदि के र ग रोगान परिकर्म अनावश्यक स्वय करे **(८)** पात्र की गवेषणा में अन्य शक्तिशाली प्रभावी आदि का सहयोग लेकर गवेषणा करे। **(९) आहार**-निम त्रित घर का नियमित लेवे; आधा, पूरा, चौथाई आदि दान का नियत पिंड़ ले, दाता की पहले या पीछे प्रश सा करे, राग वाले घरों में एक बार जाकर जानकारी देकर फिर दूसरी बार जावे, मनोज्ञ-मनोज्ञ आहार पानी उपयोग ले अमनोज्ञ को परठ देवे, खुराक से ज्यादा आहार बच जाय तो दूसरे आस-पास के स तों को बताये बिना, निम त्रण दिये बिना परठ दे। **(१०)** कल्प मर्यादा का उल्ल घन कर एक जगह रहे। **(११)** अन्यतीर्थिकों के साथ-साथ भिक्षा, विहार, निहार आदि में जावे। **(१२)** शय्यातर के घर जाने पहिचाने बिना गोचरी जावे। शय्यातर के घर का आहारदि लाना नहीं, भूल से आ जाय तो खाना नहीं परठ देना होता है। उसकी दलाली का आहार भी नहीं लाना। **(१३)** शय्या स स्तारक शेष काल में या चौमासे के लिये याचना की हो तो उसकी समय मर्यादा उल्ल घन के पहले नई आज्ञा ले लेना। मकान का पाट-पाटला अन्यत्र ले जाना हो तो उसकी पुनः आज्ञा लेना। मकान के या अन्यत्र के शय्या स स्तार लौटाये बिना विहार कर जाय, वर्षा में शय्या स स्तारक भींज रहे हो तो उसे तत्काल वहाँ से हटाकर सुरक्षित रख देने में उपेक्षा वृत्ति करे। मकान के पाट आदि अव्यवस्थित छोड़कर विहार कर जाय। किसी की कोई चीज शय्या स स्तारक खो जाय तो

बुद्धि पूर्वक उसकी खोज न करे। **(१४)** कोई भी उपधि दोनों समय प्रतिलेखन किये बिना रखे। अर्थात् दोनों समय सभी उपधि की प्रतिलेखना करना जरूरी होता है।

इन दोषों को शास्त्रकार ने प्रथम उद्देशक की अपेक्षा हल्के दोष गिनकर इन सभी दोषों का लघु मासिक प्रायश्चित्त कहा है। जब कि प्रथम उद्देशक के सारे सूत्रों के गुरु प्रायश्चित्त है। दोष का कारण, व्यक्ति का मानस वगैरह के कारण इनका कभी जघन्य मध्यम उत्कृष्ट कोई भी प्रायश्चित्त दिया जा सकता है जिसका स्पष्टीकरण पूर्व प्रश्नों में कर दिया गया है। ***[देखे प्रश्न-६ से १० तक]***

उद्देशक-३

प्रश्न-१ : इस उद्देशक में कितने सूत्र है, उनमें किन-किन विषयों के प्रायश्चित्त है ?

उत्तर- इसमें ८० सूत्रों के द्वारा लघु मासिक प्रायश्चित्त योग्य दोषों का निर्देश किया गया है। उद्देशक-२ से ५ तक चार उद्देशकों में लघु मासिक प्रायश्चित्त कहा है। जिनके विभाजन का कोई मुख्य कारण न होते हुए सामान्य रूप से व्यवस्था दृष्टि से एव क ठस्थ में ध्यान में रखने की सुविधा का उद्देश्य हो सकता है।

विषय :- (१) दीनता या कुतुहल से आहार याचना (२) शरीर एव अ गोपा गो की सेवा सुश्रुषा तथा परिकर्म कार्य (३) वशीकरण ड़ोरा (४) मलमूत्र अयोग्य स्थान में परठना।

प्रश्न-२ : इन विषयों स ब धी प्रायश्चित्त किस प्रकार दर्शाया है ?

उत्तर- (१) किसी भी घर या धर्मशाला आदि स्थानों में किसी भी स्त्री या पुरुष से दीनता पूर्वक याचना करे, कुतुहल से खाद्य पदार्थ मा ग कर याचना करे, एव एकबार खुद मना करके फिर पीछे पड़कर मा गे, गृहस्थ के द्वारा आने का मना कर देने पर भी उसके घर जावे। भीड़वाले जीमणवार के स्थान पर बिना कारण जावे, तीन कमरे(३० फुट करीब) दूर से सामने लाई गई वस्तु लेवे। **(२)** शरीर का तथा पावों का, घूमड़ो-व्रणों का, आँखो का प्रमार्जन आदि करे। रोमराजि

तथा दाढ़ी मू छ के बाल काटे, गुह्य स्थान, ज घा के, बगल के बाल काटे, नख काटे, नाक, भोंहों, मस्तक के बाल काटे, शरीर का जमा मैल उतारे, आँख-कान आदि का मैल निकाले, विहार आदि में साधु मस्तक ढ़ा के, साध्वी उघाड़ा रखे। निषिद्ध और अनाज्ञा के अव्यावहारिकता लगे ऐसे स्थानो में खेत, वाड़ी, वन बगीचे आदि में मलनिसर्ग करने जावे। सूर्य की धूप न आवे वहाँ मलनिसर्ग करे।

इस उद्देशक में दर्शाये गये प्रायश्चित्त सभी एका तिक नहीं है। अर्थात् स्थविर कल्पी श्रमण को यथाशक्य शरीर परिकर्म-शुश्रूषा नहीं करनी होती है। क्षमता उपरा त या रोग आदि कारण से करना पड़े तो गुरु बहुश्रुत की आज्ञा से निश्राय से करने पर प्रायश्चित्त नहीं आता है। आदत से या बिना कारण प्रवृत्ति रूप से करने पर इन सूत्रों से प्रायश्चित्त आता है।

सामान्यतया कोई विशिष्ट वस्तु मा ग मा ग कर नहीं ली जाती है। विशेष प्रस ग या कारण से विवेक पूर्वक कभी मा गी भी जा सकती है, ऐसा स्थविर कल्पी का वैकल्पिक आचार समझना।

बड़ीनीत(मलनिसर्ग) के लिये जहाँ किसी की मनाई न हो या अन्य लोग भी सामान्य रूप से जहाँ जाते हो तो वहाँ परठने का प्रायश्चित्त नहीं आता है।

इस प्रकार इस उद्देशक में कहे गये प्रायश्चित्त विवेक के साथ समझने के हैं। यहाँ कहे गये लघु मासिक दोषों के जघन्य मध्यम उत्कृष्ट प्रायश्चित्त कोई भी दिया जा सकता है जिसका स्पष्टीकरण पहले कर दिया गया है। **[देखे प्रश्न-६ से १० तक]**

उद्देशक-४

प्रश्न-१ : इस उद्देशक में कितने सूत्र है उनमें किन-किन विषयों के प्रायश्चित्त हैं ?

उत्तर- इसमें १२८ सूत्रों के द्वारा लघुमासिक प्रायश्चित्त योग्य दोषों का निर्देश किया गया है। जिसमें परस्पर शरीर परिकर्म की वैकल्पिकता पूर्ववत् है।

विषय :- (१) राजा या राज्याधिकारी का लगाव (२) सचित्त बीज आदि (३) विगय (४) स्थापनाकुल (५) साध्वी के साथ विवेकव्यवहार (६) क्लेश (७) हँसना (८) पासत्थादि के साथ व्यवहार। (९) सचित्त सलेप हाथ वाले से आहार लेना (१०) परस्पर श्रमण शरीर शुश्रुषा (११) परिष्ठापन विधि।

प्रश्न-२ : इन विषयों स ब धी प्रायश्चित्त किस प्रकार दर्शाया गया है ?

उत्तर- (१) राजा, राजा के रक्षक, देश के, सीमा के, ग्राम के, नगर के, निगम के रक्षक, इत्यादि १० प्रकार के अधिकारी कहे हैं उनसे अन्य भी समझ लेना। इन दस को वशीभूत करे(प्रभाव से)। प्रश सा करे, चमत्कार आदि से आकर्षित करे। **(२)** सचित धान्य या बीज भूल आदि से खाने में आ जावे। **(३)** विगय सेवन के लिये गुरु आदि की विशिष्ट आज्ञा प्राप्त न करे। **(४)** आवश्यकता हेतु छोड़े जाने वाले विशिष्ट घर(स्थापना कुल) में नहीं जाने का ध्यान न रखे। **(५)** साध्वी के उपाश्रय में कारण से जाना पड़े तो पहले से सूचित, स केत न करे। **(६)** नये-नये क्लेश बात-बात में खड़े कर दे, पुराने शा त क्लेश को अविवेक से पुनः उखेड़ दे। **(७)** जोर जोर से मुँह फाड़ फाड़ कर हँसे। **(८)** आगमिक स यम नियमों में शिथिल श्रमणों के साथ अपना साधु लेने देने का व्यवहार रखे। (क्यों कि स गति से दोष बढ़े अथवा क्लेश पैदा होवे) **(९)** पृथ्वी, पानी, वनस्पति के सचित्त या मिश्र पदार्थों से लिप्त हाथ कुड़छी वगैरह से गोचरी लेवे। **(१०)** तीसरे उद्देशक में कहे गये ५४ कार्य शरीर सुश्रुषा-परिकर्म के साधु-साधु अरस-परस करे। **(११)** पाँचवी समिति के मल विसर्जन स ब धी छोटे बड़े समाचारिक १० नियमों का(भूमि प्रतिलेखन से लेकर अल्प पानी से शुद्धि करने के नियमों का) पालन न करे।

इस सभी दोष स्थानों का लघुमासिक प्रायश्चित्त कहा है इनमें विवेक एव समाचारिक विधिएँ एव शरीर सुश्रुषा वगैरह जो है उनमें पहले कहे गये विकल्प और विवेक तथा जघन्य मध्यम उत्कृष्ट प्रायश्चित्त, योग्य रूप से समझ लेना चाहिये। ***[देखे-प्रश्न-६ से १० तक]***

उद्देशक-५

प्रश्न-१ : इस उद्देशक में कितने सूत्र है और किन-किन विषयों का प्रायश्चित्त है ?

उत्तर- इसमें ५२ सूत्रों के द्वारा लघुमासिक प्रायश्चित्त के दोषों का निर्देश किया गया है।

विषय :- (१) वृक्ष स्क ध के आस-पास (२) चद्दर (३) नीम आदि के पत्र (४) पादप्रोंछन (५) शय्यास स्तारक (६) सूत कातना (७) द ड़ लाठी आदि (८) नये गा व-खदाने (९) वीणा वादन (१०) मकान (११) क्रिया निषेध (१२) उपकरण परठना (१३) रजोहरण समाचारी।

प्रश्न-२ : इन विषयों स ब धी प्रायश्चित्त किस प्रकार दर्शाया गया है ?

उत्तर- (१) वृक्ष स्क ध के चौतरफ की कच्ची जमीन सचित्त होती है तथा वृक्ष स्क ध भी सचित्त होता है अतः उसके ज्यादा नजदीक खड़े रहना बैठना आदि सूत्रोक्त ११ प्रवृत्ति करना योग्य नहीं होता है। पृथ्वी एव वनस्पतिकाय के जीवों की विराधना हो जाने की पूरी स भावना रहती है। अतः उससे दूर ही (कम से कम एक फुट दूर) रहना चाहिये। कभी ऐसा करना पड़े या हो जाय तो प्रायश्चित्त स्थान है। **(२)** अपनी चद्दर (अथवा कोई भी वस्त्र) गृहस्थ से सिलवावे। साधु खुद आवश्यक सीवन कर सकता है जरूरी होने पर गुरु वड़ील की आज्ञा से साध्वी से भी सिलवा सकता है तब प्रायश्चित्त नहीं आता है। चद्दर के किनारे लटकने वाली ड़ोरियाँ बाँधने से अयतना आदि दोष होते हैं। **(३)** दवा आदि के लिये कोई सूखी पत्तियाँ काम लेनी हो तो स्वच्छ की गवेषणा करनी चाहिये। फिर भी लाने के बाद धोना, पानी फेंकना आदि कोई प्रवृत्ति साधु करे। **(४)** वर्षा, कीचड़ या धूल आदि विशिष्ट प्रस गों पर गृहस्थ का पाद प्रोंछन=पाँव साफ करने का गलीचा आदि एक दो दिन के लिये लाना पड़े तो जैसा कहकर लाया हो वैसे ही सही समय पर लौटा देना चाहिये। उसमें कोई भूल या लापरवाही करे। **(५)** किसी के घर से लाया पाट आदि जब कुछ दिन काम न लेना हो तो उपाश्रय में भी आज्ञा छोड़ सकते है तब प्रतिलेखन करना नहीं पड़ता है। कि तु वापिस जब उसे उपयोग में लेना हो तो बिना

आज्ञा ही ग्रहण कर ले। **(६)** सूत, ऊन आदि कातने का कार्य करे। ये स यम के कृत्य नहीं है, लौकिक कृत्य हैं। **(७)** ड़ ड़ा-लाठी आदि कारण से रखा जा सकता है कि तु उसे र ग-बिर गा बनावे या आकर्षक रखे। **(८)** नया गा व आदि बसे हो या नई खदाने बनी हों वहाँ कुछ समय साधु को नहीं जाना उपयुक्त माना गया है फिर भी कोई साधु बिना विवेक से या किसी के आग्रह से भिक्षार्थ या निवासार्थ जावे। **(९)** किसी भी पदार्थों के माध्यम से या अ गोपाँगों से वीणा बजाने आवाज करने जैसी प्रवृत्ति(कुतुहल वश) करे। **(१०)** अनेक स न्यासियों आदि के साथ जैन श्रमण का भी उद्देश्य शामिल हो, जल्दी बनाया है या सुधार कार्य किये हो ऐसे मकान में साधु ठहरे, प्रवेश करे तो प्रायश्चित्त आता है कि तु अन्य लोग पहले रह चुके हों, काला तर बाद साधु ठहरे तो आचारा ग सूत्र अनुसार फिर प्रायश्चित्त नहीं आता है। **(११)** जिस तरह सम्मिलित परिवार के गृहस्थों को घर, दुकान, फेक्टरी आदि की सामान्य क्रिया अनुमोदन रूप आती है वैसे ही एक समुदाय के सामुहिक साधु-साध्वियों को परस्पर सा भोगिक नामक क्रिया भी सामान्य रूप से लगती है। इसका कोई निषेध या अस्वीकार करे(वह योग्य नहीं है।) सूक्ष्म क्रिया तो परभव में भी कई प्रकार की लगती ही है अतः जिन शासन के सूक्ष्मतम सिद्धा तो को समझ कर स्वीकार करना चाहिये। **(१२)** वस्त्र पात्र आदि जहाँ तक उपयोग आवे तब तक किसी भी रूप में काम में लेने चाहिये। उसके बाद जीर्ण वस्त्र टुकड़े-ख ड़ करके परठे जा सकते है तथा लकड़ी के पात्र या द ड़ लाठी आदि को यों ही छोड़ने रूप परठ देना कि तु उसके टुकड़े करने का प्रयत्न नहीं करना। क्यों कि उनके लिये सीधे कहीं छोड़ना उपयुक्त होता है। **(१३)** रजोहरण स यम रक्षा का उपकरण है उसे बनाने, रखने, एव विनय-विवेक सम्मान स ब धी १० समाचारी नियम कहे है उनका पालन नहीं करे।

इत्यादि सभी दोष लघुमासिक दोष स्थान के दर्जे के कहे गये है। ये दोष सेवन साधु नहीं करे, इनसे फलित नियम विधानों का साधु लक्ष्य पूर्वक पालन करे, यह भी इन प्रायश्चित्त सूत्रों से आचार विधान और दोष निषेध दर्शाया गया है। तदुपरा त भी कोई दोष प्रवृत्ति हो

जाय या करना पड़े इत्यादि तो इन सूत्रों के ज्ञान आचार स विधान को स्मृति में रखकर साधु को प्रायश्चित्त लेकर शुद्धि करते रहना चाहिये। इसीलिये प्रत्येक योग्य श्रमण-श्रमणी को यह शास्त्र क ठस्थ होना और नहीं भूलना जरूरी समझा गया है। ऐसा आगम व्यवहार सूत्र उद्देशक-५, सूत्र-१५,१६ में स्वीकारा गया है।

इस उद्देशक के साथ लघुमासिक प्रायश्चित्त स्थान के बोल (दोषों) का स कलन पूर्ण हो जाता है।

उद्देशक-६,७

प्रश्न-१ : इन दो उद्देशकों में कितने-कितने सूत्र है और विषय क्या है ?

उत्तर- इन दोनों उद्देशकों में क्रमशः ७८ और ९२ सूत्र है। सभी सूत्र बह्मचर्य विषयक है।

श्रमण-श्रमणी वेद मोह के उदय से सावधान रहें। स यम स्वीकार करने वाले साधक वेद मोह को पूर्णतया जीतने के दृढ़तम स कल्प एव पूर्ण विरक्ति से ही इस मार्ग में कटिबद्ध होते हैं तथा गुरु सानिध्य एव आगम स स्कारों से उनका स यम भाव पुष्ट होता रहता है।

उसी दोरान इस शास्त्र के इन दो उद्देशक में प्रायश्चित्त कथन के माध्यम से साधकों को ब्रह्मचर्य में सावधानी के अनेक स केत किये गये हैं।

प्रश्न हो सकता है सा प-बिच्छू और विष स ब धी विशेष वार्ता व्यक्ति को कुतुहल और आकर्षण पेदा करने की निमित हो सकती है ? समाधान यह है कि चोरों से, बुरी आदतों से सावधान रहने के स स्कार देने से ज्यादा व्यक्ति सावधान बनेंगे, स स्कारित बनेंगे। कोई व्यक्ति उस निमित से चोर दुर्व्यसनी भी बन सकते हैं। इसमें मुख्य दोष अच्छे स स्कार देने का नही कि तु ऐसे व्यक्ति के खुद के पापकर्म का तीव्र उदय काम करता है।

अतः जैन आगमों में स यम के दोषों की, अनाचारों की और प्रायश्चित्त स्थानों की चर्चा इसलिये होती है कि परम वैराग्य ज्ञान के

स स्कारों एव महापुण्य स योगो से भाग्यशाली आत्माएँ ही ज्यादा मोक्ष मार्ग में आती है। उन्हें समय पर गुण दोषों का समस्त ज्ञान सीधा ही परिणमन होता है, यही बहुमत होता है। आगम रचनाकार प्रायः त्रिकाल ज्ञानी दीर्घदृष्टा होते हैं। वे अपने उपस्थित अनुभव के स तुलन से एव हानि-लाभ के हिसाब तोल से ही स पूर्ण शासन हेतु सूत्र सिद्धा त की रचना करते हैं। ब्रह्मचर्य की गुणगाथा गाई जाती है, अब्रह्मचर्य कुशील के प्रति विरक्ति भाव भरे जाते हैं। आचार शास्त्रों में किसी न किसी रूप से ऐसे उपदेश एव स स्कार भरे वाक्य होते हीं हैं।

निष्कर्ष यह है कि दोनों उद्देशों में ब्रह्मचर्य के खतरे वाले दोषों का एव सुरक्षा वाले नियम विधानों का उद्‌बोध प्रायश्चित्त दर्शाते हुए भरा हुआ है। मुख्यतया साधक वेद मोहकर्म के उदयाधीनता में न आवे उसके लिये स्त्री स पर्क, पौष्टिक आहार से बचे। तप में स्वाध्याय में लीन रहे। विभूषा वृत्ति और लौकिक रुचियों से दूर रहे तथा दोनों उद्देशों में सूचित किये सर्वदोष रूप प्रायश्चित्त स्थानों से अपनी आत्मा को निष्कल क रखने का प्रयत्न करे। यही आगमकारों का हितकारी उद्देश्य है। जिसे गुरुओं या आचार्य उपाध्यायों को बड़े ही विवेक की भाषा में इन सूत्रों के हेतु को अपने श्रद्धेय शिष्यों को समझाना चाहिये।

इन दोनों उद्देशों में ब्रह्मचर्य स ब धी छोटी मोटी प्रत्येक स्खलना का गुरु चौमासी प्रायश्चित्त स्थान में समावेश किया गया। प्रायश्चित्त दाता बहुश्रुत ग भीर ज्ञानी यथायोग्य जघन्य मध्यम उत्कृष्ट प्रायश्चित्त प्रस गानुसार आलोचना सुनकर दे सकते हैं। **[देखे प्रश्न-६ से १० तक]** ७८+९२=१७० सूत्रों में कही गई मन, वचन काया स ब धी कुशील रूप प्रवृत्तियों की जानकारी विवेचन एव भावार्थ युक्त प्रकाशित आगम से तथा गुरु सानिध्य से प्राप्त करनी चाहिये।

उद्देशक-८

प्रश्न-१ : इस उद्देशक में कितने सूत्र हैं और विषय क्या है ?

उत्तर- इसमें १८ सूत्रों द्वारा गुरु चौमासी प्रायश्चित्त स्थानों दोषों का कथन है। जिसमें १३ सूत्रों में ब्रह्मचर्य सुरक्षा विषय है और शेष ५ सूत्रों में राजा से स ब धी आहार ग्रहण करने के प्रायश्चित्त विधान है।

प्रश्न-२ : इन विषयों स ब धी प्रायश्चित्त किस प्रकार दर्शाया गया है ?

उत्तर- ९ सूत्रों द्वारा धर्मशाला आदि विविध स्थानों में भिक्षु अकेला अकेली स्त्री के साथ ठहरे एव अकेली साध्वी के साथ ठहरे एव अशिष्ट व्यवहार एव अशिष्ट वचन प्रयोग करे। बाहर भी अकेली स्त्री या साध्वी के साथ भ्रमण करे। (१०) रात्रि में स्त्री परिषद युक्त या मात्र स्त्री परिषद में धर्मोपदेश देने में मर्यादित समय का ध्यान न रखे। (११) साध्वी के साथ ग्रामानुग्राम विहार करे, अति स पर्क रखे। (१२-१३) अपने ठहरने के स्थान में रात्रि में स्त्री को ठहरने दे या स्वतः ठहरे तो मना नहीं करे। (१४ से १८) मूर्धाभिषिक्त राजा के महोत्सव से, उनके विशिष्ट भोजन कार्यक्रम स्थान से, उनकी दुग्धादि शाला से, उनके कर्मचारियों के लिये निकाले दान पिंड़ में से आहार ग्रहण करे।

इस प्रकार यहाँ दो विषयों से स ब धित गुरु चौमासी प्रायश्चित्त सूचित किये है। जिनका यथाप्रस ग बहुश्रुत श्रमण जघन्य मध्यम उत्कृष्ट तप छेद आदि यथायोग्य प्रायश्चित्त दे सकते हैं। ***[देखे प्रश्न-६ से १० तक अनुभव दिया है।]***

उद्देशक-९

प्रश्न-१ : इस उद्देशक में कितने सूत्र है और किस विषय के प्रायश्चित्त है ?

उत्तर- इसमें २५ सूत्रों द्वारा राजा स ब धी और उसके आहार ग्रहण स ब धी प्रायश्चित्तों का कथन है, अन्य कोई विषय इस उद्देशक में नहीं है।

प्रश्न-२ : इन विषयों स ब धी प्रायश्चित्त किस प्रकार दर्शाया है ?

उत्तर- मूर्धाभिषिक्त (बड़े राजा) का राजपिंड़ ग्रहण करे, खावे। अतःपुर में जावे या बाहर खड़े रहकर आहार म गवा ले। द्वारपाल या पशु आदि के निमित्त का आहार ले। राजा की दुग्धशाला, कोठार शाला, म त्रणा शाला, दान शाला आदि की जानकारी रखकर गोचरी जावे। इन स्थानों का वर्जन करे। राजा-राणी सवारी आदि से कहीं जा आ रहे हो तो उन्हें देखने हेतु एक कदम भी चले। राजा किसी के घर भोजन करने गये हो वहाँ भिक्षार्थ जावे। शिकार आदि के

लिये गये हों वहाँ भोजन हो तो गोचरी जावे। राजा कहीं ठहरे हो तो उसके निकट ठहरे। पर्वत, नदी आदि कोई यात्रार्थ तथा युद्ध हेतु कहीं गये हो, वहाँ उनसे आहार ग्रहण करे। राज्याभिषेक की हलचल के समय राजधानी में गमनागमन करे। दस बड़ी राजधानियों मे एक महीने में एकबार से अधिक जावे। राज्य कर्मचारी अधिकारियों के लिये निकाला आहार ग्रहण करे।

इस सभी दोष स्थानों का गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है और तप की अपेक्षा जघन्य मध्यम उत्कृष्ट प्रायश्चित्त बहुश्रुत श्रमण अपने अनुभव निर्णय अनुसार दे सकते हैं। *[देखे प्रश्न-६ से १० तक]*

❋ उद्देशक-१० ❋

प्रश्न-१ : इस उद्देशक में कितने सूत्र है और किन-किन विषयों के प्रायश्चित्त कहे हैं ?

उत्तर- इसमें ४१ सूत्रों के द्वारा गुरु चौमासी प्रायश्चित्त योग्य अनेक दोष स्थानों का निर्देश किया गया है।

विषय :- (१) आशातना (२) अन तकाय (३) आधाकर्म (४) निमित्त (५) शिष्य (६) आग तुक (७) प्रायश्चित्त (८) रात्रि भोजन (९) सेवा (१०) विहार (११) पर्युषण (१२) वस्त्र।

प्रश्न-२ : इन विषयों स ब धी प्रायश्चित्त किस प्रकार दर्शाया गया है ?

उत्तर- (१) गुरु, आचार्य एव रत्नाधिक श्रमणों को आवेश युक्त वचन कहे, स्नेह रहित आदर रहित रूक्ष वचन कहे, दोनों प्रकार के मिश्र वचन कहे तथा मन, वचन, काया के किसी भी व्यवहार से उनकी आशातना करे। **(२)** फूलण युक्त खाद्य पदार्थ खाने में आ जाय **(३)** आधाकर्म दोष युक्त आहार अर्थात् साधु के खुद के निमित्त से बना आहार-पानी आदि ग्रहण-सेवन करने में आवे। **(४)** भावी या वर्तमान स ब धी निमित्त का कथन करे। **(५)** किसी के शिष्य का या दीक्षार्थी का विचार पलटावे अथवा अपहरण करे करावे। **(६)** अन्य गच्छ से आग तुक अकेले श्रमण से पूछताछ जानकारी, आलोचना प्रायश्चित्त कराये बिना यों ही रख लेवे। क्यों कि अकेला आने वाला झगड़ कर

आया हो या गलत कार्य करके आया हो इत्यादि जानकारी करना जरूरी कर्तव्य हो जाता है। फिर भी शास्त्रकार ने यहाँ तीन दिन की छूट दी है। **(७)** प्रायश्चित्त के स ब ध में साधु को निष्पक्षता रखनी होती है वह छोटे प्रायश्चित्त का बड़ा और बड़े प्रायश्चित्त का छोटा देना या कहना, ऐसा नहीं करे। अन्यथा उसको ही प्रायश्चित्त आता है। कोई प्रायश्चित्त विशेष विधि से तप द्वारा वहन कराया जाता है उसके साथ आहार का स ब ध नहीं रहता है। सेवा के लिये जिस साधु को रखे उसका स ब ध रहता है। अन्य साधु उसके साथ आहार लेन-देन करे तो प्रायश्चित्त आता है। इस विधि का प्रचलन वर्तमान में घटता जा रहा है। **(८)** सूर्योदय के या सूर्यास्त के स दिग्ध होने की जानकारी मिलने पर आहार नहीं करना। अथवा आहार चालु हो तो स देह की स्थिति मालुम पड़ते ही उसका त्याग कर देना। जो स दिग्ध स्थिति में आहार करे पानी पीवे तो दोष का भागी होता है। रात्रि समय मुख में अन्न सहित उग्गाल आवे उसे भी निगलना नहीं, परठ देना चाहिये। **(९)** बीमार की सेवा न करे, जी चुरावे, विधिपूर्वक या भक्ति विवेक युक्त नहीं करे तो प्रायश्चित्त आवे। **(१०)** चातुर्मास में पर्युषण पूर्व या पर्युषण बाद कभी विहार करे(स्थाना ग में कही छूट के सिवाय)। **(११)** पर्युषण स वत्सरी निश्चित दिन नहीं करे अन्य दिन करे(इस सूत्र की १३०० वर्ष प्राचीन व्याख्या में वह निश्चित्त दिन भादवा सुद-५ लिखा है। वहाँ ४९-५० दिन की गणित नहीं दर्शाई है।)पर्युषण-स वत्सरी के दिन चौविहार उपवास साधु-साध्वी को करना जरूरी होता है। उसके पूर्व से १५ दिनों के करीब में बालों का लोच करना आवश्यक होता है। स वत्सरी के दिन साधु समाचारी = साध्वाचार के मुख्य नियम एव श्रावकाचार के व्रतनियम = खुद के व्रत प्रत्याख्यानों का पुनरावर्तन विचारणा अवश्य करनी होती है। उपवास, लोच और समाचारी वा चन न होने पर प्रायश्चित्त कहा गया है। यहाँ स वत्सरी स ब धी प्रायश्चित्त के पाँच सूत्र है- (१) निश्चित्त दिन स वत्सरी न करे (२) दूसरे किसी दिन करे (३) लोच न करे (४) आहार-पानी करे (५) समाचारी वा चन न करे। **(१२)** चातुर्मास में वस्त्र गृहस्थ से याचना करे(साधु-साध्वी आपस में गुरु आज्ञा पूर्वक ले दे सकते हैं।)

इन कहे गये सभी दोष स्थानों का गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है। तप की अपेक्षा जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट दर्जे के अनुसार बहुश्रुत श्रमण यथायोग्य प्रायश्चित्त दे सकते है जिसका स्पष्टीकरण पहले ***[प्रश्न-६ से १० तक]*** कर दिया गया है।

उद्देशक-११

प्रश्न-१ : इस उद्देशक में कितने सूत्र है उनमें किन-किन विषयों के प्रायश्चित्त है ?

उत्तर- इसमें ९१ सूत्रों के द्वारा गुरु चौमासी प्रायश्चित्त स्थानों का निर्देश किया गया है।

विषय :- (१) पात्र (२) धर्म-अधर्म (३) गृहस्थ शरीर सुश्रुषा (४) ड़रना आदि। (५) रात्रि आहार (६) निवेधपिंड़ (७) अहाछ दा (८) दीक्षा (९) साधु-साध्वी निवास (१०) रात्रि में रखना (११) आत्मघात।

प्रश्न-२ : इन विषयों का प्रायश्चित्त किस प्रकार दर्शाया गया है ?

उत्तर- (१) लकड़ी तुम्बा मिट्टी के सिवाय लोहा आदि धातु या पत्थर, दा त, कपड़ा, चमड़ा आदि बिना धातु के किसी भी प्रकार के पात्र तैयार करे, रखे, उपयोग में लेवे। पात्र ब धन भी लोहे आदि के करे। मात्र धागे-ड़ोरे के ब धन कर सकते हैं। दो कोष से आगे पात्र लेने जावे। कारणवश दो कोस से अधिक दूर से सामने लाये पात्र ग्रहण करे। **(२)** धर्म की, धर्म सिद्धा तो की निंदा करे। अधर्म की, अधर्म सिद्धा तो की प्रश सा करे। रात्रि भोजन की प्रश सा, दिवस भोजन की निंदा करे। किसी के सामने उसकी या उसके धर्म की खोटी प्रश सा करे। **(३)** स्वय ड़रे, ड़रावे। विस्मित बने अन्य को विस्मित करे। विविध रूप बनावे इत्यादि कुतुहल वृत्ति करे। **(४)** दो राज्यों में परस्पर विरोध वैमनस्य चलता हो तब इधर से उधर बार बार आवागमन करे। **(५)** दिन में लाया आहार दूसरे दिन या रात्रि में नहीं करे आदि चारों भ ग निषेध समझना। वर्षा आँधी आदि परिस्थिति में रात्रि में रखना पड़ जाय तो उस आहार को यथासमय विवेक से परठ देना। उसे उपयोग में लेवे खावे तो प्रायश्चित्त आता है। जीमणवार बहुत बड़ा हो, दूर

हो उसका आहार लेने अन्यत्र जा कर रात्रि निवास करे। **(६)** नेवेद्य पिंड़(देव-देवी निमित्त का आहार) ग्रहण करे, खावे। क्यों कि उसके देव-देवी के कई नियम-उपनियम होते है अतः नहीं लिया जाता है। **(७)** स्वच्छ दाचारी श्रमण की प्रश सा या व दन व्यवहार करे। **(८)** अयोग्य को या पूर्ण अयोग्य को दीक्षा, बड़ी दीक्षा दे। तथा अयोग्य असमर्थ से सेवा ले, कार्य करावे। **(९)** साधु-साध्वी विना कारण रात्रि में साथ रहे।(अचेल सचेल कोई भी।)**(१०)** चूर्ण, नमक आदि भी रात्रि में बासी रखे। **(११)** आत्मघात करने वालों की प्रश सा अनुमोदना करे।

इन सभी दोष स्थानों का गुरु चौमासी प्रायश्चित्त कहा गया है। उसका जघन्य मध्यम उत्कृष्ट तप रूप में कोई भी योग्य प्रायश्चित्त धारणानुसार बहुश्रुत श्रमण दे सकते है। जिसका स्पष्टीकरण पहले ***प्रश्न-६ से १० तक*** किया गया है। उद्देशक-६ से ११ तक इन ६ उद्देशकों में गुरु चौमासी प्रायश्चित्त योग्य दोषों का कथन है। आगे अब लघु चौमासी प्रायश्चित्त स्थानों का कथन है।

उद्देशक-१२

प्रश्न-१ : इस उद्देशक में कितने सूत्र है उनमें किन-किन विषयों का प्रायश्चित्त कहा गया है ?

उत्तर- इसमें ४४ सूत्रों द्वारा अनेक प्रकार के लघुचौमासी प्रायश्चित्त स्थानों का निर्देश किया गया है। यों १२ वें उद्देशक से १९ वें उद्देशक तक सभी में लघुचौमासी प्रायश्चित्त का ही कथन है।

विषय :- (१) पशु बा धना खोलना (२) प्रत्याख्यान भ ग (३) प्रत्येक काय (४) सरोम चर्म (५) गृहस्थ वस्त्र पात्रादि (६) साध्वी की चादर (७) पृथ्वी आदि की विराधना (८) पूर्व कर्म दोष (९) उदक भाजन (१०) दर्शनीय स्थल (११) प्रथम प्रहर का या दो कोस आहार (१२) गोबर (१३) उपधि (१४) बड़ी नदी।

प्रश्न-२ : इन विषयों का प्रायश्चित्त किस प्रकार दर्शाया है ?

उत्तर- (१) पशुओं को खोलना बाँधना साधु का आचार नहीं है फिर भी अनुक पा जीव रक्षा का प्रस ग उपस्थित हो जाय तो साधु

कारण से ऐसा कर लेवे तो उस गृहस्थ व्यवहार की प्रवृत्ति का मात्र लघुचौमासी प्रायश्चित्त में समावेश होता है। उसका तप भी सर्व जघन्य दिया जाता है। **(२)** भूल से या कमजोरी से तप त्याग के उत्तरगुण प्रत्याख्यान बार बार भ ग हो जाय । **(३)** पृथ्वी, पानी, प्रत्येक वनस्पति सचित्त स युक्त खाने में(भूल से) आ जाय। **(४)** रोम युक्त चर्म कारण से भी उपयोग में लेवे(उसमें जीवोत्पत्ति की ज्यादा स भावना रहती है) **(५)** गृहस्थ का आसन कपड़ा आच्छादित हो वैसे तृण, पीठ, कुर्सी आदि पर बैठे या कहीं खड़ा रहे। **(६)** साधु, गृहस्थ के पास से साध्वी की चद्दर आदि सिलवावे। **(७)** पृथ्वी, पानी, अग्नि आदि पाँच स्थावर की कि चित विराधना या स घटा होवे। सचित्त वृक्ष पर आपत्ति के समय चढ़ना पड़ जाय **(८)** गृहस्थ के बर्तनों में खाना, गृहस्थ के वस्त्रों का उपयोग करना, गृहस्थ के शय्या आसन पर बैठना। कि तु जरूरी होने पर कल्प योग्य की याचना करके उपयोग कर सके। साधु गृहस्थ की चिकित्सा करे। **(९)** पूर्व कर्म दोष लगावे अर्थात् वोहराने के पहले गृहस्थ हाथ आदि धोवे। पानी लेने पीने का मुख्य बर्तन हो उससे आहार पानी ले। क्यों कि बाद मे उसे पानी में ड़ालेगा उसमें पानी भरेगा तो विराधना लगती है। **(१०)** गाँव नगरों के अनेक प्रकार के दर्शनीय स्थलों को देखने जावे लोक प्रवाह मात्र से। और भी अनेक मनोज्ञ रूपों में आसक्ति रखे। **(११)** प्रथम प्रहर में (सुबह) लाया आहार चौथा प्रहर में(शाम को) रखे या उपयोग में लेवे, खावे-पीवे। दो कोस की मर्यादा से आगे विहार में आहार पानी ले जावे, खावे-पीवे। **(१२)** औषध रूप में गोबर दिन में लेकर दिन में शाम तक लगाया जा सकता है कि तु रात्रि में लगावे या ग्रहण करे **(१३)** गृहस्थ से विहार आदि में अपना सामान उठवावे तथा उस निमित्त से मेहनताना, आहार देवे, दिलावे। **(१४)** बड़ी नदिया जैसे ग गा सि धु आदि महिने में एक बार से अधिक उतर कर पाँव से चलकर या तैर कर अथवा नावा आदि से पार करे।

इन सभी दोष स्थानों का लघु चौमासी प्रायश्चित्त कहा गया है । जिसके उपवास आदि तप जघन्य मध्यम उत्कृष्ट प्रस गानुसार बहुश्रुत-गीतार्थ प्रायश्चित्त के अनुभवी श्रमण दे सकते हैं। इस स ब ध का स्पष्टीकरण पहले ***(प्रश्न-६ से १० तक में कर दिया गया है।)***

उद्देशक-१३

प्रश्न-१ : इस उद्देशक में कितने सूत्र है और उनमें किन-किन विषयों का प्रायश्चित्त कहा गया है ?

उत्तर- इस उद्देशक में ७८ सूत्रों द्वारा लघुचौमासी प्रायश्चित्त स्थानों का दोषों का निर्देश किया गया है।

विषय :- (१) पृथ्वी आदि (२) भींत आदि (३) गृहस्थ को शिल्पकला आदि (४) गृहस्थ की आशातना (५) निमित्त, विद्या, म त्र (६) गृहस्थ को मार्ग-धातु आदि। (७) खुद का प्रतिबि ब (८) स्वस्थ होते हुए औषध (९) पासत्थादि को व दन या उनकी प्रश सा (१०) उत्पादना के गोचरी दोष।

प्रश्न-२ : इन विषयों का प्रायश्चित्त किस प्रकार दर्शाया गया है ?

उत्तर- (१) सचित्त पृथ्वी के निकट, जल से स्निग्ध भूमि पर, सचित्त रजयुक्त पृथ्वी पर, सचित्त मिट्टी युक्त पृथ्वी पर, सचित्त पृथ्वी पर सचित्त शिला या पत्थर पर तथा जीव युक्त काष्ठ पर या भूमि पर खड़ा रहे, बैठे, सोवे आदि। **(२)** भींत, पाल आदि से अनावृत्त खुले छत वाले स्थानों पर जहाँ से गिरने वगैरह का खतरा रहता है ऐसे ऊँचे स्थानों पर खड़ा रहे, बैठे, सोवे आदि। **(३)** गृहस्थ को शिल्प आदि लौकिक कार्य सिखावे। गृहस्थ का कौतक कर्म, भूति कर्म (राखड़ी धागा आदि) करे। गृहस्थ से कौतुक प्रश्न करे, उत्तर दे । **(४)** गृहस्थ को सरोष वचन, रूक्ष वचन या उभय वचन कहे। किसी भी प्रकार से गृहस्थ की आशातना, अवहेलना, निंदा आदि द्वारा आशातना करे। **(५)** भूतकाल स ब धी निमित्त ज्ञान बतावे। लक्षण, व्य जन, स्वप्न का फल बतावे । विद्या, म त्र, योग का प्रयोग बतावे। **(६)** गृहस्थ को मार्ग आदि की जानकारी दे, बतावे। (गृहस्थ रस्ता भूल जाय, गलत रास्ते पर चला जावे, अपनी गल्ती से तो साधु पर रोष करे। अतः ऐसी फिजूल बातों से उपेक्षा रखे।) गृहस्थ को धातु, निधि-खजाना आदि बतावे(लाभ होवे तो पाप करेगा, नहीं होगा तो साधु पर रोष करेगा) **(७)** अपना प्रतिबि ब काच में या अन्य भी किसी भी पदार्थ में दिखे तो उसे देखे। सहसा दिख जाय

तो तुर त उपेक्षा कर दे, उसमें चित न लगावे। **(८)** स्वस्थ होते हुए भी पौष्टिकता आदि किसी चक्कर में आकार औषध-उपचार, वमन-विरेचन आदि करे। **(९)** शिथिलाचारी पासत्था आदि ९ तरह के कहे है उनको व दन करे, प्रश सा करे(खुद पूर्ण शुद्धाचारी हो तो। यदि खुद भी उन ९ में से किसी गिनती में आते हो यह उनकी परिभाषा से अपनी आत्म साक्षी पूर्वक समझने का प्रयत्न करे)। इसके लिये स्व-निरीक्षण परीक्षण सत्य शोध के लिये सारा श पुष्प १३ का अध्ययन जरूर करना चाहिये। **(१०)** गोचरी के ४२ दोष में से उत्पादना के दोष **''धाई दूई निमित्ते''** आदि लगावे।

इन दोष स्थानों का सेवन करने पर या हो जाने पर लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है। जिसका तप रूप में जघन्य मध्यम उत्कृष्ट यथाप्रस ग बहुश्रुत अनुभवी श्रमण प्रायश्चित्त दे सकते हैं। जिसका स्पष्टीकरण पहले कियु जा चुका है। ***देखे प्रश्न-६ से १० तक।***

❋ उद्देशक-१४ ❋

प्रश्न-१ : इस उद्देशक में कितने सूत्र है और उनमें किस विषय का प्रायश्चित्त कहा है ?

उत्तर- इसमें ४१ सूत्रों के द्वारा पात्र विषयक लघुचौमासिक प्रायश्चित्त स्थानों का निर्देश किया गया है। यों केवल एक ही विषय से यह उद्देशक पूर्ण होता है।

प्रश्न-२ : पात्र विषयक प्रायश्चित्त किस प्रकार कहे गये है ?

उत्तर- (१) पात्र खरीद कर लाया हुआ लेना। ऐसे ही उधार, बदला बदली, जबरन, अनेक मालिक मे से किसी की बिना आज्ञा का तथा सामने लाया पात्र लेना। **(२)** आचार्य या बहुश्रुत-गुरु की आज्ञा बिना किसी को अतिरिक्त(ज्यादा) पात्र देना। अविकला ग स्वस्थ को विशेष पात्र की छूट देना। विकला ग असमर्थ वगैरह को छूट न देना। **(३)** पात्र उपयोग में न आवे जैसा हो तो भी मोह से रखना। उपयोग में आवे जैसा हो तो भी छोड़कर नया ले लेना। सु दर को खराब करना, खराब को सु दर आकर्षक बनाना। **(४)** पुराने या दुर्गंध युक्त पात्र को बार बार धोना, लेप लगाना, अनेक दिन पानी भर कर रखना।

अर्थात् सीधा उपयोग में आवे वैसा ही लेना चाहिये, जहाँ तक स भव हो। अन्यथा परिकर्म का लघुचौमासी प्रायश्चित्त समझकर करना। **(५)** पात्र को सुखाने के लिये सचित्त स्थानों पर या ऊँचे खतरे के स्थानों पर रखना। **(६)** पात्र की गवेषणा सही करना उसमें कोई भी सचित्त पदार्थ पड़े होवे, निकाल कर दे, वैसा लेने पर प्रायश्चित्त समझना। **(७)** पात्र में कोरणी चित्र आदि करना या वैसा आकर्षक लेना। **(८)** स्थान परिषद का विचार किये बिना हर किसी से पात्र की याचना जहाँ कहीं भी करना। अर्थात् अपने घर में रहे गृहस्थ से विवेकपूर्वक याचना करना चाहिये। **(९)** पात्र के लिये प्रतिज्ञाबद्ध नहीं होना कि कोई कहे यहाँ चौमासा करो शेष काल रहो तो पात्र देऊँगा।

इन दोषों का लघुचौमासी प्रायश्चित्त कहा गया है। तप की अपेक्षा जघन्य मध्यम उत्कृष्ट यथा प्रस ग बहुश्रुत अनुभवी श्रमण दे सकते हैं। जिसका स्पष्टीकरण प्रश्न-६ से १० तक पहले कर दिया गया है।

❋ उद्देशक-१५ ❋

प्रश्न-१ : इस उद्देशक में कितने सूत्र है और उनमें किन विषयों का प्रायश्चित्त कहा गया है ?

उत्तर- इसमें १५४ सूत्रों के द्वारा लघुचौमासी प्रायश्चित्त स्थानों का दोषों का निर्देश किया गया है। ***[यहाँ दी गई सूत्र स ख्या के लिये देखें- ब्यावर से प्रकाशित युवाचार्य मधुकर मुनिजी स पादित आगम बत्तीसी। राजकोट गुरुप्राण फाउन्ड़ेशन से प्रकाशित आगम बत्तीसी। आगम सारा श की हिंदी-गुजराती की बत्तीसी]***

[अन्य प्रकाशनों से सूत्र स ख्या नहीं मिले तो हैरान-परेशान नही होवें। निर्णय करने के लिये निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका आदि देखें अथवा मधुकर मुनि स पादित, ब्यावर से प्रकाशित का विवेचन पढ़कर समझने का प्रयत्न करे।]

विषय :- (१) सामान्य साधु-साध्वी (२) आम्र फल (३) गृहस्थ से सेवा (४) पाँचवीं समिति (५) आहार लेनदेन (६) वस्त्र (७) विभूषावृत्ति।

प्रश्न-२ : इन विषयों का प्रायश्चित्त किस प्रकार दर्शाया गया है ?

उत्तर- **(१)** किसी भी साधु-साध्वी को आवेश में कठोर वचन बोले, चुभने वाले रुक्ष वचन बोले, उभय युक्त वचन बोले या अन्य भी कोई भी प्रकार की आशातना करे तो प्रायश्चित्त आता है। वड़ील की आशातना का गुरुचौमासी प्रायश्चित्त दसवें उद्देशक में कहा है। यहाँ सामान्य साधु-साध्वी का प्रस ग है। तेरहवें उद्देशक में गृहस्थ के साथ आशातना वचन आदि व्यवहार का प्रायश्चित्त कहा गया है।

यों सब मिलाकर श्रमण को किसी की भी आशातना तिरस्कार अवहेलना अनादर जैसा व्यवहार करना योग्य नही होता है। क्यों कि जगत पूज्य प च परमेष्ठी म त्र में उसे बहुत बड़ा स्थान मिला हुआ है। फिर भी छद्मस्थ प्राणी भूल का पात्र तो है ही। उसे सरलता के साथ इस आगम ज्ञान को, प्रायश्चित्त स्थान को याद करके शुद्धि करना आलोचना प्रायश्चित्त पश्चात्ताप करना एव आगे ऐसा फिर न हो उसका स स्कार आत्मा में पक्का करना चाहिये। जो श्रमण आदि भूल करके भी उसे कभी अपनी भूल समझे ही नहीं, शुद्धि सरलता करे ही नहीं, पश्चात्ताप खेद करे ही नहीं। मैं सब कुछ अच्छा ही करता हूँ ऐसे घम ड़ में रहे वह दूसरों को क्या, अपनी आत्मा के साथ धोखा करता है। कितना भी घम ड़ में रहे सरलता शुद्धि पश्चाताप बिना वह खुद अ धकूप में पड़ता है और अन्यों को भी अ धकार में रखता है। जिन शासन में सरलता नम्रता का महत्त्व अन्य सभी गुणों से बढ़कर होता है क्यों कि नम्रता = विनय तो धर्म का मूल कहा गया है। और सरलता बिना धर्म ही आत्मा में नहीं टिकता है।

॥ उत्तरा अध्यय-५ ॥ **(२)** सचित्त आम्र फल या सचित्त टुकड़े अथवा सचित्त गुठली मिश्र रस वगैरह ग्रहण करे। पूर्ण अचित्त परिपक्व या उबाले टुकड़े लिये जा सकते हैं। **(३)** शरीर परिकर्म के ५४ सूत्र के कार्य यहाँ गृहस्थ से करवावे। **(४)** अकल्पनीय अनेक स्थानों में मलमूत्र परठे। **(५)** गृहस्थ को और शिथिलाचारी को आहार देवे लेवे। वस्त्रादि उपकरण देवे लेवे। **(६)** वस्त्र ग्रहण करने में एषणा दोषों की सभी की पूर्ण गवेषणा करना। न करे तो प्रायश्चित्त आता है। **(७)** विभूषा-वृत्ति से अच्छा दिखने के लिये, शरीर परिकर्म के ५४ सूत्र के कार्य करे एवं ५५-५६ वाँ विभूषावृत्ति से वस्त्रादि रखे तथा धोवे।

इन दोष स्थानो का सेवन करने पर लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है। जिसे तप रूप में जघन्य उत्कृष्ट यथायोग्य बहुश्रुत श्रमण दे सकते हैं। जिसका स्पष्टीकरण ***प्रश्न-६ से १० तक*** किया है ।

उद्देशक-१६

प्रश्न-१ : इस उद्देशक में सूत्र कितने है और उसमें किन-किन विषयों का स्पष्टीकरण किया गया है ?

उत्तर- इस में ५० सूत्रों के द्वारा लघुचौमासी प्रायश्चित्त स्थानों का निर्देश किया गया है।

विषय :- (१) शय्या (२) इक्षु (३) अरण्य आहार (४) चारित्र गुण (५) कदाग्रही (३) अनार्य क्षेत्र (७) घृणित कुल (८) आहार रखना (९) गृहस्थ के साथ (१०) आचार्यादि का असन्मान (११) उपधि (१२) परिष्ठापन।

प्रश्न-२ : इन विषयों का प्रायश्चित्त किस प्रकार दर्शाया है ?

उत्तर- **(१)** गृहस्थ युक्त, सचित जल युक्त, सचित अग्नि युक्त शय्या में रहे। **(२)** सचित इक्षु इक्षुख ड़ खाये अथवा चूँसे। **(३)** अरण्य वन अटवी में जाने वालों से मार्ग में आहार ले(फिर उन्हें सचित्त फलादि खाना पड़े)। **(४)** चारित्र अस पन्न को चारित्रवान कहे। चारित्रवान को चारित्रगुण रहित कहे या अल्प को विशेष एव विशेष गुणवान को अल्प गुणवान कहे। चारित्र स पन्न गण से अल्पचारित्र वाले गण में जावे। **(५)** कदाग्रह विवाद में पड़े और अलग हुए भिक्षुओं के साथ रहना, आहार, वस्त्र, मकान, स्वाध्याय आदि कोई व्यवहार करे। **(६)** सुखपूर्वक विचरने योग्य क्षेत्र होते हुए भी अनार्य क्षेत्रों में या विकट क्षेत्रों में जावे। **(७)** लोक में जुगुप्सित कुल(अछूत) माने जाने का रिवाज हो तो उन कुलों से गोचरी आदि का व्यवहार रखे। (मात्र धर्मोपदेश दे सके) अन्य व्यवहार स्वच्छ दता पूर्वक नहीं रखे। **(८)** खाद्य पदार्थ भूमि पर, शरीर पर, बिछाने आसन पर या छींके आदि ऊँचे स्थान पर रखे। **(९)** गृहस्थों के साथ-पास बैठकर या गृहस्थ देखे वैसे बैठकर आहार करे। **(१०)** आचार्य गुरु वड़ील के आसन पर(या कोई भी उपकरण को) पाँव लग जाय तो पुनः उसे ठीक कर,

विनय भाव या खेद रखे बिना यों ही चल देवे। अर्थात् कुछ भी लघुता दर्शक व्यवहार करना चाहिये। आजकल की भाषा में इसे 'सोरी प्लीझ' कहना समझ सकते हैं। (११) आगमोक्त मर्यादा से या माप से अधिक कोई भी उपकरण आदि रखे। आगम में मर्यादा स्पष्ट न हो तो गुरु आज्ञा धारणा अनुसार करे। (१२) सचित पृथ्वी, स्निग्ध पृथ्वी आदि विराधना वाले या अयोग्य स्थानों में मल-मूत्र परठे।

इन दोष स्थानों का सेवन करने पर लघुचौमासी प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है जिसका तप रूप प्रायश्चित्त जघन्य मध्यम या उत्कृष्ट यथायोग्य बहुश्रुत श्रमण दे सकते है अथवा निश्चित्त की गई धारणा समाचारी अनुसार ले सकते हैं। जिसका स्पष्टीकरण ***प्रश्न-६ से १० तक*** में कर दिया गया है।

❋ उद्देशक-१७ ❋

प्रश्न-१ : इस उद्देशक में कितने सूत्र हैं और उनमें किन-किन विषयों का प्रायश्चित्त कहा गया है ?

उत्तर- इसमें ११५ सूत्रों द्वारा अनेक दोषों का लघुचौमासी प्रायश्चित्त दर्शाया गया है।

विषय :- (१) कुतुहल (२) साधु-साध्वी परस्पर व्यवहार (३) गोचरी (४) आचार्य गुण (५) गाना बजाना, शब्द श्रवण आसक्ति।

प्रश्न-२ : इन विषयों का प्रायश्चित्त किस प्रकार दर्शाया गया है ?

उत्तर- (१) कुतुहलवश निष्प्रयोजन पशु आदि को खोले बाँधे। वैसे ही कुतुहल या लोक प्रवाह लौकिक रूचि से विविध प्रकार की मालाएँ (अचित्त), कड़े (हाथ में), आभूषण तथा वस्त्रादि बनावे, रखे, पहने। **(२)** साधु-साध्वी एक दूसरे के शरीर परिकर्म के ५४ बोल(तीसरे उद्देशक मे कहे गये है वे) गृहस्थ से करवावे। साधु अपने स्वधर्मी समान साधुओं को मकान शय्या स स्तारक होते हुए भी नहीं दे। वैसे ही साध्वी भी अपने समान साध्वी स्वधर्मी को स्थान शय्या-स स्तारक न दे। **(३)** गोचरी में गृहस्थ ऊँचे या नीचे अथवा तिरछे कहीं से भी बहुत मुश्किल से झुक कर, महा मेहनत से कुछ दे तो उसे मना कर देना चाहिये क्यों कि

लग जाने, गिरने, तकलीफ होने का इसमें खतरा रहता है। ऐसे समय में साधु कुछ नहीं बोले, मना नहीं करे तो यह दोष है। लेप लगे या सीलबंध बर्तन खोलकर दे तो विराधना आदि शक्यता होने पर न लें। सहज खोला जावे तो ले सके। इसी प्रकार पृथ्वी के स घट्टे का आहार ले। पँखे आदि से ठ ड़ा करके दे तो लेवे, तत्काल का बना हुआ धोवण बना लेवे, तत्काल का शर्बत वगैरह कच्चे पानी से बना हो वह लेवे। **(४)** अपने शरीर में कोई विशिष्ट लक्षण हो तो उसका विवेक बिना कथन करे कि मेरे ये आचार्य पद के लक्षण है। **(५)** गाना, बजाना, हँसना, नृत्य करना, नाटक करना या कराना यह स यम का आचार नहीं है ऐसा करे करावे। हाथी-घोड़ेसि ह गर्जन आदि जैसी जानवरों की आवाजे(एक्टि ग) करे(ये सब स यम मोक्ष आराधना मार्ग के अयोग्य कुतुहल, लोक र जन की प्रवृत्तियें साधु को योग्य नहीं है। उसकी मुख्य प्रवृत्ति स्वाध्याय, ध्यान मूलक होती है। **(६)** तत, वितत, घन, झुसिर आदि वाद्यों को सुनने जावे या अन्य भी अनेक प्रकार की आवाजें, अनेक शब्द स्थलों को देखने सुनने जावे, कर्णप्रियता आसक्ति की प्रवृत्तियों में रस लेवे।

इस सभी दोषो का स यम अयोग्य प्रवृत्तियों का लघुचौमासी प्रायश्चित्त कहा गया है। जिसका तप रूप में जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट यथायोग्य प्रायश्चित्त लेकर शुद्धि कर लेनी चाहिये एव पुनः ऐसी प्रवृत्तियें नही करनी, छोड़ देनी चाहिये।

❋ उद्देशक-१८ ❋

प्रश्न-१ : इस उद्देशक में कितने सूत्र है और उनमें किस विषय का प्रायश्चित्त कहा गया है ?

उत्तर- इसमें नौका विहार एव वस्त्र स ब धी लघुचौमासी प्रायश्चित्त स्थानों का कथन ३२ + ४१ = ७३ सूत्रों द्वारा किया गया है।

प्रश्न-२ : इन दोनों विषयों में किस-किस प्रकार प्रायश्चित्त दर्शाया गया है ?

उत्तर- (१) अत्यावश्यक प्रयोजन के बिना नौका विहार करे या अन्य वाहन विहार करे। क्रीत आदि दोष युक्त नौका या वाहन पर

चढ़े। अपने लिये नौका में कुछ भी क्रिया करना पड़े, म गाना पड़े, अनुश्रोत या प्रतिश्रोत में चलने वाली नौका में बेठे, आधा योजन से अधिक दूर जाना पड़े ऐसी नावा में बैठे। तात्पर्य यह है कि अत्य त जरूरी होने पर स्वतः जा रही नावा में और कम दूरी में पार कराने वाली नावा में जाने पर प्रायश्चित्त नहीं आते। **(२)** नौका में बैठने के बाद नौका चालक को मदद या नौका स ब धी कोई कार्य या स कल्प करे। नौका विहार के दौरान आहार ग्रहण करे। तात्पर्य यह है कि नौका चढ़ने से पहले ही आहार पानी का त्याग कर देवे एव नौका में ध्यान मुद्रा में जैसा मौन पूर्वक बैठे इधर-उधर देखना करना आदि कुछ भी करे नहीं।

सेवा या कल्प मर्यादा अथवा आपातकालीन परिस्थिति में ऐसा करना पड़ सकता है। मूलपाठ में नौका स ब धी सभी सूत्र है अन्यवाहन इसी तात्पर्य से समझे जाते है। कुल ३२ सूत्र में ये विधि निषेध प्रायश्चित्त कथन हैं।

(३) वस्त्र स ब धी दोष सेवन का १४ वें उद्देशक के पात्र के समान सभी सूत्र में कहे प्रायश्चित्त यहाँ भी समझ लेना अर्थात् वहाँ ४१ सूत्र कहे है वे सभी यहाँ भी समझना पात्र के स्थान पर वस्त्र शब्द समझ लेना।

इन दोनों विषय के दोषों का लघुचौमासी प्रायश्चित्त कहा गया है। जिसका तप रूप जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट प्रायश्चित्त यथायोग्य पूर्व स्पष्टीकरण अनुसार समझ लेना। नौका स ब धी जल विराधना आदि का प्रायश्चित्त अलग से समझ लेना। सकारण बहुश्रुत के आज्ञा निर्देश से जाने पर तथा ऊपर ३२ सूत्र में कहे दोष नहीं लगाने पर मात्र नौका विहार का प्रायश्चित्त नहीं आता कि तु जल विराधना आदि अन्य प्रायश्चित्त लेना होता है।

❋ उद्देशक-१९ ❋

प्रश्न-१ : इस उद्देशक में कितने सूत्र है और उनमें किन-किन विषयों के प्रायश्चित्त कहे हैं ?

उत्तर- इसमें ३५ सूत्रों के द्वारा लघुचौमासी प्रायश्चित्त स्थानों-दोषों

का निर्देश किया गया है। जिसमें औषध और स्वाध्याय दो ही विषयों का निरूपण है।

प्रश्न-२ : इन दोनों विषयों के प्रायश्चित्त किस प्रकार दर्शाये गये है ?

उत्तर- (१) औषध के लिये क्रीत आदि दोष लगावे। तीन खुराक से (मात्रा) अधिक लावे, विहार में रखे, तथा औषध स ब धी कूटना, पीसना, छानना, धोना, भीगोना आदि प्रवृत्ति करनी पड़े तो उसका प्रायश्चित्त आता है। **(२)** चार स ध्या समय में अस्वाध्याय काल होता है उस समय मूल पाठ की स्वाध्याय करे। कालिक सूत्र की पहले चौथे प्रहर में स्वाध्याय की जाती है अन्य प्रहर में उसकी ९ गाथा का उच्चारण जरूरी होने पर या क ठस्थ करने के लिये किया जा सकता है। अतः ९ से ज्यादा का उच्चारण करने पर यहाँ प्रायश्चित्त कहा है। चार महामहोत्सव और ४ प्रतिपदा में स्वाध्याय करे। स्वाध्याय के समय स्वाध्याय न करे प्रमाद में समय व्यतीत करे। अर्थात् दिन-रात के पहले व अंतिम प्रहर में कुछ स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये।

अशुचि, सूर्यग्रहण आदि कोई भी ३२ अस्वाध्याय का ध्यान रखे बिना स्वाध्याय करे। स्व शरीर की अस्वाध्याय में स्वाध्याय करे। (इसमें परस्पर वाचना की विधि अनुसार छूट होती है)

सूत्रों की वाचना देने का जो क्रम व्यवहार सूत्र में कहा है उस क्रम से वाचना न देवे। सर्व प्रथम आचारा ग निशीथ की वाचना देना जरूरी है उसके दिये बिना अन्य कोई भी वाचना देवे। अविनीत अपात्र को वाचना के पूर्व स स्कारित करना होता है ऐसा न करके वाचना देना शरू कर देवे। विनीत योग्य को यथासमय वाचना नहीं देवे। १६ वर्ष की उम्र के पहले अन्य ज्ञान स स्कार देना। सूत्र वाचना क्रम १६ वर्ष की उम्र के बाद प्रार भ करना होता है। अर्थात् व्यवहार सूत्रोक्त वाचना क्रम आचारा ग निशीथ का समझना उसके पहले थोकड़े, स यम विधि, वैराग्य, स स्कार, उपदेशी शास्त्र भाषा ज्ञान, व्यवहार ज्ञान आदि भी आवश्यक होता है।

समान योग्यता वालों को ज्ञान देने में पक्षपात करे, एक को दे एक को न देवे इत्यादि। मिथ्यात्व भावित या अन्यमती को वाचना देवे या उनसे लेवे। यहाँ श्रद्धावान श्रावक गृहस्थ का नहीं समझना

चाहिये। स यम में शिथिल प्रवृत्ति वाले अपात्र को वाचना दे या उनसे लेवे। ये वाचना दाता आचार्य उपाध्याय गुरु आदि से स ब धित प्रायश्चित्त कहे हैं।

गुरु आदि के दिये बिना या आज्ञा बिना स्वतः वाचना लेवे उसे भी प्रायश्चित्त कहा है।

स गति का कुप्रभाव रोकने अथवा शास्त्र का दुरूपयोग रोकने हेतु से अन्यमती गृहस्थ और शिथिलाचारी को वाचणी देना या लेना निषिद्ध समझना चाहिये। यदि बहुश्रुत गीतार्थ श्रमण को लाभ का कारण जान पड़े तो वे अपने निर्णय से यथासमय पात्र को देखकर योग्य कर सकते है ऐसा तात्पर्यार्थ से समझा जा सकता है। कि तु उसकी नकल हर कोई स्वछ दता से नहीं कर सकता है।

उपरोक्त सभी दोष स्थानों का लघुचौमासी प्रायश्चित्त कहा गया है। उसका तपरुप में जघन्य, मध्यम उत्कृष्ट यथायोग्य धारणा अनुभव समाचारी अनुसार बहुश्रुत श्रमण प्रायश्चित्त दे सकते हैं जिसका स्पष्टीकरण ***प्रश्न-६ से १० तक*** पहले किया जा चुका है।

यहाँ तक उद्देशक-१२ से १९ तक में लघुचौमासी प्रायश्चित्त के विविध प्रायश्चित्त कहे गये हैं। यहाँ प्रायश्चित्त स्थान रूप दोषों का स कलन निर्देश पूर्ण हो जाता है।

❋ उद्देशक-२० ❋

प्रश्न-१ : इस उद्देशक में कितने सूत्र हैं और उनमें प्रायश्चित्त स ब धी वर्णन किस प्रकार है ?

उत्तर- इसमें ५१ सूत्र है उनमें दोष स्थानों का कथन नहीं है कि तु (१) आलोचना प्रायश्चित्त स ब धी, (२) प्रायश्चित्त आरोपणा स ब धी अर्थात् प्रायश्चित्त वहन करने स ब धी तथा (३) उसमें पुनः नये प्रायश्चित्त की स्थापना एव (४) प्रस्थापना का वर्णन है। यों चार मुख्य विषय निरूपण किये गये हक्त।

प्रश्न-२ : आलोचना स ब धी क्या निरूपण है ?

उत्तर- यहाँ पूर्व उद्देशों में एक मास के दोष से लेकर चार मास तक

तथा नवीन में साधिक मास आदि एव प चमास छमास के भी कोई प्रायश्चित्त स्थान बने हो उनकी साधक गुरु आदि के पास आलोचना करके प्रायश्चित्त ग्रहण करता है।

ये दोष स्थान एक बार के हों या अनेक बार के हों, उनकी आलोचना सरलता पूर्वक एक साथ की जाय तो उतना ही प्रायश्चित्त स्थान रहता है और तत्स ब धी तप का प्रमाण गुरु आदि देते हैं। आलोचना करने में कुछ छिपाना-कपट आदि हो तो विशेष ज्ञानी जान लेते है और सामान्य ज्ञानी बहुश्रुत बुद्धिबल से दो तीन बार पूछ सुनकर जान सकते है। कपट ज्ञात होने पर एक मास गुरु का प्रायश्चित्त अधिक आता है तत्स ब धी तप वगैरह अधिक दिये जाते हैं।

प्रश्न-३ : आरोपणा स ब धी क्या निरूपण है ?

उत्तर- कोई भी प्रायश्चित्त वहन कराया जाता है अर्थात् उसका तप प्रार भ किया जाता है, वह आरोपण कहलाता है। उस तप के चलते भी कोई दोष लगे आलोचना करे उसके प्रायश्चित्त की भी उसी में आरोपणा हो जाती है। उस दोष स ब ध में और आलोचना स ब ध में कुछ विकल्प होते हैं उन्हें दो चौभ गी द्वारा स्पष्ट किया गया है।

प्रथम चौभ गी :- (१) पहले लगे दोषों की पीछे आलोचना करे (२) पीछे लगे की पहले आलोचना करे। (३) पहले लगे की पहले (४) पीछे दोष लगे की पीछे आलोचना करे अर्थात् लगे दोषों की क्रम से या उत्क्रम से किसी भी तरह आलोचना करे। गुरु योग्य भाव समझकर नया तप आरोपित कर देते है।

दूसरी चौभ गी :- (१) कपट रहित आलोचना का स कल्प हो फिर वैसे ही आलोचना करे (२) या फिर कपट सहित आलोचना करे। (३) कपट सहित आलोचना करने का पहले स कल्प हो फिर वैसा ही करे या (४) विचार बदल जाने से कपट रहित आलोचना करे। आलोचना सुनने वाला किसी भी विकल्प को सुनकर उसका तप प्रायश्चित्त पूर्वतप जो चालू है इसमें आरोपणा कर देता है।

प्रश्न-४ : तप वहन चालू प्रायश्चित्त में स्थापना और प्रस्थापना आरोपणा दो क्या है ?

उत्तर- तप प्रस्थापना-वहन में नये दोष के तप को जोड़ना इसके दो

प्रकार है- (१) तप प्रायश्चित्त देकर उसे अलग रोक कर रख देना **स्थापना** है। (२) तप प्रायश्चित्त देकर पुराने चालु तप में वे नये तप के दिन भी जोड़ कर स लग्न चालू रखना **प्रस्थापना** है। तात्पर्य यह है कि चलते तप में नये आनेवाले तप प्रायश्चित्त को स्टोक में रोक कर रखना और पुराना वहन जो चल रहा है वह समाप्त होने पर उसकी क्षमता हो तो फिर स लग्न वहन कराना या कुछ दिन छोड़कर वहन कराना इसे स्थापना आरोपणा समझना। (२) क्षमता होने पर और पुराना वहन तप ज्यादा नहीं हो तो उसी समय उसके साथ नया तप प्रायश्चित्त दिन भी जोड़कर चालू कर पूरा करा देना यह प्रस्थापना आरोपणा है।

प्रश्न-५ : नये प्राश्चित्त में कुछ छूट होती है क्या ?

उत्तर- सानुग्रह और निरनुग्रह ऐसे दो भेद से छूट और बिना छूट का प्रायश्चित्त होता है। इसमें एक मास स्थान के १५ दिन सानुग्रह तप चढ़ाया जाता है। दो मास स्थान के २० दिन सानुग्रह चढ़ाये जाते हैं। अर्थात् १५ दिन की एव ४० दिन की छूट हुई समझना। वह छूट कपट रहित आलोचना में होती है और कपट सहित में इन १५ दिन के साथ १ मास कपट का बढ़ा दिया जाता है। उसे निरनुग्रह कहा गया है। वैसे ही दो मास स्थान का २० दिन २ मास निरनुग्रह तप चढ़ाया जाता है।

प्रश्न-६ : यह तप कितने तक चढ़ाया जा सकता है ?

उत्तर- एक साथ बढ़ते बढ़ते छ मास तक तप वहन कराया जाय जितना बढ़ाया जा सकता है। एकबार ६ महीने लगातार हो जाने के बाद कुछ दिन छोड़कर पारणा करवा कर फिर कभी भी पुनः चालु किया जा सकता है। छ मास वहन काल उत्कृष्ट समझना। उसके बाद एक बार पूर्ण कर दिया जाता है, फिर कभी भी क्षमता हो तो तुर त या देर से वहन कराया जाता है।

वहन चालू प्रायश्चित्त तप में कपट रहित का सानुग्रह तप दिया जाता है यह खास ध्यान रखना चाहिये। उसमें १ महिना = १५ दिन। २ महिना = २० दिन। यों पाँच-पाँच दिन एक-एक महिने के दोष के बढ़ाये जाते है शेष दिन अनुग्रह-छूट में जाता है।

प्रायश्चित्त वहन काल में पुनः पुनः मासिक की भी आरोपणा हो सकती है। पुनः पुनः दो मासिक भी आरोपणा हो सकती है। तथा दोनों संयुक्त भी आरोपणा हो सकती है। पर तु अ त में ६ महीने होने पर आरोपणा एक बार ब द होती है फिर नये सिरे से कभी भी प्रार भ हो सकती है।

इस प्रकार ५१ सूत्र में आलोचना प्रायश्चित्त आरोपणा, प्रस्थापना और स्थापना और उत्कृष्ट ६ मास वहन कुल मिलाकर होना समझाया गया है।

❋ ❋ निशीथ सूत्र स ब धी परिशिष्ट ❋ ❋

परिशिष्ट-१

उत्सर्ग और अपवाद का हार्द :- उत्सर्ग और अपवाद दोनों का लक्ष्य है- जीवन की शुद्धि, आध्यात्मिक विकास, स यम की सुरक्षा, ज्ञानादि सद्गुणों की वृद्धि।

जैसे राजपथ पर चलने वाला पथिक यदा कदा विशेष बाधा उपस्थित होने पर राजमार्ग का परित्याग कर पास की पगड़ ड़ी पकड़ लेता है और कुछ दूर जाने के बाद किसी प्रकार की बाधा दिखाई न दे तो पुनः राजमार्ग पर लौट आता है। यही बात उत्सर्ग से अपवाद में जाने और अपवाद से उत्सर्ग में आने के स ब ध में समझ लेनी चाहिए दोनों का लक्ष्य प्रगति है। अतः दोनों ही मार्ग हैं, कुमार्ग या उन्मार्ग नहीं है। दोनों के समन्वय से साधक की साधना समृद्ध होती है।

प्रश्न- उत्सर्ग और अपवाद कब और कब तक ?

प्रश्न वस्तुतः महत्त्व का है। उत्सर्ग साधना की सामान्य विधि है। अतः उस पर साधक को सतत चलना होता है। उत्सर्ग छोड़ा सकता है किन्तु अकारण नहीं। किसी विशेष परिस्थितिवश ही उत्सर्ग का परित्याग कर अपवाद अपनाया जाता है, पर सदा के लिये नहीं। जो साधक अकारण उत्सर्ग मार्ग का परित्याग कर देता है अथवा सामान्य कारण उपस्थित होने पर उसे छोड़ देता है, वह साधक सच्चा नहीं है वह जिनाज्ञा का आराधक नहीं अपितु विराधक है।

जो व्यक्ति अकारण औषध सेवन करता है अथवा रोग न होने पर भी रोगी होने का अभिनय करता है वह धूर्त है कर्तव्यविमुख है।

ऐसे व्यक्ति स्वय पथभ्रष्ट होकर समाज को भी कल कित करते हैं। यही दशा उन साधकों की है जो साधारण कारण से उत्सर्ग मार्ग का परित्याग कर देते हैं या अकारण ही अपवाद का सेवन करते रहते हैं, कारणवश एक बार अपवाद सेवन के बाद, कारण समाप्त होने पर भी अपवाद का सतत सेवन करते रहते हैं। ऐसे साधक स्वय पथभ्रष्ट होकर समाज में भी एक अनुचित्त उदाहरण उपस्थित करते हैं। ऐसे साधकों का कोई सिद्धा त नहीं होता है और न उनके उत्सर्ग अपवाद की कोई सीमा होती है। वे अपनी वासनापूर्ति के लिए या दुर्बलता छिपाने के लिए विहित अपवाद मार्ग को बदनाम करते हैं।

अपवाद मार्ग भी एक विशेष मार्ग है। वह भी साधक को मोक्ष की ओर ही ले जाता है, स सार की ओर नहीं। जिस प्रकार उत्सर्ग स यम मार्ग है उसी प्रकार अपवाद भी स यम मार्ग है। किन्तु वह अपवाद वस्तुतः अपवाद होना चाहिये। अपवाद के पवित्र वेश में कहीं भोगाका क्षा या कषाय वृत्ति चकमा न दे जाय, इसके लिये साधक को सतत सजग, जागरूक एव सचेष्ट रहने की आवश्यकता है।

साधक के सन्मुख वस्तुतः कोई विकट परिस्थिति हो, दूसरा कोई सरल मार्ग सूझ ही न पड़ता हो, फलतः अपवाद अपरिहार्य स्थिति में उपस्थित हो गया हो तभी अपवाद का सेवन धर्म होता है और ज्यों ही समागत तूफानी वातावरण साफ हो जाय, स्थिति की विकटता न रहे, त्यों ही उत्सर्ग मार्ग पर आरूढ़ हो जाना चाहिए। ऐसी स्थिति में क्षण भर का विल ब भी(स यम) घातक हो सकता है। और एक बात यह भी है कि जितना आवश्यक हो उतना ही अपवाद का सेवन करना चाहिए। ऐसा न हो कि जब यह कर लिया तो अब इसमें क्या है ? यह भी कर लें। जीवन को निर तर एक अपवाद से दूसरे अपवाद पर शिथिल भाव से लुढ़काते जाना अपवाद नहीं है। जिन लोगों को मर्यादा का भान नहीं है, अपवाद की मात्रा एव सीमा का परिज्ञान नहीं है, उनका अपवाद के द्वारा उत्थान नही है अपितु शतमुख पतन होता है। एक बहुत सुन्दर पौराणिक दृष्टा त है। उस पर से सहज समझा जा सकता है कि उत्सर्ग और अपवाद की अपनी क्या सीमाएँ होती है और उसका सूक्ष्म विश्लेषण किस ईमानदारी से करना चाहिए।

दृष्टा त :– एक विद्वान ऋषि कहीं से गुजर रहे थे। भूख और प्यास से अत्य त व्याकुल थे। द्वादशवर्षी भय कर दुर्भिक्ष था। राजा के कुछ हस्तीपक(पीलवान) एक जगह साथ बैठकर भोजन कर रहे थे। ऋषि ने भोजन मा गा। उत्तर मिला–'भोजन तो झूठा है' ऋषि बोले– 'झूठा है तो क्या, आखिर पेट तो भरना है' 'आपत्काले मर्यादा नास्ति' भोजन लिया, खाया और चलने लगे तो उन लोगों ने जल लेने को कहा, तब ऋषि ने उत्तर दिया– 'जल झूठा है, मैं नहीं पी सकता'। लोगों ने कहा कि मालूम होता है कि– 'अन्न पेट में जाते ही बुद्धि लौट आई है'। ऋषि ने शा त भाव से कहा बन्धुओं ! तुम्हारा सोचना ठीक है किन्तु मेरी एक मर्यादा है। अन्न अन्यत्र मिल नहीं रहा था और मैं भूख से इतना व्याकुल था कि प्राण क ठ में आ रहे थे और अधिक सहने की क्षमता समाप्त हो चुकी थी, अतः मैंने झूठा अन्न भी अपवाद की स्थिति में स्वीकार कर लिया। अब जल तो मेरी मर्यादा के अनुसार अन्यत्र शुद्ध मिल सकता है। अतः व्यर्थ ही झूठा जल क्यों पीऊँ।

स क्षेप में सार यह कि जब तक चला जा सकता है उत्सर्ग मार्ग पर ही चलना चाहिए, जब चलना सर्वथा दुस्तर हो जाय, दूसरा कोई इधर-उधर बचाव का मार्ग न रहे तब ही अपवाद मार्ग का सेवन करना चाहिए और ज्यों ही स्थिति सुधर जाय पुनः तत्क्षण उत्सर्ग मार्ग पर लौट आना चाहिए।

उत्सर्ग मार्ग सामान्य मार्ग है। यहाँ कौन चले कौन नहीं चले, इस प्रश्न के लिये कुछ भी स्थान नहीं है। जब तक शक्ति रहे, उत्साह रहे, आपत्ति काल में भी किसी प्रकार का ग्लानिभाव न आवे, धर्म एव स घ पर किसी प्रकार का उपद्रव न हो अथवा ज्ञान दर्शन चारित्र की क्षति का कोई विशेष प्रस ग उपस्थित न हो, तब तक उत्सर्ग मार्ग पर ही चलना है, अपवाद मार्ग पर नहीं।

अपवाद मार्ग पर कभी कदाचित् ही चला जाता है । इस पर हर कोई साधक हर किसी समय नहीं चल सकता है। जो स यमशील साधक आचरा ग सूत्र आदि आचारस हिता का पूर्ण अध्ययन कर चुका है, गीतार्थ है, निशीथ सूत्र आदि छेद सूत्रों के सूक्ष्मतम मर्म का भी ज्ञाता है, उत्सर्ग–अपवाद पदों का अध्ययन ही नहीं अपितु स्पष्ट

अनुभव रखता है, वही अपवाद के स्वीकार या परिहार के स ब ध में ठीक-ठीक निर्णय दे सकता है। अतः सभी अपवादिक विधान करने वाले सूत्रों में कही गई प्रवृत्तियों को करने में इस उत्सर्ग-अपवाद के स्वरूप स ब धी वर्णन को ध्यान में रखना चाहिए।

परिशिष्ट-२

प्रायश्चित्त के अ गों की विचारणा :– उन्नीस उद्देशकों में कहे हुए दोषों के सेवन करने के बाद आलोचक को आलोचना के अनुसार प्रायश्चित्त देने के विभिन्न विकल्पों का वर्णन बीसवें उद्देशक में किया गया है।

आलोचना करने वाला एक प्रायश्चित्त स्थान को एक बार या अनेक बार तथा अनेक प्रायश्चित्त स्थानों को एक बार या अनेक बार सेवन करके उनकी एक साथ भी आलोचना कर सकता है और कभी अलग-अलग भी।

कोई आलोचक निष्कपट यथार्थ आलोचना करने वाला होता है और कोई कपट युक्त आलोचना करने वाला भी होता है अतः ऐसे आलोचकों को दिए जाने वाले प्रायश्चित्त की विधि यहाँ कही गई है।

उन्नीस उद्देशकों में मासिक, चौमासी और इनके गुरु लघु यों चार प्रकार के प्रायश्चित्त का कथन है तथापि कुछ विशेष दोषों के प्रायश्चित्तों में पाँच दिन, दस दिन की वृद्धि भी होती है। इसीलिए बीसवें उद्देशक के सूत्र १३-१४ में चार मास या चार मास साधिक, पाँच मास या पाँच मास साधिक ऐसा कथन है, किन्तु चौमासी प्रायश्चित्त स्थानों के समान प चमासी या छमासी प्रायश्चित्त स्थानों का स्वत त्र निर्देश आगमों में नहीं है। प्रस्तुत उद्देशक में भी उनका केवल स केत मिलता है।

इन प्रायश्चित्त स्थानों में से किसी एक प्रायश्चित्त स्थान का एक बार या अनेक बार सेवन करके एक साथ आलोचना करने पर प्रायश्चित्त स्थान वही रहता है किन्तु तप की हीनाधिकता हो जाती है।

यदि प्रायश्चित्त स्थान अनेक हों तो उन सभी स्थानों के प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है और उन सभी प्रायश्चित्त स्थानों के

अनुसार यथायोग्य तप प्रायश्चित्त दिया जाता है। सरल मन से आलोचना करने पर प्रायश्चित्त स्थान के अनुरूप प्रायश्चित्त आता है और कोई कपट युक्त आलोचना करे तो कपट की जानकारी हो जाने पर उस प्रायश्चित्त स्थान से एक मास अधिक प्रायश्चित्त आता है अर्थात् कपट करने का एक गुरु मास का प्रायश्चित्त और स युक्त कर दिया जाता है। ९ पूर्वी से लेकर १४ पूर्व तक के श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी और केवलज्ञानी ये आगम विहारी भिक्षु आलोचक के कपट को अपने ज्ञान से जान लेते हैं। अतः इनके सन्मुख ही आलोचना एव प्रायश्चित्त करना चाहिए। इनके अभाव में श्रुत व्यवहारी साधु तीन बार आलोचना सुनकर भाषा तथा भावों से कपट को जान सकते हैं क्योंकि वे भी अनुभवी गीतार्थ होते हैं।

यदि कपट युक्त आलोचना करने वाले का कपट नहीं जाना जा सके तो उसकी शुद्धि नहीं होती है। इसीलिए आगमों में आलोचना करने वाले की एव सुनने वालों की योग्यता कही गई है तथा आलोचना सम्बन्धी वर्णन भी किया गया है। यथा–

(१) ठाणा ग अ. १० में आलोचना करने वाले को १० गुण युक्त होना अनिवार्य कहा गया है। यथा– १. जाति स पन्न, २. कुल स पन्न, ३. विनय स पन्न, ४. ज्ञान स पन्न, ५. दर्शन स पन्न, ६. चारित्र स पन्न, ७. क्षमावान्, ८. दमनेन्द्रिय, ६. अमायी, १०. आलोचना करके पश्चाताप नहीं करने वाला।

(२) ठाणा ग अ. १० में आलोचना सुनने वाले के १० गुण इस प्रकार कहे हैं– यथा– १. आचारवान २. समस्त दोषों को समझ सकने वाला ३. पाँच व्यवहारों के क्रम का ज्ञाता ४. स कोच निवारण में कुशल ५. आलोचना कराने में समर्थ ६. आलोचना को किसी के पास प्रकट न करने वाला ७. योग्य प्रायश्चित्त दाता ८. आलोचना न करने के या कपट पूर्वक आलोचना करने के अनिष्ट परिणाम बताने में समर्थ। ६. प्रियधर्मी, १०. दृढ़धर्मी।

उत्तरा अ. ३६ गा. २६. में आलोचना सुनने वाले के तीन गुण कहे हैं – १. आगमों का विशेषज्ञ, २. समाधि उत्पन्न कर सकने वाला, ३. गुणग्राही।

(३) ठाणा ग अ. १० में आलोचना के १० दोष इस प्रकार कहे हैं– १. सेवा आदि से प्रसन्न करने के बाद उसके पास आलोचना करना। २. मेरे को प्रायश्चित्त कम देना इत्यादि अनुनय करके आलोचना करना । ३. दूसरों के द्वारा देखे गये दोषों की आलोचना करना, ४. बड़े-बड़े दोषों की आलोचना करना, ५. छोटे-छोटे दोषों की आलोचना करना, ६. अत्य त अस्पष्ट बोलना, ७. अत्य त जोर से बोलना, ८. अनेकों के पास एक ही दोष की आलोचना करना । ९. अगीतार्थ के पास आलोचना करना, १० अपने समान दोषों का सेवन करने वाले के पास आलोचना करना।

उपरोक्त स्थानों का योग्य विवेक रखने पर ही आलोचना शुद्ध होती है। यदि आलोचना सुनने वाला योग्य न मिले तो अनुक्रम से स्वगच्छ, अन्य गच्छ या श्रावक आदि के पास भी आलोचना की जा सकती है, कोई योग्य न मिलें तो अ त में अरिह त-सिद्धों की साक्षी से भी आलोचना करने का विधान व्यव. उ. १ में किया गया है।

ठाणा ग अ. ३ में कहा है कि ज्ञान दर्शन चारित्र की शुद्ध आराधना के लिये आलोचना प्रायश्चित्त किया जाता है। दोषों की आलोचना एव प्रायश्चित्त नहीं करने वाला इहलोक और परलोक दोनों ही बिगाड़ता है और वह विराधक होकर आत्मा की अधोगति का भागी बनाता है। आलोचना नहीं करने के अनेक कारणों में मुख्य कारण अपमान एव अपयश के होने का होता है किन्तु यह विचारों की अज्ञानदशा है। क्योंकि आलोचना करके शुद्ध होने वाला इस भव में और परभव में पूर्ण समाधि को प्राप्त करता है और आलोचना नहीं करने वाला इस भव में अ दर ही अ दर खिन्न होता है एव उभय लोक में असमाधि को प्राप्त करता है और आलोचना न करके सशल्य मरण से दीर्घ स सारी होता है।

जो भिक्षु मूल गुणों में अथवा उत्तरगुणो में एक बार या अनेक बार दोष लगाकर उन्हें छिपावे, लगे हुए दोषों की न आलोचना करे और न प्रायश्चित्त ले तो गणनायक उसे लगे हुए दोषों के सम्बन्ध में पूछे ।

यदि वह असत्य बोले, अपने आप को निर्दोष सिद्ध करे तो दोष सेवन करते हुए उसे देखने के लिए किसी को नियुक्त करे और प्रमाण पूर्वक उसके दोष सेवन का उसी के सामने सिद्ध करवाकर प्रायश्चित्त दे।

उन्नीस उद्देशकों में ऐसे मायावी को दिये जाने वाले प्रायश्चित्तों का विधान नहीं है। इसमें केवल स्वेच्छा से आलोचना करने वालों को

दिये जाने वाले प्रायश्चित्तों का विधान है। उक्त मायावी भिक्षु लगे हुए दोषों का सरलता से स्वीकार न करे तो उसे गच्छ से निकाल देना चाहिए। यदि यह लगे हुए दोषों को सरलता से स्वीकार कर ले, गच्छ प्रमुख को उसकी सरलता पर विश्वास हो जावे तो उसे निम्न प्रायश्चित्त देकर गच्छ में रखा जा सकता है। **१.** यदि उसने अनेक बार दोष सेवन न किए हों, अनेक बार मृषा भाषण करके उसने अपने दोष न छिपाये हों और उसके दोष सेवन की जानकारी जन साधारण को न हुई हो तो उसे दीक्षा छेद का प्रायश्चित्त देना चाहिए। **२.** यदि उसने बार-बार ब्रह्मचर्य आदि भ ग किया हो, बार-बार माया मृषा भाषण किया हो, उसके बार-बार ब्रह्मचर्य आदि भ ग की जानकारी जनसाधारण को हो गई हो तो उसे मूल अर्थात् नई दीक्षा का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

उत्तराध्ययन सूत्र अ. २१ में दोषों की आलोचना नि दा एव गर्हा का अत्य त शुभ एव श्रेष्ठ फल कहा है। ठाणा. अ. १०, भगवती श. २५ उ. ७, उव. सूत्र ३०, और उत्तरा. अ. ३० में १० प्रकार के प्रायश्चित्त कहे हैं उनमें आलोचना करना प्रथम प्रायश्चित्त स्थान कहा गया है।

प्रायश्चित्त :– चारित्र के मूल गुणों में या उत्तर गुणों में की गई प्रति सेवनाओं का अर्थात् दोष सेवन का प्रायश्चित्त किया जाता है। निशीथ सूत्र में तप प्रायश्चित्त के चार मुख्य विभाग कहे हैं और भाष्य में उसी की विस्तार से व्याख्या करते हुए पाँच दिन के तप से लेकर छः मास तक तप तथा छेद मूल अनवस्थाप्य एव पारा चिक प्रायश्चित्त तक का कथन किया गया है। प्रतिसेवना के भावों के अनुसार एक ही दोष स्थान के प्रायश्चित्तों की वृद्धि या कमी की जाती है ।

भगवती श. २५ उ. ७ एव ठाणा ग अ. १० में प्रतिसेवना दस प्रकार की कही है। यथा- १. दर्प से (आशक्ति एव धृष्टता से) २. आलस्य से, ३. असावधानी से, ४. भूख प्यास आदि की आतुरता से, ५. स कट आने पर, ६. क्षेत्र आदि की स कीर्णता से, ७. भूल से, ८. भय से, ९. रोष से या द्वेष से, १०. शिष्य आदि की परीक्षा के लिये। प्रत्येक दोष सेवन के पीछे इनमें से कोई भी एक या अनेक कारण होते हैं।

इन कारणों में से किसी कारण से लगे दोष की केवल आलोचना से ही शुद्धि हो सकती है तो किसी की आलोचना और प्रतिक्रमण से शुद्धि होती है और किसी की तप छेद आदि से शुद्धि होती है।

दोष सेवन के बाद आत्म शुद्धि का इच्छुक आलोचना कर प्रायश्चित्त ग्रहण करता है। जिस प्रकार वस्त्र में लगे मैल की शुद्धि धोने से हो जाती है उसी प्रकार आत्मा के स यम आदि में लगे दोषों की शुद्धि प्रायश्चित्त से हो जाती है। **उत्तरा. अ. २९ में** कहा है कि प्रायश्चित्त करने से दोषों की विशुद्धि हो जाती है, चारित्र निरतिचार हो जाता है, तथा सम्यग् प्रायश्चित्त स्वीकार करने वाला मोक्ष मार्ग एव आचार का आराधक होता है।

परिशिष्ट-३

दस प्रकार का प्रायश्चित्त :- (१) आलोचना के योग्य- क्षेत्रादि के कारण आपवादिक व्यवहार, शिष्टाचार प्रवृत्ति आदि की केवल आलोचना से शुद्धि होती है।

२. प्रतिक्रमण के योग्य- असावधानी से होने वाली अयतना की शुद्धि केवल प्रतिक्रमण से(मिच्छामि दुक्कड़ से) होती है।

३. तदुभय योग्य- तप प्रायश्चित्त के अयोग्य, समिति आदि के अत्य त अल्प दोषों की शुद्धि आलोचना एव प्रतिक्रमण से हो जाती है।

४. विवेक योग्य- भूल से ग्रहण किये गये दोष युक्त या अकल्पनीय आहारादि के ग्रहण किये जाने पर अथवा क्षेत्र काल स ब धी आहार की मर्यादा का उल्ल घन होने पर उसे परठ देना ही विवेक प्रायश्चित्त है।

५. व्युत्सर्ग के योग्य- किसी साधारण भूल के हो जाने पर निर्धारित श्वासोच्छवास के कार्योत्सर्ग का प्रायश्चित्त दिया जाय यह व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त है। उभय काल प्रतिक्रमण में पाँचवा आवश्यक भी इसी प्रायश्चित्त रूप है।

६. तप के योग्य- मूल गुण या उत्तर गुण में दोष लगाने पर पुरिमड्ढ से लेकर ६ मासी तप तक का प्रायश्चित्त होता है। यह दो प्रकार का है - १. शुद्ध तप, २. परिहार तप।

७. छेद के योग्य- दोषों के बार-बार सेवन से, अकारण अपवाद सेवन से या अधिक लोक निन्दा होने पर आलोचना करने वाले की एक दिन से लेकर छः मास तक की दीक्षा पर्याय का छेदन करना।

८. मूल के योग्य- छेद के योग्य दोषों में उपेक्षा भाव या स्वच्छ दता होने पर पूर्ण दीक्षा छेद करके नई दीक्षा देना।

९,१०. अनवस्थाप्य पारा चिक प्रायश्चित्त- वर्तमान में इन दो प्रायश्चित्तों का विच्छेदन होना माना जाता है। नई दीक्षा देने के पूर्व कठोर तपमय साधना करवाई जाती है, कुछ समय समूह से अलग रखा जाता है फिर एक बार गृहस्थ का वेष पहनाकर पुनः दीक्षा दी जाती है इन दोनों में विशिष्ट तप एव उसके काल आदि का अ तर है इनका अन्य विवेचन बृहत्कल्प उद्देशा ४ में तथा व्यव. उ. २ में देखें। (विवेचन देखें त्रीणि छेद सूत्राणि में)

निशीथ सूत्र में मासिक आदि तप प्रायश्चित्तों का कथन है भाष्य गाथा ६४९९ में कहा है कि १९ उद्देशकों में कहे गये प्रायश्चित्त ज्ञान दर्शन चारित्र के अतिक्रम व्यतिक्रम अतिचार एव अनाचार के हैं। इनमें से स्थविरकल्पी को किसी अनाचार का आचारण करने पर ही प्रायश्चित्त आते हैं और जिनकल्पी को अतिक्रम आदि चारों के ये प्रायश्चित्त आते हैं।

१. अतिक्रम = दोष सेवन का स कल्प। **२. व्यतिक्रम** = दोष सेवन के पूर्व की तैयारी प्रार भ। **३. अतिचार** = दोष सेवन के पूर्व की प्रवृत्ति का लगभग पूर्ण हो जाना। **४. अनाचार** = दोष का सेवन कर लेना। जैसे कि - १. आधाकर्मी आहार ग्रहण करने का स कल्प, २. उसके लिए जाना, ३. लाकर रखना, ४. खा लेना।

स्थविरकल्पी को अतिक्रमादि तीन से व्युत्सर्ग तक के पाँच प्रायश्चित्त आते हैं एव अनाचार सेवन करने पर उन्हें आगे के पाँच प्रायश्चित्तों में से कोई एक प्रायश्चित्त आता है।

परिहार तप एव शुद्ध तप किन-किन को दिया जाता है यह वर्णन भाष्य गाथा ६५८६ से ९१ तक में है। वहाँ पर यह भी कहा है कि साध्वी को एव अगीतार्थ, दुर्बल और अ तिम तीन स घयण वाले भिक्षु को शुद्ध तप प्रायश्चित्त ही दिया जाता है।

२० वर्ष की दीक्षा पर्यायवाले को, २९ वर्ष की उम्र से अधिक वय वाले को, उत्कृष्ट गीतार्थ ९ पूर्व के ज्ञानी को, प्रथम स हनन वाले को तथा अनेक अभिग्रह तप साधना के अभ्यासी को परिहार तप दिया जाता है। भाष्य गाथा. ६५९२ में परिहार तप देने की पूर्ण विधि का वर्णन किया गया है।

व्यवहार सूत्र प्रथम उद्देशक के सूत्र १ से ५ तक एक मासिक प्रायश्चित्त स्थान से लेकर पाँच मासिक प्रायश्चित्त स्थान के एक बार सेवन का तथा सूत्र-६ से १० तक अनेक बार सेवन का सामान्य प्रायश्चित्त कहा गया है साथ ही कपटयुक्त आलोचना का एक गुरु मास प्रायश्चित्त विशेष देने का कहा गया है।

सूत्र ११ से १४ में इन्हीं प्रायश्चित्त स्थानों में से अनेक स्थानों के सेवन के द्विस योगी आदि भ गयुक्त अनेक सूत्रों की सूचना की गई है, भाष्य चूर्णि में भ ग विस्तार से करोड़ों सूत्रों की गणना बताई गई है।

सूत्र ५, १० तथा ११ से १४ तक के सूत्रों में ***''तेण पर पलिउ चिय अपलिउंचिय ते चेव छम्मासा''*** यह वाक्य है इसका आशय यह समझना चाहिए कि इसके आगे कोई ६ मास या ७ मास के योग्य प्रायश्चित्त का पात्र हो अथवा कपट सहित या कपट रहित आलोचना करने वाला हो तो भी यही छः मास का प्रायश्चित्त आता है इससे अधिक नहीं आता है।

सुबहुहिं वि मासेहिं, छण्ह मासाण पर ण दायव्व ॥६५२४॥

चूर्णि- तवारिहेहिं बहुहिं मासेहिं छम्मासा पर ण दिज्जइ, सव्वस्सेव एस, णियमो, एत्थ कारण जम्हा अम्ह वद्धमाण सामिणो एव चेव पर पमाण ठवित ।

भावार्थ- वर्धमान महावीर स्वामी के शासन में इतने ही प्रायश्चित्त की उत्कृष्ट मर्यादा है और सभी साधु-साध्वी के लिए यह नियम है ।

अगीतार्थ, अतिपरिणामी, अपरिणामी साधु-साध्वी को ६ मास का तप ही दिया जाता है, छेद प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता है । किन्तु दोष को पुनः पुनः सेवन करने पर या आकुट्टी बुद्धि अर्थात् मारने के स कल्प से प चेन्द्रिय की हिंसा करने पर या दर्प से कुशील के सेवन करने पर इन्हें छेद प्रायश्चित्त दिया जा सकता है तथा छेद के प्रति उपेक्षावृत्ति रखने वालों को ***''मूल प्रायश्चित्त''*** दिया जाता है।

अन्य अनेक छोटे बड़े दोषों के सेवन करने पर प्रथम बार में छेद या मूल प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता है, किन्तु जिसे एक बार इस प्रकार की चेतावनी दे दी गई है कि ***''हे आर्य ! यदि बार बार यह दोष सेवन किया तो छेद या मूल प्रायश्चित्त दिया जायेगा''*** उसे ही छेद या

मूल प्रायश्चित्त दिया जा सकता है। जिसे इस प्रकारकी चेतावनी नहीं दी गई है उसे छेद या मूल प्रायश्चित्त नहीं दिया जा सकता है। भाष्य में चेतावती दिये गये साधु को ***'विकोवित'*** एव चेतावनी नहीं दिये गये साधु को ***'अविकोवित'*** कहा गया है विकोवित को भी प्रथम बार लघु दूसरी बार गुरु एव तीसरी बार छेद प्रायश्चित्त दिया जाता है।

छेद प्रायश्चित्त भी उत्कृष्ट छः मास का होता है तथा तीन बार तक दिया जा सकता है उसके बाद मूल प्रायश्चित्त दिया जाता है।

यथा :- छम्मासोवरी जई पुणो आवज्जइ तो तिण्णि वारा लहु चेव छेदो दायव्वो। एस अविसिट्ठो वा तिण्णि वारा छल्लहु छेदो।

अहवा :- ज चेव तव तिय त चेव छेदतिय पि-मासब्भ तर , चउमासब्भ तर च, जम्हा एव तम्हा भिण्णमासादि जाव छम्मास , तेसु छिण्णेसु छेय तिय अतिक्क त भवति। ततो वि जति पर आवज्जति तो तिण्णि वार मूल दिज्जति। - चूर्णि भाग-४, पृ. ३५१-५२ ।

इससे यह स्पष्ट होता है कि वर्धमान महावीर स्वामी के शासन में तप और छेद प्रायश्चित्त छः मास से अधिक देने का विधान नहीं है। अतः किसी भी दोष का छः मास तप या छेद से अधिक प्रायश्चित्त नहीं देना चाहिए। क्योंकि अधिक प्रायश्चित्त देने पर "तेण पर " इस सूत्रा श से एव भाष्योक्त परम्परा से विपरीत आचरण होता है। मूल (नई दिशा) प्रायश्चित्त भी तीन बार दिया जा सकता है और छः मास का तप और छः मास का छेद भी तीन बार ही दिया जा सकता है। उसके बाद आगे का प्रायश्चित्त दिया जाता है। अ त में गच्छ से निकाल दिया जाता है।

परिशिष्ट-४

उपस हार :- लघु मासिक आदि प्रायश्चित्त स्थानों के चार विभागों में जिन दोष स्थानों का वर्णन है तदनुसार उनके समान अन्य भी अनुक्त दोषों को समझ लेना चाहिए। दोष सेवन के भाव एव प्रायश्चित्त ग्रहण करने वाले की योग्यता आदि कारणों से इन स्थानों में दिये जाने वाले शुद्ध तप आदि के अनेकों विकल्प होते हैं जिन्हें गीतार्थ मुनि की निश्रा से या परम्परा से समझना चाहिए तथा प्रायश्चित्त तालिका से भी समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

विस्तृत विकल्पों युक्त प्रायश्चित्त विधि को समझने के लिये निशीथ पीठिका का तथा बीसवें उद्देशक के भाष्य चूर्णि का अध्ययन करना चाहिए अथवा बृहत्कल्प सूत्र, व्यवहार सूत्र एव निशीथ सूत्र का निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका युक्त पूर्ण अध्ययन करना चाहिए ।

निर्युक्ति एव भाष्य के अनुसार निशीथ की सूत्र स ख्या २०२२ (दो हजार बाईस) होती है । प्रस्तुत स स्करण में १४०१ सूत्र है । यद्यपि उपलब्ध प्रतियों में सूत्र स ख्या भिन्न-भिन्न अवश्य है तो भी वह अ तर अधिक नहीं है । किन्तु निर्युक्ति एव भाष्य में कही गई स ख्या से प्रस्तुत स स्करण की सूत्र स ख्या का अ तर ६२१ सूत्रों का है । मूल सूत्रों का इतना अधिक अ तर अवश्य विचारणीय है ।

प्रस्तुत स स्करण के सूत्रों का स कलन प्रायः भाष्य एव चूर्णि का आधार लेकर किया गया है, फिर भी इसके सूत्रों की स ख्या भाष्य गाथा ६४६९ से ७३ तक में कही गई पूरे निशीथ के सूत्रों की एव लघु, गुरु, मासिक, चौमासिक एव आरोपणा सूत्रों की स ख्या से भिन्न है । उपलब्ध सूत्र स ख्या से इनका समन्वय करना भी अशक्य सा है । यथा-

प्रथम उद्देशक में सूत्र स ख्या ५८ उपलब्ध है, भाष्य चूर्णि में भी इतने ही सूत्रों की व्याख्या है, फिर भी इस उद्देशक की सूत्र स ख्या उक्त गाथाओं में २५२ कही गई है । अतः २०२२ सूत्रों का कथन बहुश्रुत गम्य है । वर्तमान में तो स्वाध्याय प्रेमियों को १४०१ सूत्रों से ही स तोष करना पड़ेगा । अन्वेषक चि तन शील आगम प्रेमी बहुश्रुत इस विषय में प्रयत्न करके समाधान प्रकट कर सकते हैं ।

बीस उद्देशकों के सूत्रों की तालिका :-

उद्देशक	प्रायश्चित्त-स्थान	सूत्र स ख्या	
१.	गुरु मासिक	५८	
२.	लघु मासिक	५७	३१७
३.	लघु मासिक	८०	
४.	लघु मासिक	१२८	
५.	लघु मासिक	५२	

६.	गुरु चौमासी	७८	३४५
७.	गुरु चौमासी	९२	
८.	गुरु चौमासी	१८	
९.	गुरु चौमासी	२५	
१०.	गुरु चौमासी	४१	
११.	गुरु चौमासी	९१	
१२.	लघु चौमासी	४४	६३०
१३.	लघु चौमासी	७८	
१४.	लघु चौमासी	४१	
१५.	लघु चौमासी	१५४	
१६.	लघु चौमासी	५०	
१७.	लघु चौमासी	१५५	
१८.	लघु चौमासी	७३	
१९.	लघु चौमासी	३५	
२०.	आरोपणा	५१	
	योग	**१४०१**	

नोट- (भाष्य में प्रत्येक उद्देशक की अलग-अलग सूत्र स ख्या नहीं दी गई है ।)

प्रस्तुत स स्करण और भाष्य निर्दिष्ट सूत्रों की तालिका :-

उद्देशक	प्रायश्चित्त स्थान	भाष्य निर्दिष्ट सुत्र स ख्या	प्रस्तुत स स्करण की सूत्र स ख्या	अ तर
१	गुरु मासिक	२५२	५८	१९४
२-५	लघु मासिक	३३२	३१७	१५
६-११	गुरु चौमासिक	६४४	३४५	२९९
१२-१९	लघु चौमासिक	७२४	६३०	९४
२०	आरोपणा	७०	५१	१९
	योग	**२०२२**	**१४०१**	**६२१**

॥ निशीथ सूत्र परिशिष्ट समाप्त ॥

दशा श्रुतस्क ध सूत्र : परिचय

प्रश्न-१ : इस सूत्र परिचय किस प्रकार है ?

उत्तर- 'दशा कप्प ववहार' इन तीन छेद सूत्रों की रचना चौदहपूर्वी भद्रबाहु स्वामी ने की थी उसमें यह दशा श्रुतस्क ध प्रथम सूत्र है। बाद में अज्ञात काल में अथवा तो देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के समय में निशीथ का आचारा ग से अलग स पादन होना मानना उचित होता है। तब से निशीथ सूत्र को तीन छेद सूत्रों के साथ गिनने से उसका प्रथम न बर होता है क्योंकि वह गणधर रचित का मात्र विभाजीकरण है। अतः चार छेद सूत्र की मान्यता हो जाने पर दशाश्रुत स्क ध सूत्र का दूसरा नम्बर हो जाता है। तीसरा 'कप्प' सूत्र आगे जाकर बृहत्कल्प सूत्र कहलाने लगा है अब तीसरा छेद सूत्र बृहत्कल्प और चौथा छेद सूत्र व्यवहार सूत्र होता है। यह क्रम आगम पद्धति के चि तन से दिया गया है फिर भी कोई गहरे उतरे बिना प्रवाह मात्र से किसी को पहले या पीछे बोल या लिख दे तो कोई दोष पात्र का आक्षेप नहीं लगाया जा सकता। क्योंकि क्रम का आक्षेप महत्त्वपूर्ण नहीं है वह तो गहरे अनुभव का प्रतीक मात्र है।

नाम विचारणा :– इस सूत्र के विविध नाम उपलब्ध है- (१) दशा (व्यवहार सूत्र) (२) आयारदशा(स्थाना ग समवाया ग) (३) दशाश्रुत-स्क ध इस तीसरा नाम निशीथ सूत्र की आगम सूची के बाद कभी अज्ञात समय से प्रचलित हुआ है। निशीथ की आगम सूची में 'दशाओ' इतना ही नाम है। न दी की रचना के बाद निर्युक्तिकार के समय तक भी 'दशा' नाम प्रचलित रहा है। अर्थात् उन्होंने भी निर्युक्ति की प्रथम गाथा में 'दसासु कप्पे य ववहारे' प्रयोग किया है।

दशा श्रुतस्क ध का अर्थ भी 'दश अध्ययनों का स्क ध रूप शास्त्र' यह शास्त्र एक श्रुतस्क ध रूप मुख्य विभाग है और दस इसके अध्ययन रूप विभाग है इन्हें 'दशा' स ज्ञा दी गई है इसे 'आचार दशा' भी स्थाना ग सूत्र में कहा गया है तो इसमें आचार स ब धी दशाओं का अवस्थाओं का, जिसमें दोष युक्त और विशिष्ट गुण युक्त दोनों प्रकार की अवस्थाओं

का अर्थात् आचार की मुख्यता वाला स देश है। अतः इसका 'आचारदशा' यह नाम भी स्थाना ग प्रयुक्त उपयुक्त ही है। इतना सब होते हुए भी वर्तमान में हमारे ३२ आगमों में पूर्वाचार्यो ने इसका नाम दशा श्रुतस्क ध स्थिर किया है। और वैसा बोलने की ही हमारी स्पष्ट पर परा चल रही है।

विभाग और विषय :– इस शास्त्र के दस अध्याय है उनका नाम पहली दशा, दूसरी दशा, तीसरी दशा यों यावत् दसवी दशा ऐसा नाम प्रचलित है।

इन दस दशाओं में- (१) २० असमाधि स्थान (२) २१ सबल दोष (३) ३३ आशातना (४) आचार्य की आठ स पदा, चार कर्तव्य तथा शिष्य के चार कर्तव्य (५) चितसमाधि के १० बोल (६) श्रावक की ११ पड़िमा (७) साधु की १२ पड़िमा (८) चातुर्मास के विशिष्ट कल्प(इस दशा का सही स्वरूप विकृत या विछिन्न सा हो गया है) (९) महामोह कर्मब ध के ३० बोल। (१०) श्रेणिक-चेलना के प्रास गिक कथन के साथ नव नियाणा वर्णन एव दसवा अनिदान स्वरूप।

रचना-व्याख्या :– यह सूत्र चौदहपूर्वी आचार्य भद्रबाहु द्वारा रचित है, ऐसा निर्विवाद माना जाता रहा है। इसकी व्याख्या पद्यमय देवर्धि-गणि के बाद हुए द्वितीय भद्रबाहु स्वामी ने की है जिसका नाम निर्युक्ति व्याख्या रखा गया है। अगली शताब्दि में भाष्यों की रचना पद्यमय प्राकृत भाषामें निर्युक्ति के ऊपर की गई है। उसकी अगली शताब्दि में इस सूत्र के निर्युक्ति भाष्य के आधार पर चूर्णि व्याख्या की गई जो प्राकृत गद्यमय शैली मैं है। वही प्राचीनतम व्याख्या चूर्णि आज भाष्य, निर्युक्ति गाथाओं के साथ प्रकाशित मिलती है।

भाष्यकार और निर्युक्तिकार दोनों ने एक सरीखी पद्यमय व्याख्या पद्धति अपनाई थी वह सेकड़ों वर्षों के लेखन काल के व्यतीत होने पर आज पूर्ण स्वत त्र नहीं रह सकी अर्थात् भाष्य निर्युक्ति की अनेक गाथाऐं एक दूसरे में मिल चुकी है। उनका स्पष्ट अलगाव निश्चित करना आज अशक्य सा हो गया है। अतः हम दोनों व्याख्याओं को समान रूप से प्रमाणिक माने तो भी कोई एतराज नहीं हो सकता।

वर्तमान में यह शास्त्र हिंदी गुजराती विवेचन के साथ उपलब्ध होता है। कही से केवल मूलपाठ रूप में भी प्रकाशित मिलता है।

टीका टब्बा विशिष्ट पद व्याख्या रूप में भी अलग-अलग छपा है। स्थानकवासी समाज में छेद सूत्र क ठस्थ करने की विशेष प्रणाली होने से मूल पाठ पॉकेट बुक के रूप में भी प्रकाशित हुए हैं। अ त में आचार्य घासीलाल म.सा., ब्यावर से मधुकर मुनि का या सुधर्म प्रचार म ड़ल का एव राजकोट से गुरुप्राण फाउन्ड़ेशन का विवेचन स्पष्टीकरण सहित प्रकाशित उपलब्ध है। हमारे इस ३२ आगमों के सारा श और प्रश्नोत्तर अभियान में भी इस सूत्र को स्थान दिया गया है। जिसमें हिंदी, गुजराती दोनों एड़िशन तैयार कर समस्त भारत की जनता में यथाशक्य प्रचारित प्रसारित किया गया है।

वर्तमान में यह शास्त्र छोटी-छोटी एक-एक विषयवाली दश दशाओं(अध्ययनों) वाला है। बड़ी दशाएँ उपासक, ज्ञाता आदि में है, ऐसा निर्युक्तिकार ने निर्देश किया पाँचवी गाथा में। अतः इस वर्तमान शास्त्र का प्रमाण ७५० श्लोक प्रमाण माना गया है।

दशा-१ : असमाधि स्थान

प्रश्न-१ : असमाधि स्थान का क्या अर्थ है और यहाँ इसका तात्पर्य किस अपेक्षा है ?

उत्तर- साध्वाचार(स यम) के सामान्य लघुतर दोषों को या अतिचारों को यहाँ 'असमाधि स्थान' कहा है। जिस प्रकार शरीर की समाधि में बाधक सामान्य पीड़ाएँ भी होती हैं और विशेष बड़े रोग भी भिन्न-भिन्न होते हैं यथा- **(१)** अल्प चोट लग जाना, काँटा गढ़ जाना, एक फोड़ा हो जाना, हाथ, पाँव, अ गुली, आदि अवयव दुखना, दाँत दुखना और अल्प समय में ठीक हो जाना, **(२)** अत्यन्त व्याकुल एव अशक्त कर देने वाले बड़े-बड़े रोग।

उसी प्रकार सामान्य दोष अर्थात् स यम के अतिचार अविधियों को इस दशा में असमाधि स्थान कहा गया है। इनके कारण स यम पूर्ण स्वस्थ नहीं रह पाता है अर्थात् उसकी शुद्ध आराधना में कमी आ जाती है।

प्रश्न-२ : स क्षिप्त में २० असमाधि स्थान कौन से हैं ?

उत्तर- बीस असमाधि स्थान इस प्रकार है-(१) उतावलता से चलना।

(२) अ धकार में चलते वक्त प्रमार्जन न करना। क्ष(३) सही रूप से प्रमार्जन न करना। (४) अनावश्यक पाट आदि लाना रखना। (५) बड़ों के सामने बोलना। (६) वृद्धों को असमाधि पहुँचना। (७) पाँच स्थावर कायों की बराबर यतना नहीं करना अर्थात् उनकी विराधना करना, करवाना। (८) क्रोध भाव में जलना अर्थात् मन में क्रोध भाव रखना। (९) क्रोध करना अर्थात् वचन और व्यवहार में क्रोध को प्रकट करना। (१०) पीठ पीछे निन्दा करना। (११) कषाय या अविवेक से निश्चयकारी भाषा बोलना। (१२) नया कलह करना। (१३) पुराने शा त कलह को पुनः उभारना। (१४) अकाल(अस्वाध्याय काल) में सूत्रोच्चारण करना। (१५) सचित रज या सचित रज से युक्त हाथ, पाँव का प्रमार्जन नहीं करना अर्थात् प्रमार्जन किए बिना बैठ जाना या अन्य कार्य में लग जाना। (१६) अनावश्यक बोलना, वाक्युद्ध करना एव जोर-जोर से आवेश युक्त बोलना। (१७) स घ में या स गठन में अथवा प्रेम सम्बन्ध में भेद उत्पन्न हो ऐसा भाषण करना। (१८) कलह करना, झगड़ना, तुच्छता पूर्ण व्यवहार करना। (१९) मर्यादित समय के अतिरिक्त दिनभर कुछ न कुछ खाते ही रहना। (२०) अनेषणीय आहार, पानी आदि ग्रहण करना अर्थात् एषणा के छोटे दोषों की उपेक्षा करना।

दशा-२ : सबल दोष

प्रश्न-१ : सबल शब्द का यहाँ क्या तात्पर्यार्थ है ?

उत्तर- सबल, प्रबल, ठोस, भारी, वजनदार, विशेष बलवान आदि लगभग एकार्थक शब्द हैं।

स यम के सबल दोषों का अर्थ है कि सामान्य दोषों की अपेक्षा बड़े दोष या विशेष दोष। इस दशा में ऐसे बड़े दोषों को 'सबल दोष' कहा है। ये प्रायः स यम के अनाचार रूप होते हैं, इनका प्रायश्चित्त भी गुरुतर होता है तथा ये स यम में विशेष असमाधि उत्पन्न करने वाले दोष हैं, अन्य शब्दों में कहा जाए तो सबल दोष स यम में बड़े अपराध हैं और असमाधि स्थान स यम में छोटे अपराध हैं।

प्रश्न-२ : वे २१ सबल दोष स क्षिप्त में कौन से हैं ?

उत्तर- २१ सबल दोष इस प्रकार है- (१) हस्त कर्म करना। (२) मैथुन

सेवन करना। (३) रात्रि भोजन करना। (४) साधु के निमित्त बने आधा-कर्मी आहार, पानी को लेना। (५) राजा के घर गोचरी जाना। (६) सामान्य साधु-साध्वियों के निमित्त बने उद्देशिक आहार आदि लेना या साधु के लिए खरीदना आदि क्रिया की हो, ऐसे आहारादि पदार्थ लेना। (७) बार बार तप त्याग आदि का भ ग करना। (८) बार बार गण का त्याग करना और स्वीकार करना। (९, १९) घुटने(जानु) जल में डूबे इतने पानी में एक मास में तीन बार या वर्ष में १० बार चलने(आठ महिने के आठ और एक अधिक कुल ९ बार उतरने) पर सबल दोष नहीं है। (१०,२०) एक मास में तीन बार और वर्ष में १० बार (उपाश्रय के लिए) माया कपट करना। अर्थात् उपाश्रय दुर्लभ होने पर ९ बार वर्ष में माया करना पड़े, वह सबल दोष नहीं है। (११) शय्यातार पि ड़ ग्रहण करना। (१२,१४) जानकर स कल्प पूर्वक हिंसा करना, झूठ बोलना, अदत्तग्रहण करना। (१५,१७) त्रस स्थावर जीवयुक्त अथवा सचित स्थान पर या उसके अत्यधिक निकट बैठना, सोना, खड़े रहना। (१८) जानकर सचित हरी वनस्पति (१. मूल, २. क द, ३. स्कन्ध, ४. छाल, ५. कोंपल, ६. पत्र, ७. पुष्प, ८. फल, ९. बीज और १०. हरी वनस्पति) खाना। (२१) जानकर सचित जल के लेप युक्त हाथ या बर्तन से गोचरी लेना।

यद्यपि अतिचार, अनाचार अनेकों हो सकते हैं फिर भी यहाँ अपेक्षा से २० असमाधि स्थान और २१ सबल दोष कहे गए हैं। अन्य दोषों को यथायोग्य विवेक से इन्हीं में अ तर्भावित कर लेना चाहिए।

दशा-३ : आशातना

प्रश्न-१ : आशातना शब्द से यहाँ क्या तात्पर्य लिया गया है ?

उत्तर- स यम के मूल गुण एव उत्तर गुण के दोषों के अतिरिक्त अविवेक और अभक्ति स योग से गुरु रत्नाधिक आदि के साथ की जाने वाली प्रवृत्ति को आशातना कहते हैं। इससे स यम दूषित होता है एव गुणों का नाश होता है। क्यों कि विनय और विवेक के सद्भाव में ही गुणों की वृद्धि होती है और पाप कर्म का बन्ध नहीं होता है। दशवैकालिक सूत्र में कहा भी है -

एव धम्मस विणओ मूल , परमो से मोक्खो।
जेण कित्तिं सुय सिग्घं, निस्सेस चाभिगच्छइ ॥

- दश. अ. ९, उ. २. गा. २

जय चरे जय चिट्ठे, जयमासे जय सए।
जय भुंज तो भास तो, पावकम्म न ब धइ ॥

- दशवै.. अ. ४, गा. ८

बड़ों का विनय नहीं करना एव अविनय करना ये दोनों ही आशातना हैं। आशातना देव, गुरु की एव स सार के किसी भी प्राणी की हो सकती है। धर्म सिद्धान्तों की आशातना भी हो सकती है। अतः आशातना की विस्तृत परिभाषा इस प्रकार है- देव, गुरु की विनयभक्ति न करना, अविनय-अभक्ति करना, उनकी आज्ञा भ ग करना या निन्दा करना, धर्म सिद्धा तों की अवहेलना करना या विपरीत प्ररूपण करना और किसी भी प्राणी के प्रति अप्रिय व्यवहार करना, उसकी निन्दा-तिरस्कार करना 'आशातना' है। लौकिक भाषा में इसे असभ्य व्यवहार कहा जाता है। इन सभी अपेक्षाओं से आवश्यक सूत्र में ३३ आशातनाएँ कही हैं। प्रस्तुत दशा में केवल गुरु रत्नाधिक(बड़ों) की आशातना के विषयों का ही कथन किया गया है।

बड़ो के साथ चलने, बैठने, खड़े रहने में, आहार, विहार, निहार स ब धी समाचारी के कर्तव्यों में, बोलने में, शिष्टाचार में, भावों में और आज्ञा पालन में अविवेक-अभक्ति से प्रवर्तन करना 'आशातना' है।

तात्पर्य यह है कि बड़ों के साथ प्रत्येक प्रवृत्ति में सभ्यता शिष्टता दिखे और जिस व्यवहार प्रवर्तन से बड़ों का चित्त प्रसन्न रहे, उस तरह रहते हुए ही प्रत्येक प्रवृत्ति करनी चाहिए।

प्रश्न-२ : वे ३३ आशातनाएँ कौन सी है ?

उत्तर- (१-९) गुरु या बड़ों के १. आगे २. पीछे ३. बराबर अविनय से १. चले २. खड़ा रहे ३. बैठे। (१०-११) शौच आदि के लिये बड़ों के साथ जाकर पहले आ जावे, पहले इरियावहि का कायोत्सर्ग करे। (१२) आग तुक विशेष व्यक्ति से गुरु के पहले शिष्य वार्ता करे। (१३) रात्रि के समय गुरु के पूछने पर जागृत होते हुए भी न बोले। (१४-१७) गोचरी लाने के बाद आहारादि की वार्ता पहले अन्य को

कहे, आहार दिखावे, निम त्रण करे और देवे फिर गुरु को कहे, दिखावे, निम त्रण करे और देवे। (१८) साथ में बैठ कर आहार कर रहे हो तो मनोज्ञ आहार को शिष्य बड़ों की अपेक्षा जल्दी जल्दी और ज्यादा खावे अर्थात् आसक्ति भाव के कारण माया करे या अविवेक करे। (१९-२०) गुरु आदि के बुलाने पर सुना अनसुना करदे या उद्धतापूर्वक अविनय से बोले। (२१) गुरु के बुलाने पर रोषयुक्त बोले कि क्या है, क्या कहते हो ? (२२) शिष्य गुरु आदि को तूं तूं ऐसे तुच्छ शब्द से कहे । (२३,२४) शिक्षा या सेवा कार्य बताने पर कहे कि ऐसा तो आप ही कर लो अथवा आप ही क्यों नहीं कर लेते हो। गुरु के कहे शब्दों से उन्हीं का तिरस्कार करे। (२५) गुरु आदि धर्मोपदेश दे रहे हो तो उसे अच्छा नहीं समझे, अनमना रहे। (२६,२७) धर्म कथा करते समय गुरु आदि को कहे- आपको यह याद नहीं है तथा उनकी गलती निकाले कि यह ऐसा नहीं, वैसा है। (२८) धर्म कथा करते समय गुरु का या परिषद का लि क-एकाग्रता तोड़े। (२९) श्रोताजन को उपदेश से खिन्न करे। (३०) गुरु के कहे उपदेश को पुनः स्वय कहे। (३१) गुरु के आसन या उपकरण के पाँव लग जाने पर उसका खेद प्रकट किये बिना अनुनय विनय शिष्टता किये बिना ही चला जावे। (३२) गुरु के बिना कहे ही उनके शय्या आसन पर बैठे, सोवे या खड़ा रहे। (३३) शिष्य गुरु से ऊँचे या समान आसन पर बैठे सोवे अर्थात् उनसे अपने को ज्यादा समझे या अविवेक करे।

दशा-४ : आठ स पदा

प्रश्न-१ : स पदा क्या है और आचार्य में क्यों आवश्यक है ?

उत्तर- साधु-साध्वियों के समुदाय की समुचित व्यवस्था के लिए आचार्य का होना नितान्त आवश्यक होता है। व्यवहार सूत्र उद्देशक तीन में नवदीक्षित(तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय तक), बालक (१६ वर्ष की उम्र तक), एव तरुण(४० वर्ष की वय तक के) साधु-साध्वियों को आचार्य एव उपाध्याय की निश्रा के बिना रहने का स्पष्ट निषेध है। साथ ही शीघ्र ही अपने आचार्य, उपाध्याय के निश्चय करने का ध्रुव विधान किया है। साध्वी के लिए 'प्रवर्तिनी' की निश्रा सहित तीन पदवीधरों की निश्रा

होना आवश्यक कहा है। ये पदवीधर शिष्य शिष्याओं के व्यवस्थापक एव अनुशासक होते हैं। अतः इनमें विशिष्ट गुणों की योग्यता होना आवश्यक है। व्यवहार सूत्र के तीसरे उद्देशक में इनकी आवश्यक एव औचित्य पूर्ण योग्यता के गुण कहे गए हैं।

प्रश्न-२ : आठ स पदा का स्पष्टार्थ क्या है?

उत्तर- प्रस्तुत दशा में आचार्य के आठ मुख्य गुण कहे हैं यथा-

१. आचार सम्पन्न- स पूर्ण स यम सम्बन्धी जिनाज्ञा का पालन करने वाला, क्रोध मानादि कषायों से रहित सुन्दर स्वभाव वाला।

२. श्रुत सम्पन्न- आगमोक्त अनुक्रमानुसार अनेक शास्त्रों को क ठस्थ धारण करने वाला एव उनके अर्थ, परमार्थ को धारण करने वाला।

३. शरीर सम्पन्न- समुचित स हनन स स्थान वाला एव सशक्त और स्वस्थ शरीर वाला।

४. वचन सम्पन्न- आदेय वचन वाला, मधुर वचन वाला, राग-द्वेष रहित एव भाषा सम्बन्धी दोषों से रहित वचन बोलने वाला।

५. वाचना सम्पन्न- सूत्रों के पाठों का उच्चारण करने-कराने में, अर्थ परमार्थ को समझाने में तथा शिष्य की क्षमता योग्यता का निर्णय करके शास्त्र ज्ञान देने में निपुण। योग्य शिष्यों को राग-द्वेष या कषाय रहित होकर अध्ययन कराने के स्वभाव वाला।

६. मति सम्पन्न- स्मरण शक्ति सम्पन्न एव चारों प्रकार की बुद्धि से युक्त बुद्धिमान हो अर्थात् भोला भद्रिक न हो।

७. प्रयोग मति सम्पन्न- वाद-विवाद शास्त्रार्थ में, प्रश्नों-जिज्ञासाओं के समाधान देने में, परिषद् का विचार कर योग्य विषय का विश्लेषण करने में एव सेवा व्यवस्था में, समय पर उचित बुद्धि की स्फुरणा हो, समय पर सही लाभदायक निर्णय एव प्रवर्तन कर सके।

८. स ग्रह परिज्ञा सम्पन्न- व्यवस्था एव सेवा के द्वारा साधु-साध्वी की और विचरण तथा धर्म प्रभावना के द्वारा श्रावक-श्राविकाओं की भक्ति, निष्ठा, ज्ञान, विवेक की वृद्धि करने वाला। जिससे स यम के आवश्यक विचरण क्षेत्र, उपधि आहार की प्रचुर उपलब्धि होती रहे एव सभी निराबाध स यम आराधना करते रहें।

प्रश्न-३ : आचार्य के शिष्य के प्रति ४ मुख्य कर्तव्य क्या दर्शाये हैं ?

उत्तर- आचार्य के शिष्यों के प्रति कर्तव्य- (१) स यम सम्बन्धी और त्याग तप सम्बन्धी समाचारी का ज्ञान कराना एव उसके पालन में अभ्यस्त करना। समूह में रहने की या अकेले रहने की विधियों एव आत्म समाधि के तरीकों का ज्ञान एव अभ्यास कराना। (२) आगमों का क्रम से अध्ययन करवाना, अर्थ ज्ञान करवा कर उससे किस तरह हिताहित होता है यह समझाना एव उससे पूर्ण आत्म- कल्याण साधने का बोध देते हुए परिपूर्ण वाचना देना। (३) शिष्यों की श्रद्धा को पूर्णरूप से दृढ़ बनाना और ज्ञान में एव गुणों में अपने समान बनाने का प्रयत्न करना। (४) शिष्यों में उत्पन्न दोष-कषाय, कलह, आका क्षाओं का उचित उपायों द्वारा समन करना। ऐसा करते हुए भी अपने स यम गुणों की एव आत्म समाधि की पूर्ण रूपेण सुरक्षा एव वृद्धि बनाये रखना।

प्रश्न-४ : शिष्य के गण तथा आचार्य के प्रति क्या कर्तव्य बनते हैं ?

उत्तर- (१) आवश्यक उपकरणों की प्राप्ति सुरक्षा एव विभाजन में चतुर होना। (२) सदा आचार्य गुरुजनों के अनुकूल प्रवर्तन करना। (३) गण के यश की वृद्धि, अपयश का निवारण एव रत्नाधिकों का यथायोग्य आदर भाव और सेवा करने में सिद्धहस्त होना। (४) शिष्य वृद्धि, उनके स रक्षण-शिक्षण में सहयोगी होना। रोगी साधुओं की यथायोग्य सार-सम्भाल करना एव मध्यस्थ भाव से साधुओं की शाँति बनाए रखने में निपुण होना।

दशा-५ : चित्त समाधि

प्रश्न-१ : इस दशा में चित्त समाधि के १० बोल किस तरह समझाये हैं ?

उत्तर- सा सारिक आत्मा को धन, वैभव, भौतिक सामग्री की प्राप्ति होने पर आन द का अनुभव होता है, उसी प्रकार आत्म गुणों की अनुपम उपलब्धि में आत्मार्थी मुमुक्षुओं को अनुपम आन दरूप चित्त समाधि की प्राप्ति होती है। वे दस उपलब्धिय I ये है- (१) अनुपम धर्म भावों की प्राप्ति या वृद्धि होने पर (२) जाति स्मरण ज्ञान होने पर, (३) अत्यन्त शुभ स्वप्न देखने पर (४) देव दर्शन होने पर (५) अवधिज्ञान (६) अवधि दर्शन (७) मनः पर्यवज्ञान (८) केवल ज्ञान (९) केवल दर्शन उत्पन्न होने पर (१०) कर्मो से मुक्त हो जाने पर।

दशा-६ : श्रावक पड़िमा

प्रश्न-१ : पड़िमा-प्रतिमा शब्द का क्या विशेषार्थ हैं ?

उत्तर- श्रावक प्रतिमा- श्रावक का प्रथम मनोरथ आर भ परिग्रह की निवृत्तिमय साधना करने का है। उस निवृत्ति साधना के समय वह विशिष्ट साधना के लिए श्रावक की प्रतिमाओं को अर्थात् विशिष्ट प्रतिज्ञाओं को धारण कर सकता है। अनिवृत्त साधना के समय भी श्रावक समकित की प्रतिज्ञा सहित सामायिक, पौषध आदि बारह व्रतों का आराधन करता है किन्तु उस समय वह अनेक परिस्थितियों एव जिम्मेदारियों के कारण, अनेकों आगारों के साथ उन व्रतों को धारण करता है किन्तु निवृत्तिमय अवस्था में आगारों के बिना उपासक प्रतिमाओं का पालन दृढ़ता के साथ किया जाता है।

प्रश्न-२ : श्रावक की ११ पड़िमाएँ कौन सी है, स्पष्ट करे ?

उत्तर- (१) पहली पड़िमा- आगार रहित निरतिचार सम्यक्त की प्रतिज्ञा का पालन। इसमें पूर्व के धारण किए अनेक नियम बारह व्रतों का पूर्व प्रतिज्ञा एव आगार अनुसार पालन किया जाता है, उन नियमों को छोड़ा नहीं जाता।

(२) दूसरी पड़िमा- अनेक छोटे, बड़े नियम प्रत्याख्यान अतिचार रहित और आगार रहित पालन करने की प्रतिज्ञा करना और यथावत पालन करना।

(३) तीसरी पड़िमा- सुबह, दोपहर एव शाम को नियत समय पर निरतिचार शुद्ध सामायिक करना एव १४ नियम भी नियमित पूर्ण रूप से आगार रहित धारण कर यथावत् पालन करना।

(४) चौथी पड़िमा- उपवास युक्त छः पौषध (दो अष्टमी, दो चतुदर्शी, अमावश, पूर्णिमा के दिन) आगार रहित निरतिचार पालन करना।

(५) पाँचवीं पड़िमा- पौषध के दिन पूर्ण रात्रि या नियत समय तक कायोत्सर्ग करना।

(६) छठी पड़िमा- ब्रह्मचर्य का आगार रहित प्रतिपूर्ण पालन करना। साथ ही निम्न नियम रखना- १. स्नान त्याग, २. रात्रि भोजन त्याग, ३. धोती की एक ला ग खुली रखना।

(७) सातवीं पड़िमा- सचित वस्तु खाने का त्याग आगार रहित।
(८) आठवीं पड़िमा- स्वय हिंसा करने का त्याग करना आगार रहित।
(९) नौवीं पड़िमा- दूसरों से सावद्य कार्य कराने का त्याग अर्थात् धर्म कार्य के अतिरिक्त किसी कार्य की प्रेरणा, निर्देश, आदेश नहीं करना।
(१०) दसवीं पड़िमा- सावद्य कार्य के अनुमोदन का भी त्याग करना अर्थात् अपने लिए बनाए गए आहारादि किसी भी पदार्थ को न लेना।
(११) ग्यारहवी पड़िमा- श्रमण के समान वेश एव चर्या धारण करना।

किन्तु लोच करना, विहार करना, सामुदानिक गोचरी करना और आजीवन स यम चर्या धारण करना इत्यादि का इसमें प्रतिब ध नहीं है। अतः वह भिक्षा आदि के समय स्वय को प्रतिमाधारी श्रावक ही कहता है और ज्ञातीजनों के घरों में ही गोचरी जाता है ।

आगे-आगे की प्रतिमाओं में पहले-पहले की प्रतिमाओं का पालन करना आवश्यक होता है।

दशा-७ : भिक्षु प्रतिमा

प्रश्न-१ : भिक्षु प्रतिमा धारण कौन भिक्षु कब कर सकता है ? और क्यों करता है ?

उत्तर- बारह भिक्षु प्रतिमा :- भिक्षु का दूसरा मनोरथ है कि 'कब में एकल विहार प्रतिज्ञा धारण करके विचरण करूँ'। भिक्षु प्रतिमा भी आठ मास की एकल विहार प्रतिज्ञा युक्त होती है। विशिष्ट साधना के लिए एव कर्मों की अत्यधिक निर्जरा के लिए आवश्यक योग्यता से सम्पन्न गीतार्थ(बहुश्रुत) भिक्षु इन बारह प्रतिमाओं को धारण करता है। इनके धारण करने के लिए प्रार भ के तीन स हनन, ९ पूर्वों का ज्ञान, २० वर्ष की दीक्षा एव २९ वर्ष की उम्र होना आवश्यक है, ऐसा कहा जाता है जो कि आगम सम्मत नहीं है कि तु आगम विपरीत है। अनेक प्रकार की साधनाओं के एव परीक्षाओं के बाद ही भिक्षु को प्रतिमा धारण करने की आज्ञा दी जाती है।

प्रश्न-२ : प्रतिमाधारी श्रमण के सामान्य नियम कौन से होते है ?

उत्तर- (१) दाता का एक पैर देहली के अन्दर और एक पैर बाहर हो। स्त्री गर्भवती आदि न हो, एक व्यक्ति का ही भोजन हो, उसमें से ही

विवेक के साथ लेना। **(२)** दिन के तीन भाग कल्पित कर किसी एक भाग में गोचरी लाना, खाना, कर लेना। **(३)** छः प्रकार की भ्रमण विधि के किसी भी अभिग्रह से गोचरी लेने जाना। **(४)** अज्ञात क्षेत्र में दो दिन और ज्ञात परिचित क्षेत्रों में एक दिन से अधिक नहीं ठहरना। **(५)** चार कारणों के अतिरिक्त मौन ही रहना, धर्मोपदेश भी नहीं देना। **(६-७)** तीन प्रकार की शय्या और तीन प्रकार के स स्तारक का ही उपयोग करना। **(८-६)** साधु के ठहरने के बाद उस स्थान पर कोई स्त्री पुरुष आवें, ठहरे या अग्नि लग जावे तो भी बाहर नहीं निकलना। **(१०-११)** पाँव से काँटा या आँख में से रज आदि नहीं निकालना। **(१२)** सूर्यास्त के बाद एक कदम भी नहीं चलना। रात्रि में मल-मूत्र की बाधा होने पर जा-आ सकता है। **(१३)** हाथ पाँव के सचित रज लग जाए तो प्रमार्जन नहीं करना और स्वतः अचित्त न हो जाए तब तक गोचरी आदि भी नहीं जाना। **(१४)** अचित्त जल से भी सुखशान्ति के लिए हाथ-पाँव आदि नहीं धोना। **(१५)** उन्मत्त पशु चलते समय सामने आ जाए तो भय से मार्ग नहीं छोड़ना। **(१६)** धूप से छाया में और छाया से धूप में नहीं जाना। ये नियम सभी प्रतिमाओं में आवश्यक समझ लेना।

प्रश्न-३ : बारह प्रतिमाओं का क्या स्वरूप है ?

उत्तर- प्रथम सात प्रतिमाएं एक-एक महिने की हैं। उनमें दत्ति की स ख्या १ से ७ तक वृद्धि होती है। आठवीं, नवमीं व दसवीं प्रतिमाएँ सात-सात दिन की एकान्तर तपयुक्त की जाती है। सूत्रोक्त तीन-तीन आसन में से रात्रि भर कोई भी एक आसन किया जाता है । **ग्याहरवीं** प्रतिमा में छट्ठ(बेले) के तप के साथ अहोरात्र का कायोत्सर्ग किया जाता है। **बारहवीं** भिक्षु प्रतिमा में अष्ठम तप (तेले) के साथ स्मशान आदि में एक रात्रि का कायोत्सर्ग किया जाता है।

दशा-८ : चातुमार्सिक समाचारी

प्रश्न-१ : इस दशा का क्या स्वरूप है ?

उत्तर- इस दशा का नाम पर्युषणा कल्प है। विक्रम की तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में अर्थात् वीर निर्वाण अठारवीं-उन्नीसवीं शताब्दी में इस दशा

के अनुचित्त उपयोग एव अवलम्बन से कल्प सूत्र की रचना कर, उसे प्रमाणिक प्रसिद्ध करके प्रचारित किया गया है। अन्य किसी विस्तृत सूत्र के पाठों के साथ इस दशा को जोड़कर और स्वच्छ दतापूर्वक अनगिनत परिवर्तन परिवर्धन करके इस दशा को पूर्ण विकृत कर व्यवछिन्न कर दिया गया है। अतः यह दशा अनुपलब्ध-व्यवछिन्न समझनी चाहिए। इसमें भिक्षुओं के चातुर्मास एव पर्युषण सम्बन्धी समाचारी के विषयों का कथन था।

प्रश्न-२ : इस दशा की प्राचीन नियुक्ति में क्या है ?

उत्तर- निर्युक्ति में ६१ गाथाएँ मौलिक विषय को कहने वाली है उनमें जिनजिन विषयों का समावेश किया गया है, उनका भाव इस प्रकार है।

(१) साधु-साध्वी को वर्षावास के एक महिना बीस दिन बीतने पर अर्थात् भादवा सुदी प चमी को पर्युषणा(स वत्सरी) करनी चाहिए।

(२) साधु-साध्वी जिस मकान में निवास करें वहाँ उन्हें प्रत्येक दिशा में आधा कोस सहित आधा योजन से आगे नहीं जाना चाहिए।

(३) पर्युषणा के दिन साधु-साध्वी को किंचित् भी आहार करना नहीं कल्पता है ।

(४) चातुर्मास में साधु-साध्वी को विगय का सेवन नहीं करना चाहिए । रोगादि कारण से विगय सेवन करना हो तो आचार्यादि की आज्ञा लेकर ही करना चाहिए।

(५) वर्षावास में साधु-साध्वी को शय्या स स्तारक ग्रहण करना कल्पता है अर्थात् जीव रक्षा हेतु आवश्यक समझना चाहिए।

(६) वर्षावास में साधु-साध्वी को तीन मात्रक ग्रहण करना कल्पता है यथा-१. उच्चार(बड़ी नीत का) मात्रक २. प्रश्रवण मात्रक ३. खेल-कफ मात्रक।

(७) साधु-साध्वी को पर्युषण के बाद गाय के रोम जितने बाल रखना नहीं कल्पता है अर्थात् गाय के रोम जितने बाल हों तो भी लोच करना आवश्यक होता है ।

(८) साधु-साध्वी की चातुर्मास में पूर्व भावित श्रद्धावान् के अतिरिक्त किसी को दीक्षा देना नहीं कल्पता है।

(९) चातुर्मास में साधु-साध्वी को समिति गुप्ति की विशेष रूप से सावधानी रखनी चाहिए।

(१०) साधु-साध्वी को पर्युषणा के बाद किसी भी पूर्व क्लेश(कषाय) को अनुपशान्त रखना नहीं कल्पता है।

(११) साधु-साध्वी को वर्ष भर के सभी प्रायश्चित्त तपों को चातुर्मास में वहन कर लेना चाहिए।

प्रश्न-३ : निर्युक्ति में ६७ गाथाएँ मिलती है तो उन ६ गाथाओं में क्या है ?

उत्तर- ६२वीं गाथा में कहा है 'तीर्थंकर और गणधरों की स्थविरावली २४ वें तीर्थंकर के शासन में कही जाती है' और शेष(६३-६७) पाँच गाथाओं में अल्प वर्षा में गोचरी जाने का विधान किया गया है।

उपलब्ध पर्युषणा कल्पसूत्र में तो तीर्थंकर, गणधर और स्थविरों के वर्णन पहले हैं और उसके बाद समाचारी का वर्णन है। किन्तु निर्युक्ति में समाचारी के प्रायश्चित्तों का विधान करने वाली उपस हार गाथा के बाद में उसका कथन है। अतः उसका कोई महत्त्व नहीं है अपितु ऐसा कथन अनेक आश काओं का जनक भी है अर्थात् अपने आग्रह की सिद्धि के लिए यह गाथा रचकर जोड़ दी गई है।

स्थविरावली के कथन के बाद वर्षा में गोचरी जाने का विधान पाँच निर्युक्ति गाथाओं में है। वह भी दशवैकालिक सूत्र तथा आचारा ग सूत्र से विपरीत विधान है। अतः स देहास्पद है अर्थात् उपस हार के बाद होने से और आगम विपरीत कथन करने वाली होने से ये पाँच गाथाएँ भी प्रक्षिप्त ही प्रतीत होती हैं। इस प्रकार निर्युक्ति की अ तिम छः गाथाएँ प्रक्षिप्त ज्ञात होती है। जब सूत्र पाठों में भी इतना परिवर्तन हो जाय तो निर्युक्ति में होना क्या आश्चर्य है ?

उक्त सभी विचारणाओं का तात्पर्य यह है कि पर्यूषणा कल्पसूत्र स्वत त्र स कलित सूत्र है, न कि दशाश्रुतस्क ध सूत्र की आठवीं दशा है। अतः आठवीं दशा का स क्षिप्त पाठ जो समूचे पर्यूषणा कल्पसूत्र को समाविष्ट करता हुआ दिखाया जाता है वह अशुद्ध है अर्थात् कल्पित है। यह निर्युक्ति आदि व्याख्याओं से भी स्पष्ट सिद्ध है।

पर्यूषणाकल्प सूत्र को ८वीं दशा एव भद्रबाहु स्वामी रचित तथा

भगवद् भाषित मानने में अनेक विरोध एव विकल्प उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार व्यवच्छिन्न हुई वर्तमान में इस आठवीं दशा के आदि, मध्य और अ तिम मूलपाठ का सही निर्णय निर्युक्ति व्याख्या के आधार से किया जाना भी कठिन है। अतः उपलब्ध स क्षिप्त सूत्र को स्वीकार न करके इस दशा को व्यवच्छिन्न मानकर स तोष करना ही श्रेयस्कर है।

प्रश्न-४ : चातुर्मासिक समाचारी के ११ पोइ ट का मूलपाठ किस प्रकार है, जिसकी निर्युक्तिकार ने व्याख्या करी है ?

उत्तर- निर्युक्तिकार भद्रबाहु स्वामी द्वारा स्पर्शित दशाश्रुतस्क ध का आठवाँ अध्ययन का मूलपाठ इस प्रकार है-

(१) कप्पइ णिग्ग थाण वा णिग्ग थीण वा वासावासाण सबीसराइए मासे वीईक ते पज्जोसवण पज्जोसवित्तए ।

(२) वासावास पज्जोसवियाण कप्पइ णिग्ग थाण वा णिग्ग थीण वा सव्वओ सम ता सकोस जोयण उग्गह ओगिण्हिताण चिटिठत्तए अहाल दमवि उग्गहे ।

(३) वासावास पज्जोसवियाण नो कप्पइ णिग्ग थाण वा णिग्ग थीण वा पज्जोसवणाए इत्तरिय पि आहार आहारित्तए ।

(४) वासावास पज्जोसवियाण नो कप्पइ णिग्ग थाण वा णिग्ग थीण वा अण्णयरि विगइ आहारित्तए ।

(५) वासावास पज्जोसवियाण कप्पइ णिग्ग थाण वा णिग्ग थीण वा स थारगाइ गिण्हित्तए वा धारित्तए वा ।

(६) वासावास पज्जोसवियाण कप्पइ णिग्ग थाण वा णिग्ग थीण वा तिण्णि मत्तगाइ गिण्हित्तए वा धारित्तए वा ।

(७) वासावास पज्जोसवियाण नो कप्पइ णिग्ग थाण वा णिग्ग थीण वा पर पज्जोसवणाओ गोलोममेताइ पि केसाइ उवाइणावेत्तए ।

(८) वासावास पज्जोसवियाण नो कप्पइ णिग्ग थाण वा णिग्ग थीण वा सेह वा सेहीं वा पव्वावित्तए णण्णत्थ पुव्वभाविएण स विग्गेण ।

(९) वासावास पज्जोसवियाण णिग्ग थाण वा णिग्ग थीण वा समिइसु गुत्तीसु सम्म उवउत्ते भवित्तए ।

(१०) वासावास पज्जोसवियाण नो कप्पइ णिग्ग थाण वा णिग्ग थीण वा पर पज्जोसवणाओ अहिगरण वइत्तए ।

(११) वासावास पज्जोसवियाण कप्पइ णिग्ग थाण वा णिग्ग थीण वा सव्वं पायच्छित्तं तवं परिवहित्तए ।

दशा-९ : महामोह स्थान

प्रश्न-१ : इस दशा में महामोह ब ध के ३० बोल कौन से कहे हैं ?

उत्तर- आठ कर्मों में मोहनीय कर्म प्रबल है उसमें भी महामोहनीय कर्म अवस्था और भी तीव्र होती है, उसके ब ध सम्बन्धी ३० कारण यहाँ कहे गए हैं -

(१-३) त्रस जीवों को जल में डुबाकर, श्वास रु धकर, धुआँ करके मारना। (४-५) शस्त्र प्रहार से सिर फोड़कर, मस्तक पर गीला चमड़ा बाँधकर मारना। (६) धोखा देकर भाला आदि से मारकर हँसना। (७) मायाचार कर उसे छिपाना या शास्त्रार्थ छिपाना। (८) भरी सभा में मिश्र भाषा प्रयोग कर कलह करना। (१०) विश्वस्त म त्री द्वारा राजा को राज्यभ्रष्ट कर देना। (११-१२) मिथ्या ही अपने को ब्रह्मचारी या बालब्रह्मचारी प्रसिद्ध करना। (१३) उपकारी का ही धन अपहरण करना। (१४) उपकारी पर अपकार करना। (१५) रक्षक होकर भक्षक का कार्य करना। (१६-१७) अनेकों के रक्षक नेता या स्वामी आदि को मारना। (१८) दीक्षार्थी या दीक्षित को स यम से च्युत करना। (१९) तीर्थंकरों की निन्दा करना। (२०) मोक्ष मार्ग की द्वेष पूर्वक निन्दा करके भव्य जीवों को मार्ग भ्रष्ट करना। (२१-२२) उपकारी आचार्य उपाध्याय की अवहेलना करना। उनका आदर, सेवा-भक्ति न करना। (२३-२४) बहुश्रुत या तपस्वी नहीं होते हुए भी स्वय को बहुश्रुत या तपस्वी कहना। (२५) समर्थ होते हुए भी कुलषित भावों के कारण सेवा नहीं करना। (२६) स घ में भेद उत्पन्न करना। (२७) जादू-टोना आदि करना। (२८) कामभोगों में अत्यधिक आशक्ति एव अभिलाषा रखना। (२९) देवों की शक्ति का अपलाप(अस्वीकार) करना, उनकी निन्दा करना। (३०) देवी देवता के नाम से झूठा ढ़ोंग करना।

अध्यवसायों की तीव्रता या क्रूरता के होने पर इन प्रवृत्तियों द्वारा महामोहनीय कर्म का बन्ध होता है।

दशा-१० : नियाणा(निदान)

प्रश्न-१ : निदान-नियाणा किसे कहते हैं ?

उत्तर– स यम तप की साधना रूप सम्पत्ति को भौतिक लालसाओं की उत्कटता के कारण आगे के भव में ऐच्छिक सुखमय अवस्था प्राप्त करने के लिए दा व पर लगा देना 'निदान' (नियाणा करना) कहा जाता है। ऐसा करने से यदि स यम तप की पूँजी अधिक हो तो निदान करना फलीभूत हो जाता है किन्तु उसका परिणाम हानि कर होता है अर्थात् राग-द्वेषात्मक निदानों के कारण निदान फल के साथ मिथ्यात्व एव नरकादि दुर्गति की प्राप्ति होती है और धर्म भाव के निदानों से मोक्ष प्राप्ति में दूरी पड़ती है। अतः निदान कर्म त्याज्य है।

प्रश्न–२ : ९ निदान स क्षेप में कौन से है ?

उत्तर– नौ निदान इस प्रकार है– **(१)** निर्ग्रन्थ द्वारा पुरुष के भोगों का निदान। **(२)** निर्ग्रन्थी द्वारा स्त्री के भोगों का निदान। **(३)** निर्ग्रन्थ द्वारा स्त्री के भोगों का निदान। **(४)** निर्ग्रन्थी द्वारा पुरुष के भोगों का निदान। **(५–७)** स कल्पनुसार दैविक सुख का निदान। **(८)** श्रावक अवस्था प्राप्ति का निदान। (९) साधु जीवन प्राप्ति का निदान। इन निदानों का दुष्फल जानकर निदान रहित स यम तप की आराधना करनी चाहिए।

टिप्पण :– ***पाँचवा निदान– स्वय की देवी, स्वय की विकुर्वित देवी एव अन्य की देवी के भोगों की चाहना करना।***

छट्ठे निदान में अन्य देवों की देवी की चाहना नहीं की जाती है और सातवें में स्वय की विकुर्वित देवी की चाहना भी नहीं होती है। अनिदानकृत आराधक श्रमण के कोई भी चाहना नहीं होती है। वह वहाँ सहज दैविक सुख में ही स तुष्ट रहता है।

दशाश्रुतस्कंध सूत्र स ब धी परिशिष्ट

परिशिष्ट–१

आठवीं दशा के विकृत एव विच्छेद होने का स प्रेक्षण

इस दशा का नाम 'पर्युषणाकल्प' है इसका उल्लेख ठाणा ग सूत्र के दसवें ठाणे में है तथा दशाश्रुतस्कंध निर्युक्ति गाथा में ७ में 'कप्पो' ऐसा नाम भी उपलब्ध है।

दशाश्रुतस्क ध सूत्र की सभी दशाओं में एक-एक विषय का ही निरूपण किया गया है। तदनुसार इस दशा में भी 'पर्युषणाकल्प' सम्बन्धी एक विषय का ही प्रतिपादन स्थविर भगव त श्री भद्रबाहु स्वामी ने किया है। निर्युक्तिकार के समय तक उसका वही रूप रहा है।

निर्युक्तिकार ने इस दशा में स यम-समाचारी के कुछ विषयों का विवेचन किया है और प्रार भ में 'पर्युषण' शब्द की व्याख्या की है। सम्पूर्ण सूत्र की निर्युक्ति गाथा ६७ हैं। जिसमें प्रार भ की २३ गाथाओं में केवल पर्युषण का विस्तृत विवेचन है।

वर्तमान में उपलब्ध स क्षिप्त पाठ की रचना में स पूर्ण कल्पसूत्र (पर्युषणाकल्प–सूत्र) का समावेश किया गया है। उस कल्पसूत्र में २४ तीर्थंकरों के जीवन का वर्णन है। उनमें भगवान महावीर के पाँच कल्याणकों का विस्तृत वर्णन है और शेष तीर्थंकरों के कल्याणकों का स क्षिप्त वर्णन है। बाद में यह भी सूचित किया है कि भगवान महावीर स्वामी को निर्वाण प्राप्त हुए ९८० वर्ष बीत गये हैं और पार्श्वनाथ भगवान को मोक्ष गये १२३० वर्ष बीत गये हैं। तदनन्तर स वत्सर सम्बन्धी मतभेद का भी कथन है। वीरनिर्वाण के बाद एक हजार वर्ष की अवधि में हुए आचार्यों की स्थविरावली है। उनमें भी मतभेद और स क्षिप्त-विस्तृत वाचना भेद है। अ त में चातुर्मास समाचारी है। चिन्तन करने पर इन विभिन्न विषयों के बारहसौ श्लोक प्रमाण जितनी बड़ी आठवीं दशा का होना उचित प्रतीत नहीं होता है।

दशाश्रुतस्कन्ध छेदसूत्र है। छेदसूत्रों के विषय और उनकी रचना पद्धति कुछ भिन्न ही है। बृहत्कल्प, व्यवहार और निशीथ सूत्र छेद सूत्र हैं। इनमें छोटे-छोटे उद्देशक हैं और केवल आचार का विषय है। दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र के निर्युक्तिकार भी पाँचवी गाथा में इस सूत्र की छोटी छोटी दशाएँ होने का ही निर्देश करते हैं और बड़ी दशाएँ अन्य अ गसूत्रों में है ऐसा कथन करते हैं। अतः वर्तमान में उपलब्ध कल्पसूत्र को समाविष्ट करने वाला स क्षिप्त पाठ प्राचीन प्रतीत नहीं होता है तथा निर्युक्ति व्याख्या से भी ऐसा ही सिद्ध होता है। क्यों कि निर्युक्तिकार ने इस अध्ययन में पर्युषणासूत्र की सर्वप्रथम व्याख्या की है जबकि कल्पसूत्र में सर्वप्रथम नमस्कार म त्र तथा तीर्थंकर वर्णन है और पर्युषणा का सूत्र ९०० श्लोक प्रमाण वर्णन के बाद में है।

कुछ चिन्तकों का यह मत है कि 'आठवीं दशा को अलग करके कल्पसूत्र नाम अ कित कर दिया गया है, अतः सम्पूर्ण कल्पसूत्र भद्रबाहु स्वामी रचित आठवीं दशा ही है।' यह एक कल्पना मात्र है और इसे बिना सोचे-विचारे अनेकों ने सत्य मान लिया है।

न दी सूत्र में तीन कल्प सूत्रों के नाम है– १. कप्पसुत्त (बृहत्कल्पसूत्र) **२.** चुल्लकप्पसुत्त **३.** महाकप्पसुत्त । किन्तु इस पर्युषणा कल्पसूत्र का कहीं नाम नहीं हैं। न दी सूत्र का स कलनकाल वीरनिर्वाण की दशवीं शताब्दी का माना जाता है। तब तक इस कल्पसूत्र का स्वत त्र अस्तित्व ही नहीं था, यह स्पष्ट और सुनिश्चित्त है।

आर्य भद्रबाहु स्वामी ने दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र, कल्पसूत्र (बृहत्कल्प सूत्र) और व्यवहार सूत्र इन तीन छेद सूत्रों की रचना की है, इनमें से एक सूत्र का नाम कल्पसूत्र है ही, तो उन्हीं के दशाश्रुतस्कन्ध की एक दशा को अलग करके नया कल्पसूत्र का स्वत त्र स कलन करना किसी भी विद्वान द्वारा कैसे आवश्यक या उचित माना जा सकता है ?

दशाश्रुतस्कन्ध-निर्युक्तिकार ने प्रथम गाथा में भद्रबाहु स्वामी को १४ पूर्वी कहकर व दन किया है और तीन छेद सूत्रों का कर्ता कहा है।

व दामि भद्दबाहु , पाईण चरिम सगलसुयणाणि ।
सुत्तस्सकारगमिसि , दसासुकप्पेयववहारे ॥ निर्युक्तिगाथा ॥१॥

चूर्णिकार ने भी इस गाथा की व्याख्या करते हुए कहा है कि- निर्युक्तिकार इस प्रथम गाथा में सूत्रकार को आदि म गल के रूप में प्रणाम करते हैं। अतः यह सहज सिद्ध है कि चूर्णिकार के समय तक स्वोपज्ञ निर्युक्ति कहने की भ्रांत धारणा भी नहीं थी और इससे यह भी स्पष्ट होता है कि सूत्रकार भद्रबाहु स्वामी से निर्युक्तिकार भिन्न हुए हैं। क्यों कि निर्युक्तिकार स्वय सूत्रकर्ता भद्रबाहु स्वामी को वदन करते है। अतः स्वोपज्ञ निर्युक्ति मानना भी सर्वथा अस गत है। दशाश्रुत-स्कन्ध के निर्युक्तिकार ने निर्युक्ति करते हुए आठवीं दशा की निर्युक्ति भी की है। उसमें न तो इस स क्षिप्त पाठ की सूचना की है और न ही अलग स कलित किए गये कल्पसूत्र की कोई चर्चा करी है।

निर्युक्तिकार ने ८ आचार-प्रधान आगमों की निर्युक्ति की है।

यदि पर्युषणा कल्पसूत्र आठवीं दशा से अलग होता तो उसका निर्देश या उसकी व्याख्या अवश्य करते। अतः यह निश्चित है कि निर्युक्तिकार के समय तक भी इस बारसा कल्पसूत्र अर्थात् पर्युषणा कल्पसूत्र का अस्तित्व नहीं था। साथ ही एक बात और भी ध्यान में रखनी चाहिए कि इसका परिचायक यह नाम विक्रम की बारहवीं शताब्दी पूर्व के किसी भी आगम या ग्रन्थ में देखने को नहीं मिलता है।

आचार्य मलयगिरि के समय तक प्रायः सभी आगमों की निर्युक्ति भाष्य, चूर्णि, टीका आदि व्याख्याएँ रची गई थीं, किन्तु इस कल्पसूत्र की व्याख्या करने का किसी भी विद्वान ने स कल्प नहीं किया और कहीं भी किसी ने इसका नाम निर्देशित भी नहीं किया।

एक प्रचलित धारणा यह है कि 'ध्रुवसेन राजा के पुत्र शोक को दूर करने के लिये कालकाचार्य ने आठवीं दशा का सभा में वाचन किया और उस समय से ही यह अलग सूत्र के रूप में प्रचलित हुआ। उसका आज तक पर्युषण के दिनों में सभा के बीच वाचन किया जाता है।' यह भी एक कल्पना कल्पित करके जोड़ दी गई है इसमें मौलिकता तनिक भी नहीं है।

इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि कालकाचार्य अनेक हुए हैं, उनमें अ तिम कालकाचार्य देवर्द्धिगणि के समय वीरनिर्वाण की दसवीं सदी में और विक्रम की छट्ठी सदी के प्रार भ में हुए हैं।

ध्रुवसेन राजा भी तीन हुए हैं, जिनमें प्रथम ध्रुवसेन वीरनिर्वाण के ११ वीं शताब्दी के मध्यकाल में, दूसरे १२ वीं शताब्दी के मध्यकाल में और तीसरे १२ वीं शताब्दी के अ तिम काल में हुए हैं। प्रथम ध्रुवसेन राजा के पुत्र-शोक की घटना वीरनिर्वाण के बाद ग्यारवीं शताब्दी के ५४ वें वर्ष में घटी है। उस समय में आन दपुर में कालकाचार्य के चातुर्मास करने का कोई भी उल्लेख इतिहास से सिद्ध नहीं हो सकता है।

सामान्य साधुओ को और साध्वियों को भी छेदसूत्र नहीं पढ़ाये जाने की धारणा और परम्परा के अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। ऐसे इस छेदसूत्र के अध्ययन का पुत्रशोक दूर करने के लिये राजसभा में वाचन करने का कथन किचित् भी उचित नहीं कहा जा सकता है।

इस प्रकार उपलब्ध कल्पसूत्र का यह स्वत त्र स्वरूप प्राचीन

कालीन सिद्ध नहीं होता है। अतः दशाश्रुतस्कन्ध की आठवीं दशा में उसके सम्पूर्ण अस्तित्व का अथवा उसके स क्षिप्त पाठ का बाद में स कलित होना या प्रक्षिप्त करना स्वतः सिद्ध है।

अनुप्रेक्षा से फलित निष्कर्ष यह है कि विक्रम की १२ वीं, १३ वीं शताब्दी में चुल्लकल्पसूत्र, महाकल्पसूत्र या पट्टावलिया आदि के स ग्रह से यह सूत्र स कलित किया गया और इसके साथ पर्युषणाकल्प नामक आठवीं दशा रूप समाचारी को परिवर्धित या परिवर्तित करके अ त में जोड़ा गया है तथा उस समूचे स ग्रहसूत्र को चौदह पूर्वी भद्रबाहु की रचना कहकर प्रसिद्ध किया गया और प्राचीनता दिखाने के लिए सभा में वाचन का नाम भी कल्पित व अस गत कथा द्वारा कालाकाचार्य से जोड़ दिया गया। यहाँ तक कि दशाश्रुतस्कन्ध की आठवीं दशा में भी पूरा पर्युषणा कल्पसूत्र लिख दिये जाने का दूस्साहस होने लगा। इस प्रकार २१०० श्लोक-प्रमाण पूर्ण दशाश्रुतस्कन्ध कल्पित कर उसको चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु की रचना कहकर उसका महत्त्व बढ़ाया गया है।

इससे अच्छी तरह निर्णय हो जाता है कि 'आठवीं' दशा में उपलब्ध सम्पूर्ण पर्युषणा कल्पसूत्र रूप स क्षिप्त पाठ मौलिक नहीं हैं।

पर्युषणा कल्प सूत्र में स्थविरावली के बाद समाचारी के प्रार भ का सूत्र भी मौलिक और शुद्ध नहीं है, उस सूत्र का भावार्थ देखने से यह अच्छी तरह समझ में आ सकता है।

समाचारी प्रकरण के प्रथम सूत्र में यह कहा गया कि 'श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने वर्षावास के एक महीना बीस दिन बीतने पर वर्षावास किया। उसी प्रकार गणधरों ने किया, उसी प्रकार उनके शिष्यों ने एव स्थविरों ने किया है और उसी प्रकार आजकल विचरने वाले श्रमण निर्ग्रन्थ करते है तथा हमारे आचार्य उपाध्याय भी उसी प्रकार वर्षावास करते हैं और हम भी वर्षावास का एक मास और बीस दिन बीतने पर(भादवासुदी पँचमी) को चातुर्मास करते हैं। उसके पहेले भी अर्थात् चतुर्थी को करना कल्पता है किन्तु उसके बाद में करना नहीं कल्पता है।'

दशाश्रुतस्कन्ध से हटाये गये पर्युषणाकल्प अध्ययन की साधु

समाचारी वर्णन के पाठ का यह प्रथम सूत्र है। चौदहपूर्वी भद्रबाहु द्वारा निर्यूढ़ बृहत्कल्प और व्यवहार सूत्र भी है। इनके सूत्रों से मिलान करने पर समाचारी का यह सूत्र उनकी रचनाशैली के समकक्ष प्रतीत नहीं होता है क्यों कि इस सूत्र के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न उद्भूत होते हैं। यथा-

(१) भगवान् ने कौनसा वर्षावास किस ग्राम या नगर में एक मास और बीस दिन बाद किया ? क्यों कि भगवान् ने तो सभी चातुर्मास आषढ़ी चौमासी के पूर्व ही स्थिर किये, ऐसे उल्लेख आगमों और ग्रन्थों में उपलब्ध है।

वर्षावास के लिए ठहरने के स्थान की चार मास पर्यन्त आज्ञा लेकर ही स त-सतियों के रहने की परम्परा प्राचीनकाल से आज तक अविच्छिन्न रूप से प्रचिलत है। इतिहास में एक भी उल्लेख ऐसा उपलब्ध नहीं है कि किसी भी अमुक साधु ने एक मास और बीस दिन बाद भादवा शुक्ला पँचमी को चौमासा बिठाया हो।

भगवान् के नाम की किसी प्रकार का विधान करना, वह भी छेदसूत्र की पद्धति नहीं है। निर्युक्तिकार ने भी प्रथम सूत्र की व्याख्या २३ गाथाओं में की है उनमें कहीं भगवान् महावीर स्वामी के वर्षावास के निर्णय का कथन नहीं है।

(२) 'भगवान ने जैसा किया वैसा ही गणधरों ने किया' वैसा ही उनके शिष्यों ने एव स्थविरों ने किया, वैसा ही आजकल के श्रमण तथा हमारे आचार्य और हम करते हैं। पहले दिन पर्युषण कर सकते हैं किन्तु बाद में नहीं कर सकते। ऐसी क्रमबद्ध रचना को चौदहपूर्वी भद्रबाहु स्वामी की रचना कहना भी अस गत है।

(३) उक्त सूत्र में 'हम' शब्द का प्रयोग करने वाला कौन है ? भद्रबाहु जैसे महान् श्रुतधर इस प्रकार कहें, यह कल्पना करना भी उचित प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार पूर्वापर के तथ्यों पर चिन्तन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान में उपलब्ध पर्युषणा कल्पसूत्र के समाचारी प्रकरण का यह प्रथम सूत्र और अन्य अनेक सूत्र परिवर्तित और परिवर्धित हैं, अतः यह समाचारी भी भद्रबाहु की रचना प्रतीत नहीं होती है।

इस दशा का जो स्वरूप निर्युक्तिकार के सामने था वह उपलब्ध

कल्पसूत्र में दिखाई नहीं देता है। अतः इस आठवीं दशा को स क्षिप्त पाठ वाली कहने की अपेक्षा आचारा ग के सातवें अध्ययन के समान विलुप्त कहना ही उचित प्रतीत होता है।

यहाँ अनेक स स्करणों में जो स क्षिप्त मूलपाठ है वह पर्युषणा कल्पसूत्र का प्रथम सूत्र और अ तिम सूत्र का अ श लेकर स कलित किया हुआ है। यह परम्परा का पालन मात्र है।

आगमों के सूत्रपाठ का एक अक्षर भी आगे पीछे, कम, ज्यादा, इधर-उधर करना बहुत बड़ा दोष व ज्ञानातिचार माना गया है। फिर भी समय-समय पर अनेक ऐसे प्रक्षेप आगमों में हुए हैं। उनमें से यह भी एक ज्वल त उदाहरण है।

उपलब्ध कल्पसूत्र का २९१ वा अ तिम उपस हार सूत्र जो है उसका भावार्थ यह है कि 'सम्पूर्ण(१२०० श्लोक प्रमाण का पर्युषणा कल्पसूत्र) अध्ययन(आठवीं दशा) भगवान महावीर स्वामी ने राजगृह नगर में देवयुक्त परिषद् में वार वार कहा।' इस उपस हार सूत्र को मनीषी पाठक पढ़कर आश्चर्य करेंगे कि भगवान के जीवन का सारा वर्णन उनके ही मुख से परिषद में कहलाना और निर्वाण के ९८० वर्ष या ९९३ वर्ष बीतने का कथन, स्थविरों की व दना के पाठ सहित स्थविरावली तथा अस गत पाठों से युक्त समाचारी को महावीर के श्रीमुख से कहलवाना और उसी आठवीं दशा को १४ पूर्वी भद्रबाहु रचित कहना कितना बेतुका प्रयास है। जिसे किसी भी तरह सत्य सिद्ध नहीं किया जा सकता।

यह कल्पसूत्र भगवान महावीर ने राजगृही नगरी के गुणशील उद्यान में वार वार कहा था तो किस दिन कहा ? क्या एक ही दिन में कहा या अलग-अलग दिनों में कहा ? बार बार क्यों कहा ? कितने घन्टों तक निर तर कहा ? इत्यादि प्रश्नों का सही समाधान कुछ नहीं मिल सकता है।

निर्युक्तिकार ने इस दशा के जिन-जिन विषयों की व्याख्या की है उनसे भी उक्त प्रश्नों का निर्णय नहीं हो पाता। निर्युक्ति की ६१ वीं उपस हार गाथा है, उसके बाद उपलब्ध ६ गाथाओं को भी मौलिक नहीं कहा जा सकता।

इकसठ गाथाओं में आये विषयों का सारा श पहले पृष्ठ-६५, प्रश्न-२ में बताया गया है ।

६२ वीं गाथा में कहा है 'तीर्थंकर और गणधरों की स्थविरावली २४ वें तीर्थंकर के शासन में कही जाती है' और शेष(६३-६७) पाँच गाथाओं में अल्प वर्षा में गोचरी जाने का विधान किया गया है।

उपलब्ध पर्युषणा कल्पसूत्र में तो तीर्थंकर, गणधर और स्थविरों के वर्णन पहले हैं और उसके बाद समाचारी का वर्णन है। किन्तु निर्युक्ति में समाचारी के प्रायश्चित्तों का विधान करने वाली उपस हार गाथा के बाद में उसका कथन है। अतः उसका कोई महत्त्व नहीं है अपितु ऐसा कथन अनेक आश काओं का जनक भी है अर्थात् अपने आग्रह की सिद्धि के लिए यह गाथा रचकर जोड़ दी गई है।

स्थविरावली के कथन के बाद वर्षा में गोचरी जाने का विधान पाँच निर्युक्ति गाथाओं में है। वह भी दशवैकालिक सूत्र तथा आचारा ग सूत्र से विपरीत विधान है। अतः स देहास्पद है अर्थात् उपस हार के बाद होने से और आगम विपरीत कथन करने वाली होने से ये पाँच गाथाएँ भी प्रक्षिप्त ही प्रतीत होती हैं। इस प्रकार निर्युक्ति की अ तिम छः गाथाएँ प्रक्षिप्त ज्ञात होती है। जब सूत्र पाठों में भी इतना परिवर्तन हो जाय तो निर्युक्ति में होना क्या आश्चर्य है ?

उक्त सभी विचारणाओं का तात्पर्य यह है कि पर्युषणा कल्प सूत्र स्वत त्र स कलित सूत्र है, न कि दशाश्रुतस्क ध सूत्र की आठवीं दशा है। अतः आठवीं दशा का स क्षिप्त पाठ जो समूचे पर्यूषणा कल्प सूत्र को समाविष्ट करता हुआ दिखाया जाता है वह अशुद्ध है अर्थात् कल्पित है। यह निर्युक्ति आदि व्याख्याओं से भी स्पष्ट सिद्ध है।

पर्यूषणा कल्प सूत्र को आठवीं दशा एव भद्रबाहु स्वामी रचित तथा भगवद् भाषित मानने में अनेक विरोध एव विकल्प उत्पन्न होते हैं।

अतः उपलब्ध स क्षिप्त सूत्र को स्वीकार करने की अपेक्षा तो इस दशा को व्यवच्छिन्न मानकर स तोष करना ही श्रेयस्कर है।

परिशिष्ट-२ (दशा-३)

विनय एव आशातना का बोध

भगवती सूत्र में वीतराग धर्म का मूल, विनय कहा गया है। दशवै. अ. ९ में वृक्ष की उपमा देकर कहा गया है कि- 'जैसे वृक्ष

के मूल से ही स्क ध आदि सभी विभागों का विकास होता है उसी प्रकार धर्म का मूल विनय है और उसका अ तिम फल मोक्ष है। विनय से ही कीर्ति, श्रुत, श्लाघा और सम्पूर्ण गुणों की प्राप्ति होती है'। विनय सभी गुणों का प्राण है। जिस प्रकार निष्प्राण शरीर नि्रुपयोगी हो जाता है उसी प्रकार विनय के अभाव में सभी गुण-समूह व्यर्थ हो जाते हैं अर्थात् वे कुछ भी प्रगति नहीं कर पाते हैं।

अविनीत शिष्य को बृहत्कल्प सूत्र उ. ४ में शास्त्र की वाचना के अयोग्य बताया गया है।

गुरु का विनय नहीं करना या अविनय करना ये दोनों ही आशातना के प्रकार हैं। आशातना देव एव गुरु की तथा स सार के किसी भी प्राणी की हो सकती है। धर्म सिद्धा तो की आशातना भी होती है। अतः आशातना की विस्तृत परिभाषा इस प्रकार होती है- देवगुरु की विनय भक्ति न करना, अविनय अभक्ति करना, उनकी आज्ञा भ ग करना या निन्दा करना, धर्म सिद्धा तों की अवहेलना करना, विपरीत प्ररूपणा करना और किसी भी प्राणी के साथ अप्रिय व्यवहार करना, उसकी निन्दा या तिरस्कार करना 'आशातना' है। लौकिक भाषा में इसे असभ्य व्यवहार(या सभ्य व्यवहार का अभाव) कहा जाता है।

आवश्यक सूत्र के चौथे अध्याय में तेंतीस आशातनाओं में ऐसी सभी प्रकार की आशातनाओं का कथन है। किन्तु इस तीसरी दशा में केवल गुरु और रत्नाधिक(अधिक स यम पर्याय वाले) की आशातना का ही कथन किया गया है।

निशीथ सूत्र के दसवें उद्देशक में गुरु व रत्नाधिक की आशातना का गुरु चौमासी प्रायश्चित्त कहा गया है और तेरहवें एव पन्द्रहवें में क्रमशः गृहस्थ तथा सामान्य साधु की आशातना का प्रायश्चित्त विधान है। गुरु व रत्नाधिक की तेंतीस आशातनाएँ इस प्रकार है -

चलना, खड़े रहना और बैठना तीन क्रियाओं की अपेक्षा नौ आशातनाएँ कही गई है। गुरु या रत्नाधिक के आगे या समश्रेणी में अथवा पीछे अत्यन्त निकट चलने से उनकी आशातना होती है।

आगे चलना अविनय आशातना है, समकक्ष चलना विनयाभाव आशातना है, पीछे अत्यन्त निकट चलना अविवेक आशातना है।

इसी तरह खड़े रहने और बैठने के विषय में भी समझ लेना चाहिए। इन आशातनाओं से शिष्य के गुणों का ह्रास होता है, लोगों में अपयश होता है और वह गुरुकृपा प्राप्त नहीं कर सकता है। अतः गुरु या रत्नाधिक के साथ बैठना, चलना, खड़े रहना हो तो उनसे कुछ पीछे या कुछ दूर रहना चाहिए। कभी उनके सम्मुख बैठना आदि हो तो भी उचित दूरी पर विवेकपूर्वक बैठना चाहिए। यदि गुरु से कुछ दूरी पर चलना हो तो विवेकपूर्वक आगे भी चला जा सकता है। गुरु या रत्नाधिक की आज्ञा होने पर आगे पार्श्वभाग में या निकट कहीं भी बैठने आदि में आशातना नहीं होती है।

शेष आशातनाओं का सारा श यह है कि गुरु या रत्नाधिक के साथ आना-जाना आलोचनादि प्रत्येक प्रवृत्ति में शिष्य यही ध्यान रखे कि ये प्रवृत्तियाँ उनके करने के बाद करे। उनके वचनों को शा त मन से सुनकर स्वीकार करें। अशनादि आहार पहले उनको दिखावे। उन्हें बिना पूछे कोई कार्य न करे। उनके साथ आहार करते समय आसक्ति से मनोज्ञ आहार न खावे। उनके साथ वार्तालाप करते समय या विनय-भक्ति करने में और प्रत्येक व्यवहार करने में उनका पूर्ण सन्मान रखे। उनके शरीर की तथा उपकरणों की भी किसी प्रकार से अवज्ञा न करें।

गुरु या रत्नाधिक की आज्ञा से यदि कोई प्रवृत्ति करे और उसमें आशातना दिखे तो भी आशातना नहीं कही जाती है। प्रत्येक शिष्य को चाहिए कि वह अशातनाओं को समझकर अपने जीवन को विनयशील बनावें और आशातनाओं से बचे। क्यों कि गुरु या रत्नाधिक की आशातना से इस भव और परभव में आत्मा का अहित होता है। इस विषय का स्पष्ट दृष्टा त सहित वर्णन दशवै. अ. ९ में है। प्रत्येक साधक को उस अध्ययन का मनन एव परिपालन करना चाहिए।

परिशिष्ट-३ (दशा-४)

आठ स पदावान आचार्य का नेतृत्व

(१) सर्वप्रथम आचार्य का 'आचार-सम्पन्न' होना आवश्यक है क्यों कि आचार की शुद्धि से ही व्यवहार शुद्ध होता है।

(२) अनेक साधकों का मार्गदर्शक होने से 'श्रुतज्ञान से सम्पन्न' होना भी आवश्यक है। बहुश्रुत ही सर्वत्र निर्भय विचरण कर सकता है।

(३) ज्ञान और क्रिया भी 'शारीरिक सौष्ठव' होने पर ही प्रभावक हो सकते हैं, रुग्ण या अशोभनीय शरीर धर्म-प्रभावना में सहायक नहीं होता है।

(४) धर्म के प्रचार प्रसार में प्रमुख साधन वाणी भी है। अत: तीन सम्पदाओं के साथ-साथ 'वचन स पदा' भी आचार्य के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

(५) बाह्य प्रभाव के साथ-साथ योग्य शिष्यों की स पदा भी आवश्यक है। क्यों कि सर्वगुणसम्पन्न अकेला व्यक्ति भी विशाल कार्य में अधिक सफल नहीं हो सकता। अत: वाचनाओं के द्वारा अनेक बहुश्रुत-गीतार्थ प्रतिभासम्पन्न शिष्यों को तैयार करना होता है अत: 'वाचना देने में कुशल' होना आवश्यक है।

(६) शिष्य भी विभिन्न तर्क, बुद्धि, रुचि, आचार वाले होते हैं। अत: आचार्य का सभी के स रक्षण तथा स वर्धन के योग्य 'बहुमुखी बुद्धि सम्पन्न' होना आवश्यक है।

(७) विशाल समुदाय में अनेक परिस्थितियाँ तथा उलझनें उपस्थित होती रहती हैं। उनका यथासमय शीघ्र समुचित समाधान करने के लिये मतिस पदा के साथ ही प्रयोगमति सम्पदा का होना भी आवश्यक है। अन्य अनेक मतमता तरों के सैद्धान्तिक विवाद या शास्त्रार्थ के प्रस ग उपस्थित होने पर योग्य रीति से उनका प्रतिकार करना होता है। ऐसे समय में तर्क बुद्धि और श्रुत का प्रयोग धर्म की अत्यधिक प्रभावना करने वाला होता है।

(८) उपरोक्त गुणों से धर्म की प्रभावना होने पर सर्वत्र यश की वृद्धि होने से शिष्य परिवार की वृद्धि होना स्वाभाविक है। विशाल शिष्य-समुदाय के स यम की यथाविधि अराधना हो, इसके लिये विचरण क्षेत्र, उपधि, आहारादि की सुलभता तथा अध्ययन, सेवा, विनय व्यवहार की 'समुचित व्यवस्था' और स यम समाचारी के पालन की देख-रेख, सारणा-वारणा का सुव्यवस्थित होना भी अत्यावश्यक है।

इस प्रकार आठों ही सम्पदाएँ परस्पर एक दूसरे की पूरक तथा

स्वत: महत्त्वशील हैं। ऐसे गुणों से सम्पन्न आचार्य का होना प्रत्येक गण(गच्छ-समुदाय) के लिये अनिवार्य है। जैसे कुशल नाविक के बिना नौका के यात्रियों को समुद्र में पूर्ण सुरक्षा की आशा रखना अनुचित है, वैसे ही आठ सम्पदाओं से सम्पन्न आचार्य के अभाव में स यम साधकों की साधना सदा विराधना रहित रहे, या उसकी सर्वांगीण शुद्ध आराधना हो यह भी सम्भव नहीं है।

प्रत्येक साधक का भी यह कर्तव्य है कि वह जब तक पूर्ण योग्य और गीतार्थ-बहुश्रुत न बन जाय तब तक उपरोक्त योग्यता से सम्पन्न आचार्य के नेतृत्व में ही अपना स यमी जीवन सुरक्षित रहे, इसके लिए उसे सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए।

किसी कर्म स योगवश श्रेष्ठ योग्यता से अस पन्न गुरु आचार्य या गच्छ का सहवास प्राप्त हो जाय और उसे अपनी स यम साधना एव आत्म समाधि में स तोष न हो तो उसे विवेकपूर्वक अकषाय भाव से अपने गच्छ या गुरु का परिवर्तन करना कल्पता है। ठाणा ग सूत्र में गच्छ परिवर्तन के लिए ऐसे ही अनेक कारणों का स्पष्टीकरण किया है। बृहत्कल्प सूत्र उद्देशक-४ में गच्छ या गुरु के परिवर्तन की विवेकशील विधि का कथन किया गया है।

अत: घर छोड़ने वाले साधक को कैसा भी स योग मिल गया हो उसमें दीर्घ-दृष्टि से हानि-लाभ का परिप्रेक्षण कर ग भीरता पूर्वक नया निर्णय लेना जिनाज्ञा में है, ऐसा उपरोक्त निर्दिष्ट आगम पाठों से समझना चाहिये। ध्यान यह रहे कि आगम दृष्टिकोणों की एव आगम विधि विधानों की अवहेलना न होनी चाहिए एव वचन व्यवहार से गुरु रत्नाधिक की अन्य कोई भी आशातना नहीं होनी चाहिए।

परिशिष्ट-४ : आचार्य आदि प्रमुखों के कर्तव्य

आठ स पदाओं से सम्पन्न भिक्षु को जब आचार्य पद पर प्रतिष्ठित कर दिया जाता है, तब वह सम्पूर्ण स घ का धर्मशास्ता हो जाता है। तब उसे भी स घ स रक्षण एव स वर्धन के अनेक कर्तव्यों के उत्तरदायित्व निभाने होते हैं। उनमें प्रमुख उत्तरायित्व चार प्रकार के हैं -१. आचार-विनय २. श्रुतविनय ३. विक्षेपणाविनय ४. दोषनिर्घातनाविनय।

(१) आचार विनय :– गणी(आचार्य) का मुख्य कर्तव्य है कि सबसे पहले शिष्यों को आचार सम्बन्धी शिक्षाओं से सुशिक्षित करे। वह आचार सम्बन्धी शिक्षा चार प्रकार की है– **१.** स यम की प्रत्येक प्रवृत्ति के विधि-निषेधों का ज्ञान कराना, यतिधर्म, परिषहजय आदि का यथार्थ बोध देना। **२.** अनेक प्रकार की तपश्चर्याओं के भेद-प्रभेदों का ज्ञान कराना। तप करने की शक्ति और उत्साह बढ़ाना। निर तर तपश्चर्या करने की शक्ति प्राप्त करने के लिए आगमोक्त क्रम से तपश्चर्या की एव पारणा में परिमित पथ्य आहारादि के सेवन की विधि का ज्ञान कराना। **३.** गीतार्थ अगीतार्थ भद्रिक परिणामी आदि सभी की स यम साधना निर्विघ्न स पन्न होने के लिए आचार शास्त्रों तथा छेदसूत्रों के आधार से बनाये गये गच्छ सम्बन्धी नियमों, उपनियमों, (समाचारी) का सम्यक् ज्ञान कराना। **४.** गण की सामूहिक चर्या को त्याग कर एकाकी विहार चर्या करने की योग्यता का, वय का तथा विचरणकाल में सावधानियाँ रखने का ज्ञान कराना, एव एकाकी विहार करने की क्षमता प्राप्त करने के उपायों का ज्ञान कराना। क्यों कि भिक्षु का द्वितीय मनोरथ यह है कि 'कब मैं गच्छ के सामूहिक कर्तव्य से मुक्त होकर एकाकी विहारचर्या धारण करूँ ।' अतः एकाकी विहारचर्या की विधि का ज्ञान कराना आचार्य का चौथा आचारविनय है।

आचारा ग सूत्र श्रु. १ अ. ५ और ६ में प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों प्रकार की एकाकी विहारचर्या के लक्षण बताये गये हैं। उनमें से अप्रशस्त विहारचर्या के वर्णन को लक्ष्य में रखकर वर्तमान में एकल विहारचर्या के निषेध की पर परा प्रचलित है। किन्तु प्रस्तुत सूत्र एव भिक्षु का द्वितीय मनोरथ तथा गणव्युत्सर्ग तप आदि के इन आगम वर्णनों के उपलब्ध होते हुए एकल विहारचर्या का सर्वथा विरोध करना आगम सम्मत नहीं कहा जा सकता। इस पाठ की व्याख्या में भी स्पष्ट उल्लेख है कि आचार्य एकल विहारचर्या धारण करने के लिए दूसरों को उत्साहित करे तथा स्वय भी अनुकूल अवसर पर निवृत्त होकर इस चर्या को धारण करे। इस सूत्र की निर्युक्ति चूर्णि के स पादक मुनिराज श्री भी यही सूचित करते हैं कि एकान्त निषेध करना उचित नहीं है एव ऐसा प्ररूपण अन त स सार बढ़ाने का कारण है। यह आचार्य का चार प्रकार का 'आचारविनय' है।

(२) श्रुतविनय :– १-२. आचार धर्म का प्रशिक्षण देने के साथ-साथ आचार्य का दूसरा कर्तव्य है– आज्ञाधीन शिष्यों को सूत्र व अर्थ की समुचित वाचना देकर श्रुतसम्पन्न बनाना। **३.** उस सूत्रार्थ के ज्ञान से तप स यम की वृद्धि के उपायों का ज्ञान कराना अर्थात् शास्त्रज्ञान को जीवन में क्रियान्वित करवाना अथवा समय-समय पर उन्हें हित शिक्षा देना। **४.** सूत्र रुचि वाले शिष्यों को प्रमाण-नय की चर्चा द्वारा अर्थ परमार्थ समझाना। छेद सूत्र आदि सभी आगमों की क्रमशः वाचना देना। वाचना के समय आने वाले विघ्नों का शमन कर श्रुत वाचना पूर्ण कराना। यह आचार्य का चार प्रकार का 'श्रुतविनय' है।

(३) विक्षेपणाविनय :– १. जो धर्म स्वरूप से अनभिज्ञ है, उन्हें धर्म का स्वरूप समझाना। **२.** जो अनगारधर्म के प्रति उत्सुक नहीं हैं उन्हें अनगारधर्म स्वीकार करने के लिए उत्साहित करना। **अथवा १.** यथार्थ स यम धर्म समझाना। **२.** स यम धर्म के यथार्थ ज्ञाता को ज्ञानादि में अपने समान बनाना। **३.** किसी अप्रिय प्रस ग से किसी भिक्षु की स यम धर्म से अरुचि हो जाय तो उसे विवेक पूर्वक पुनः स्थिर करना। **४.** श्रद्धालु शिष्यों के स यमधर्म की पूर्ण आराधना कराने में सदैव तत्पर रहना। यह आचार्य का चार प्रकार का 'विक्षेपणाविनय' है।

४. दोषनिर्घातनाविनय :– शिष्यों की समुचित व्यवस्था करते हुए भी विशाल समूह में साधना करते हुए कभी कोई साधक छद्मस्थ अवस्था के कारण कषायों के वशीभूत होकर किसी दोष विशेष के पात्र को हो सकते हैं। **१.** उनके क्रोधादि अवस्थाओं का सम्यक् प्रकार से छेदन करना। **२.** राग-द्वेषात्मक परिणति का तटस्थापूर्वक निवारण करना। **३.** अनेक प्रकार की आका क्षाओं के अधीन शिष्यों की आका क्षाओं को उचित उपायों से दूर करना। **४.** इन विभिन्न दोषों का निवारण कर स यम में सुदृढ़ करना अथवा शिष्यों के उक्त दोषों का निवारण करते हुए भी अपनी आत्मा को स यमगुणों में परिपूर्ण बनाये रखना।

शिष्यसमुदाय में उत्पन्न दोषों को दूर करना। यह आचार्य का चार प्रकार का 'दोषनिर्घातनाविनय' है।

सम्पूर्ण ऐश्वर्य सम्पन्न जो राजा, प्रजा का प्रतिपालक होता है वही यशकीर्ति को प्राप्त कर सुखी होता है, वैसे ही जो आचार्य शिष्य-समुदाय की विवेक पूर्वक परिपालना करता हुआ स यम की आराधना

कराता है, वह शीघ्र ही मोक्ष गति को प्राप्त करता है। भगवती सूत्र श. ५ उ. ६ में कहा है कि सम्यक् प्रकार से गण का परिपालन करने वाले आचार्य, उपाध्याय उसी भव में या दूसरे भव में अथवा तीसरे भव में अवश्य मुक्ति प्राप्त करते हैं।

आचार्य के स्थान पर अन्य कोई भी उपाध्याय प्रवर्तक स्थविर गुरु आदि गच्छ के प्रमुख अनुशास्ता हो उन सभी को उक्त कर्तव्यों का पालन और गुणों को धारण करना आवश्यक समझना चाहिए।

परिशिष्ट-५ : श्रावक की ११ पड़िमाओं का विश्लेषण

सामान्य रूप से कोई भी सम्यग्दृष्टि आत्मा व्रत धारण करने पर व्रतधारी श्रावक कहा जाता है। वह एक व्रतधारी भी हो सकता है या बारह व्रतधारी भी हो सकता है। प्रतिमाओं में भी अनेक प्रकार के व्रत प्रत्याख्यान ही धारण किये जाते हैं, किन्तु विशेषता यह है कि इसमें जो भी प्रतिज्ञा की जाती है उमें कोई आगार नहीं रखा जाता है और नियत समय में अतिचार रहित नियम का दृढ़ता के साथ पालन किया जाता है।

जिस प्रकार भिक्षुप्रतिमा धारण करने वाले को विशुद्ध स यम पर्याय और विशिष्ट श्रुत का ज्ञान होना आवश्यक है, उसी प्रकार उपासक प्रतिमा धारण करने वाले को भी बारह व्रतों के पालन का अभ्यास होना और कुछ श्रुतज्ञान होना भी आवश्यक है, ऐसा समझना चाहिए।

प्रतिमा धारण करने वाले श्रावक को सा सारिक जिम्मेदारियों से निवृत्त होना तो आवश्यक है ही तथापि सातवीं प्रतिमा तक अनेक छोटे बड़े गृहकार्यो का त्याग आवश्यक नहीं होता है, किन्तु प्रतिमा के नियमों का शुद्ध पालन करना अत्यावश्यक होता है। आठवीं प्रतिमा से अनेक गृहकार्यो का त्याग प्रार भ हो जाता है एव ग्यारहवीं प्रतिमा में सम्पूर्ण गृह कार्यों का त्याग करके वह श्रमण के समान आचार का पालन करता है।

ग्यारह प्रतिमाओं में से किसी भी प्रतिमा को धारण करने वाले को आगे की प्रतिमा के नियमों का पालन करना आवश्यक नहीं होता है। स्वेच्छा से वह पालन कर सकता है अर्थात् पहली प्रतिमा में सचित्त

का त्याग या श्रमणभूत जीवन धारण करना, वह चाहे तो कर सकता है।

किन्तु आगे की प्रतिमा धारण करने वाले को उसके पूर्व की सभी प्रतिमाओं के सभी नियमों का पालन करना नियमतः आवश्यक होता है अर्थात् सातवीं प्रतिमा धारण करने वाले को सचित्त का त्याग करने के साथ ही सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य, कायोत्सर्ग, पौषध आदि प्रतिमाओं का भी यथार्थ रूप से पालन करना आवश्यक होता है।

(१) पहली दर्शनप्रतिमा धारण करने वाला श्रावक १२ व्रतों का पालन करता है किन्तु वह दृढ़प्रतिज्ञ सम्यक्त्वी होता है। मन, वचन व काया से वह सम्यक्त्व में किसी प्रकार का अतिचार नहीं लगाता है तथा देवता या राजा आदि किसी भी शक्ति से कि चित् मात्र भी सम्यक्त्व से विचलित नहीं होता है अर्थात् किसी भी आगार के बिना तीन करण, तीन योग से एक महीना तक शुद्ध सम्यक्त्व की आराधना करता है। इस प्रकार वह प्रथम दर्शनप्रतिमा वाला व्रतधारी श्रावक कहलाता है।

कुछ प्रतियों में **'से द सणसावए भवइ'** ऐसा पाठ भी मिलता है उसका तात्पर्य भी यही है कि वह दर्शनप्रतिमाधारी व्रती श्रावक है क्यों कि जो एक भी व्रतधारी नहीं होता है उसे दर्शनश्रावक कहा जाता है। किन्तु प्रतिमा धारण करने वाला श्रावक पहले १२ व्रतों का पालक तो होता ही है। अतः उसे केवल 'दर्शन श्रावक' ऐसा नहीं समझना चाहिए।

(२) दूसरी व्रत प्रतिमा धारण करने वाला यथेच्छ एक या अनेक, छोटे या बड़े कोई भी नियम प्रतिमा के रूप में धारण करता है जिनका उसे अतिचार रहित पालन करना आवश्यक होता है।

(३) तीसरी सामायिक प्रतिमाधारी श्रावक सुबह, दोपहर व शाम को नियत समय पर ही सदा निरतिचार सामायिक करता है एव देशाव-काशिक(१४ नियम धारण) व्रत का आराधन करता है तथा पहली दूसरी प्रतिमा के नियमों का भी पूर्ण पालन करता है।

(४) चौथी पौषध प्रतिमाधारी श्रावक पूर्व की तीनों प्रतिमाओं के नियमों का पालन करते हुए महीने में पर्व-तिथियों के छह प्रतिपूर्ण पौषध का सम्यक् प्रकार से आराधना करता है। इस प्रतिमा के धारण करने से पहले भी श्रावक पौषध व्रत का पालन तो करता ही है किन्तु प्रतिमा के रूप में नहीं।

(५) पाँचवीं कायोत्सर्ग प्रतिमाधारी श्रावक पहले की चारों प्रतिमाओं का सम्यक् पालन करते हुए पौषध के दिन सम्पूर्ण रात्रि या नियत समय तक कायोत्सर्ग करता है।

(६) छट्ठी ब्रह्मचर्य प्रतिमा का धारक श्रावक पूर्व प्रतिमाओं का पालन करता हुआ सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है। स्नान का और रात्रि भोजन का त्याग करता है तथा धोती की एक ला ग खुली रखता है।

पाँचवीं-छट्ठी प्रतिमा के मूल पाठ में लिपि-दोष से कुछ पाठ विकृत हुआ है जो ध्यान देने पर स्पष्ट समझ में आ सकता है- प्रत्येक प्रतिमा के वर्णन मे आगे की प्रतिमा के नियमों के पालन का निषेध किया जाता है। पाँचवी प्रतिमा में छट्ठी प्रतिमा के विषय का निषेध पाठ विधि रूप में जुड़ जाने से और चूर्णिकार द्वारा सम्यक् निर्णय न किये जाने के कारण मतिभ्रम से और भी पाठ विकृत हो गया है।

ब्यावर से प्रकाशित छेद सूत्र के त्रीणि सूत्राणि में उसे शुद्ध करने का परिश्रम किया गया है।

पूर्ण ब्रह्मचर्य के पालन करने वाले का ही स्नान त्याग उचित है। क्यों कि पाँचवीं प्रतिमा में एक-एक मास में केवल ६ दिन ही स्नान का त्याग और दिन में कुशील सेवन का त्याग किया जाय तो सम्पूर्ण स्नान का त्याग कब होगा ? तथा केवल ६ दिन ही स्नान त्याग और दिन में ब्रह्मचर्य पालन का कथन प्रतिमाधारी के लिये महत्त्व नहीं रखता है। यदि पाँचवी प्रतिमा के पूरे पाँच मास ही स्नान का त्याग करने का अर्थ किया जाय तो भी अस गत है। क्यों कि पाँच मास तक रात्रि में ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करें और स्नान का पूर्ण त्याग रखें इन दोनों नियमों का सम्बन्ध अव्यवहारिक होता है। अतः आगम प्रकाशन समिति ब्यावर का स्वीकृत पाठ ही उचित ध्यान में आता है। उसी के अनुसार यहाँ पाँचवीं-छट्ठी प्रतिमा का स्वरूप दर्शाया है ।

लिपिप्रमादादि के कारणों से ही इन दोनों प्रतिमाओं के नाम समवाया ग आदि सूत्र में भिन्न है तथा ग्रन्थों में भी इस सम्बन्ध में अनेक भिन्नताएं मिलती है।

(७) सातवीं सचित्तत्याग प्रतिमा का आराधक श्रावक पानी, नमक, फल, मेवे आदि सभी सचित्त पदार्थों के उपभोग का त्याग करता है।

किन्तु उन पदार्थों को अचित्त बनाने के त्याग नहीं करता है।

(८) आठवीं आरम्भत्याग प्रतिमाधारी श्रावक स्वय आर भ करने का स पूर्ण त्याग करता है किन्तु दूसरों को आदेश देकर सावद्य कार्य कराने का उसके त्याग नहीं होता है।

(९) नौवीं प्रेष्यत्याग प्रतिमा में श्रावक आर भ करने व कराने का त्यागी होता है किन्तु स्वतः ही कोई उसके लिए आहारादि बना दे या आर भ कर दे तो वह उस पदार्थ का उपयोग कर सकता है।

(१०) दसवीं उद्दिष्टभक्तत्याग प्रतिमाधारी श्रावक दूसरे के निमित्त बने आहारादि का उपयोग कर सकता है। स्वय के निमित्त बने हुए आहारादि का उपयोग नहीं कर सकता है। उसका व्यावहारिक जीवन श्रमण जैसा नहीं होता है। इसलिए उसे कोई भी सा सारिक वार्ता पूछ सकता है। अतः किसी के पूछने पर- 'मैं जानता हूँ या मैं नहीं जानता हूँ' इतना ही उत्तर देना कल्पता है। इससे अधिक उत्तर देना नहीं कल्पता है। किसी वस्तु के यथा स्थान पर न मिलने पर इतना उत्तर देने से भी पारिवारिक लोगों को स तोष हो सकता है। इस प्रतिमा में श्रावक क्षुरमु ड़न कराता है अथवा बाल रखता है।

(११) ग्यारहवीं श्रमणभूत प्रतिमाधारी श्रावक शक्य स यमी जीवन की मर्यादाएँ स्वीकार करता है। किन्तु यदि लोच न कर सके तो मु ड़न करवा सकता है। वह भिक्षु के समान गवेषणा के सभी नियमों का पालन करता है।

इस प्रतिमा की अवधि समाप्त होने के बाद वह प्रतिमाधारी सामान्य श्रावक जैसा जीवन बिताता है। इसी कारण इस प्रतिमा-आराधनकाल में वह स्वय को भिक्षु न कहकर 'मैं प्रतिमाधारी श्रावक हूँ' इस प्रकार कहता है।

पारिवारिक लोगों से प्रेम सम्बन्ध का आजीवन त्याग न होने के कारण वह ज्ञात कुलों में ही गोचरी के लिए जाता है। यहाँ ज्ञात कुल से पारिवारिक और अपारिवारिक ज्ञातिजन सूचित किये गये हैं। भिक्षा के लिये घर में प्रवेश करने पर वह इस प्रकार सूचित करे कि 'प्रतिमाधारी श्रावक को भिक्षा दो।'

श्रावक प्रतिमा सम्बन्धी भ्रम का निवारण :- श्रावक प्रतिमा के

सम्बन्ध में यह भी एक प्रचलित कल्पना है कि 'प्रथम प्रतिमा में एकान्तर उपवास, दूसरी प्रतिमा में निर तर बेले, तीसरी में तेले यावत् ग्यारहवीं प्रतिमा में ग्यारह-ग्यारह की तपश्चर्या निरन्तर की जाती है।' किन्तु इस विषय में कोई आगम प्रमाण उपलब्ध नहीं है तथा ऐसा मानना स गत भी नहीं है, क्यों कि इतनी तपस्या तो भिक्षु प्रतिमा में भी नहीं की जाती है। श्रावक की चौथी प्रतिमा में महीने के छः पौषध करने का विधान है यदि उपरोक्त कथन के अनुसार तपस्या की जाए तो चार मास में २४ चौले की तपस्या करनी आवश्यक होती है। प्रतिमाधारी द्वारा तपस्या तिविहार या बिना पौषध के करना भी उचित नहीं है। अतः २४ चौले पौषध युक्त करना आवश्यक नियम होने पर महीने के छः पौषध का विधान निरर्थक हो जाता है। जबकि तीसरी प्रतिमा से चौथी प्रतिमा की विशेषता भी यही है कि महीने के छः पौषध किये जावें। अतः कल्पित तपस्या का क्रम सूत्र-सम्मत नहीं है। आन द आदि श्रावकों के अ तिम साधना-काल में तथा प्रतिमा-आराधना के बाद शरीर की कृषता का जो वर्णन है वह व्यक्तिगत जीवन का वर्णन है उसमें भी इस प्रकार के तप का वर्णन नहीं है। अपनी इच्छा से साधक कभी भी कोई विशिष्ट तप भी कर सकता है। आनन्दादि ने भी कोई विशिष्ट तपश्चर्या साधना-काल में की होगी किन्तु ऐसा स्पष्ट वर्णन आगम में नहीं है। यदि उन्होंने कोई भी तप आगे की प्रतिमाओं में किया हो तो भी सब के लिए विधान मानना सूत्रोक्त प्रतिमावर्णन से अस गत होता है, ऐसा समझना चाहिए।

परिशिष्ट-६ : भिक्षु प्रतिमा सम्बन्धी श का समाधान

(१) स यम की उत्कृष्ट आराधना करते हुए योग्यता प्राप्त गीतार्थ भिक्षु कर्मो की विशेष निर्जरा के लिये बारह भिक्षु प्रतिमाएं स्वीकार करता है।

सातवीं दशा में बारह प्रतिमाओं के नाम दिये गये हैं। टीकाकार ने इनकी व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट किया है कि 'दो मासिया, ति मासिया' इस पाठ में 'द्वितीय एक मासिकी, तृतीया एक मासिकी' इस प्रकार अर्थ करना चाहिए। क्यों कि इन प्रतिमाओं का पालन निरन्तर शीत और ग्रीष्मकाल के आठ मासों में ही किया जाता है। चातुर्मास में इन प्रतिमाओं का पालन नहीं किया जाता। पूर्व की

प्रतिमाओं के एक, दो मास भी आगे की प्रतिमाओं में जुड़ जाते हैं, अतः 'दोमासिकी त्रिमासिकी' कहना भी अस गत नहीं है। यदि ऐसा अर्थ न करे तो प्रथम वर्ष में तीन प्रतिमा पालन करके छोड़ना होगा, दूसरे वर्ष में चौथी प्रतिमा पालन करके छोड़ना होगा, इस प्रकार बीच में छोड़ते हुए पाँच वर्ष में प्रतिमाओं का आराधन करना उचित नहीं कहा जा सकता। टीकानुसार उपरोक्त अर्थ करना ही स गत प्रतीत होता है। अतः दूसरी प्रतिमा से सातवीं प्रतिमा तक के नाम इस प्रकार समझना- **१.** एक मासिकी दूसरी भिक्षु प्रतिमा, **२.** एक मासिकी तीसरी भिक्षु प्रतिमा, **३.** एक मासिकी चौथी भिक्षु प्रतिमा, **४.** एक मासिकी पाँचवी भिक्षु प्रतिमा, **५.** एक मासिकी छठवीं भिक्षु प्रतिमा, **६.** एक मासिकी सातवीं भिक्षु प्रतिमा।

पू. आचार्य श्री आत्मारामजी म.सा. द्वारा स पादित दशाश्रुत स्कन्ध सूत्र में ऐसी ही छाया, अर्थ एव विवेचन किया है। आगम प्रकाशन समिति ब्यावर से प्रकाशित इस सूत्र में भी ऐसा ही अर्थ विवेचन स्पष्टीकरण किया है।

(२) प्रतिमाधारी भिक्षु को हाथ, पैर, मु ह आदि को अचित्त जल से धोना भी नहीं कल्पता है। किन्तु अशुचि के लेप को वह दूर कर सकता है तथा भोजन के बाद हाथ मु ह धो सकता है।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सामान्य भिक्षु को भी उक्त दो कारणों के बिना हाथ पैर आदि धोना नहीं कल्पता है तो प्रतिमाधारी के लिये इस नियम में क्या विशेषता है ?

इसका समाधान यह है कि सामान्य भिक्षु अपवाद सेवन कर सकता है। किन्तु प्रतिमाधारी अपवाद सेवन नहीं कर सकता है। सामान्य भिक्षु अपवादिक स्थिति में रोगोपशा ति के लिये औषध सेवन और अ गोपाँग पर जल सि चन या उनका प्रक्षालन भी कर सकता है किन्तु प्रतिमाधारी भिक्षु ऐसा नहीं कर सकता है। यही उनकी विशेषता है।

(३) तीन प्रकार के ठहरने के स्थान न मिले और सूर्यास्त का समय हो जाय तो सूर्यास्त के पूर्व ही योग्य स्थान देखकर रुक जाना कल्पता है। वह स्थल आच्छादित हो या खुला आकाश वाला हो, तो भी सूर्यास्त के बाद एक कदम भी चलना नहीं कल्पता है।

ऐसी स्थिति में यदि भिक्षु के ठहरने के आस पास की भूमि सचित्त हो तो उसे निद्रा या ऊँघ लेना नहीं कल्पता है। सतत सावधानी पूर्वक जागृत रहते हुए स्थिर आसन से रात्रि व्यतीत करना कल्पता है। मल-मूत्र की बाधा हो तो यतना पूर्वक पूर्व प्रतिलेखित भूमि में जा सकता है और परठ कर पुनः उसी स्थान पर आकर उसे स्थित होना कल्पता है।

सूत्र में खुले आकाश वाले स्थान के लिये ही 'जल सि' शब्द का प्रयोग किया गया है क्यों कि खुले स्थान में निरन्तर सूक्ष्म स्नेह काय की वृष्टि होना भगवती सूत्र श. १, उद्देशक ६ में कहा है। अतः उस शब्द से नदी, तालाब आदि जलाशय नहीं समझना चाहिए। बृहत्कल्प सूत्र उ. २ में ऐसे स्थान के लिए **अब्भावगासिय सि** शब्द का प्रयोग है। वहाँ यह बताया गया है कि साध्वी को खुले आकाश वाले स्थान में या वृक्ष के नीचे आदि असुरक्षित स्थानों में नहीं ठहरना चाहिये। साधु ऐसे असुरक्षित स्थानों में और खुले आकाश में ठहर सकता है। प्रतिमाधारी भिक्षु अचेल या सचेल अथवा केवल एक वस्त्रधारी भी हो सकता है। अतः इस आगम वर्णनों से समय-समय पर क बली ओढ़ने की एव मस्तक ढ़ कने की पर परा का आग्रह अनावश्यक प्रतीत होता है। उसी प्रकार खुले स्थान में साधु के न ठहरने एव न बैठने-सोने का एकान्त आग्रह भी आगम सम्मत नहीं लगता है। भगवती सूत्र कथित सूक्ष्म स्नेह काय तो हवा से भी अबाधित है अर्थात् वह हवा से प्रेरित होकर अछाया के स्थान से छाया वाले स्थान में प्रविष्ट नहीं हो सकती (इसीलिए तो छाया वाले स्थान के किनारे पर बैठना सोना साधुओं के लिए वर्जित नहीं है) ऐसी स्थिति में उसका मनुष्य के स्थूल शरीर से विघात होना सम्भव नहीं है। इसी कारण से आगमकारों ने प्रतिमाधारी भिक्षु को एव सामान्य भिक्षु को खुले आकाश में ठहरने का विधान किया है। स यम के मौलिक नियमों में प्रतिमाधारी को कोई भी छूट नहीं होती है अपितु वह तो स यम की सभी विधियों का विशिष्ट विशिष्टतम आराधन करता है। स यम के नियमों में अतिचार एव अपवाद सेवन तो उनके लिए पूर्णतया वर्जित होता है।

अतः प्रतिमाधारी का खुले आकाश में ठहरना अपवाद रूप नहीं समझा जा सकता। क्यों कि आगम में खुले आकाश में साधु को ठहरने

का निषेध न होकर ठहरने का विधान करने वाला पाठ है। अतः विलम्ब हो जाने से सूर्यास्त के पूर्व सहज ही प्रतिमाधारी भिक्षु योग्य खुले स्थान में ठहर जाता है। एव सामान्य भिक्षु भी योग्य स्थान के अभाव में ज गल में या खुले में ठहर सकता है और ये भिक्षु तत्सम्बन्धी उत्पन्न होने वाले शीत, तृण स्पर्श, भूमि स्पर्श एव भय आदि को समभाव से सहन करते हैं।

परिशिष्ट-७ : भिक्षु प्रतिमा के आसनों का स्पष्टीकरण

आठवीं और नवमीं प्रतिमा का प्रथम आसन 'उत्तानासन' और 'द ड़ासन' है। ये दोनों आकाश की तरफ मुख करके सोने के हैं, किन्तु इनमें अन्तर यह है कि उत्तानासन में हाथ पाँव आदि फैलाये हुए या अन्य किसी भी अवस्था में रह सकते हैं और द ड़ासन में मस्तक से पाँव तक पूरा शरीर द ड़ के समान सीधा लम्बा रहता है और हाथ पैर अन्तर रहित रहते हैं।

इसी प्रकार उक्त दोनों प्रतिमाओं का द्वितीय आसन 'एक पार्श्वासन' और लकुटासन' है। ये दोनों एक पसवाड़े (करवट) से सोने के है किन्तु इनमें अन्तर यह है कि 'एक पार्श्वासन' में भूमि पर एक पार्श्वभाग से सोना है और लकुटासन में करवट से सोकर मस्तक एक हथेली पर टिकाकर और पाँव पर पाँव चढ़ाकर लेटे रहना होता है। इस प्रकार लकुटासन में मस्तक और एक पाँव भूमि से ऊपर रहता है। जबकि एक पार्श्वासन में एक करवट का मस्तक से पाँव तक पूरा शरीर भूमि पर लगा होता है।

दोनों प्रतिमाओं का तृतीय आसन 'निषद्यासन' और 'उत्कुटुकासन' है। ये दोनों बैठने के आसन है। निषद्यासन में पला थी लगाकर पर्यंकासन से सुख पूर्वक बैठा जाता है और 'उत्कुटुक आसन' में दोनों पाँवों को समतल रखकर उन पर पूरे शरीर को रखते हुए बैठना होता है। यह उत्कृष्ट गुरु व दन का (खमासमणा देने का) आसन है।

दसवीं प्रतिमा के तीनों आसनों की यह विशेषता है कि वे न बैठने के हैं, न सोने के हैं और न सीधे खड़े रहने के हैं किन्तु बैठने

तथा खड़े रहने के मध्य की अवस्था के हैं। प्रथम गोदुहासन में पूरे शरीर को दोनों पाँवों के प जों पर रखना पड़ता है। इसमें ज घा और उरु(साथल) आपस में मिले हुए रहते हैं और दोनों नितम्ब एड़ी पर टिके हुए रहते हैं।

दूसरे वीरासन में भी पूरा शरीर दोनों प जो के आधार पर ही रखना पड़ता है किन्तु इसमें नितम्ब एड़ी से कुछ ऊपर उठे हुए रखने पड़ते हैं तथा ज घा और उरू(साथल) में भी कुछ दूरी रखनी पड़ती है। इस प्रकार कुर्सी पर बैठे व्यक्ति के नीचे से कुर्सी निकाल देने पर जो आकार अवस्था उसकी होती है वैसा ही लगभग इस आसन का आकार समझना चाहिए।

तीसरा आसन आम्रकुब्जासन है। विकल्प से इसका अ तकुब्जासन नाम और उसकी व्याख्या भी उपलब्ध होती है। इस आसन में भी पूरा शरीर तो पैरों के प जों पर रखना पड़ता है, घुटने कुछ टेढ़े रखने होते हैं, शेष शरीर का सम्पूर्ण भाग सीधा रखना पड़ता है। जिस प्रकार आम ऊपर से गोल और नीचे से कुछ टेढ़ा होता है इसी प्रकार यह आसन किया जाता है।

किसी भी एक आसन से २४ घण्टे रहना यद्यपि कठिन है फिर भी दसवीं प्रतिमा के तीनों आसन अत्यन्त कठिन है। सामान्य व्यक्ति के लिये तो इन आसनों में एक घन्टा रहना भी अशक्य होता है।

परिशिष्ट-८ : निदान सम्बन्धी तर्क-वितर्क

इस दशा में श्रेणिक राजा व चेलना रानी के निमित्त से निदान करने वाले श्रमण-श्रमणियों के मानुषिक भोगों के निदान का वर्णन प्रार भ में किया गया, फिर क्रमशः दिव्य भोग तथा श्रावक एव साधु अवस्था के निदान का कथन किया गया है। इनके सिवाय अन्य भी कई प्रकार के निदान होते हैं यथा- किसी को दुख देने वाला बनूँ या इसका बदला लेने वाला बनूं, मारने वाला बनूं इत्यादि। उदाहरण के रूप में श्रेणिक के लिए कोणिक का दुःखदाई होना, वासुदेवों का प्रतिवासुदेव को मारना, द्वीपायनऋषि का द्वारिका को विनष्ट करना,

द्रौपदी के पाँच पति होना व स यमधारण भी करना, ब्रह्मदत्त का चक्रवर्ती होना और सम्यक्त्व की प्राप्ति भी होना इत्यादि।

निदान के विषय में यह सहज प्रश्न उत्पन्न होता है कि किसी के स कल्प करने मात्र से उस ऋद्धि की प्राप्ति कैसे हो जाती है ?

समाधान यह है कि किसी के पास रत्न या सोने-चाँदी का भण्ड़ार है, उसे रोटी-कपड़े आदि सामान्य पदार्थों के लिए दे दिया जाए तो वे सहज ही प्राप्त हो सकते हैं। वैसे ही शाश्वत मोक्ष सुख देने वाली तप स यम की विशाल साधना के फल से मानुषिक या दैविक तुच्छ भोगों का प्राप्त होना कोई महत्त्व की बात नहीं है। इसे समझने के लिए एक दृष्टा त भी दिया जाता है-

एक किसान के खेत के पास किसी धनिक राहगीर ने दाल-बाटी, चूरमा बनाया। किसान का मन चूरमा आदि खाने के लिए ललचाया, किसान के मा गने पर धनिक ने कहा कि यह तेरा खेत बदले में दे तो भोजन मिले। किसान ने स्वीकार किया और भोजन कर वह बड़ा आन दित हुआ।

जैसे खेत के बदले एक बार मनचाहा भोजन का मिलना कोई महत्त्व नहीं रखता, वैसे ही तप स यम की मोक्षदायक साधना से एक भव के भोग मिलना महत्त्व नहीं रखता।

किन्तु जैसे खेत के बदले भोजन खा लेने के बाद दूसरे दिन से वर्ष भर तक किसान पश्चात्ताप से दुःखी होता है वैसे ही तप-सयम के फल से एक भव का सुख प्राप्त हो जाय किन्तु मोक्षदायक साधना खोकर नरकादि के दुखों का प्राप्त होना निदान का ही फल है।

जिस प्रकार खेत के बदले एक दिन का मिष्ठान भोजन प्राप्त करने वाला किसान मूर्ख गिना जाता है वैसे ही मोक्षमार्ग की साधना का साधक निदान करे तो वह महामूर्ख ही कहलायेगा। अतः भिक्षु को किसी प्रकार का निदान करना ही नहीं चाहिए। किन्तु उसे तो स यम-तप की निष्काम साधना करना ही श्रेयस्कर है।

परिशिष्ट-९ : उपस हार

इस दशाश्रुतस्कन्ध की उत्थानिकाएं(अध्ययन के प्रार भिक वाक्य) विचित्र हैं, अतः ये चौदहपूर्वी भद्रबाहु स्वामी के द्वारा निर्यूढ़ है, ऐसा नहीं कह सकते हैं। न ही इन्हें गणधर सुधर्मा स्वामी द्वारा ग्रथित कह सकते हैं और न एक पूर्वधारी देवर्द्धि गणी द्वारा सम्पादित कह सकते हैं। क्यों कि इन उत्थानिकाओं में भगवान् से कहलवाया गया है कि 'इस प्रथम दशा में स्थविर भगव तो ने वीस असमाधिस्थान कहे हैं।' जब कि तीर्थंकर या केवली किसी छद्मस्थ विहित विधि-निषेधों का कथन नहीं करते।

पाँचवी दशा की उत्थानिका तो और भी विचारणीय है। इस उत्थानिका के प्रार भ में कहा है कि स्थविर भगव तों ने ये दस चित्तसमाधि स्थान कहे हैं। बाद में कहा-भगवान् महावीर ने निर्ग्रन्थ-निग्रन्थियों को आमन्त्रित करके दस चित्तसमाधि स्थान कहे। इस प्रकार एक ही उत्थानिका में दो प्रकार के कथन पाठक स्वय पढ़े और सोचें कि वास्तविकता क्या है ?

आठवीं दशा के पाठों में भी जो परिवर्तन के प्रयत्न हुए हैं वे यहाँ दिए गए प्रथम परिशिष्ट में देखें तथा आठवीं दशा का और दसवीं दशा का(उपस हार पाठ) भी अत्य त विचारणीय है। इन विचित्रताओं को देखकर यह सहज अनुमान किया जा सकता है कि तीन छेद सूत्रों के समान इस सूत्र की पूर्ण मौलिकता वर्तमान में नहीं रही है। अर्थात् मूल पाठ में भी कुछ स शोधन, परिवर्तन, परिवर्धन हुए हैं। अतः बहुश्रुतों को विवेक युक्त निर्णय करके अध्ययन, अध्यापन एव प्ररूपण या विश्लेषण करना चाहिए।

॥ दशाश्रुत स्कंध सूत्र परिशिष्ट समाप्त ॥

बृहत्कल्प सूत्र : परिचय

प्रश्न-१ : इस सूत्र के नाम का तथा अन्य सभी प्रकार का परिचय क्या है ?

उत्तर- यह सूत्र आगम में 'कप्पो' कप्प' शब्द से प्रचलित है जिसका अर्थ है कल्प सूत्र। यह भद्रबाहु स्वामी चौदह पूर्वी का बनाया हुआ द्वितीय छेद शास्त्र है। न दी सूत्र में भी इसका परिचय 'कप्पो' शब्द से ही आगम सूची में कालिक सूत्रों में दिया गया है। कि तु न दी में उत्कालिक सूत्र की सूचि में चुल्लकल्प सूत्र और महाकल्प सूत्र नामक दो सूत्र और हैं। इस तरह न दी के कालिक उत्कालिक के मिलकर 'कल्प' साम्यता वाले तीन सूत्र हो जाते हैं- कप्पो, चूल्लकप्पसुय , महाकप्पसुय , एक सूत्र ऐसा ही सदृश और भी उत्कालिक सूत्र में है यथा- कप्पाकप्पिये(कल्प्या कल्प्य सूत्र) यों उत्कालिक में ३ और कालिक में एक कुल चार सूत्र कल्प नाम की सदृशता वाले है फिर भी कालिक का 'कप्पो' अपने आप में पूर्ण स्वत त्र है। क्यों कि उत्कालिक तीनों के साथ **महा चुल्ल** आदि अधिक शब्द लगे हैं।

इस तरह न दी में चार नाम सदृशता के निकट होते हुए भी न दी कर्ता ने प्रस्तुत छेद सूत्र को 'कप्पो' नाम से ही कालिक सूचि में कहा है जिससे इसकी स्वत त्रता में असम जस पैदा नहीं होती है क्यों कि शेष तीन सदृश होते हुए भी उत्कालिक है और उच्चारण में भिन्नता भी है।

अतः न दी तक प्रस्तुत सूत्र का नाम कल्प सूत्र ही रहा है इसमें कोई स देह नहीं है। आगे भाष्य चूर्णि टीका व्याख्या काल में भी इस शास्त्र के लिये कप्पो शब्द सूचित किया जाता रहा है । अतः विक्रम की १२ वीं, १३ वीं शताब्दि तक भी इसका नाम कल्पसूत्र रहा है यह टीका व्याख्याओं से स्पष्ट होता है।

१२-१३ वीं शताब्दि के बाद जब देरावासी लोगों ने चुल्ल कल्प सूत्र और महाकल्प सूत्र और दशाश्रुतस्क ध का आठवा अध्ययन 'कप्पो' जिसका नाम है उसके साथ जोड़ जोड़कर एक नया पर्यूषणा-

कल्प सूत्र जो पर्युषण में आम जनता को सुनाने के उद्देश्य से बनाया और उसे कल्पसूत्र, पर्युषणा कल्पसूत्र आदि कहा जाने लगा तब अज्ञात बहुश्रुतों ने इस प्राचीन आगम सम्मत कप्पो(कल्प सूत्र) नाम वाले शास्त्र को नया नाम बृहत्कल्प सूत्र प्रसिद्ध-प्रचलित कर दिया है जो आज करीब ७०० वर्ष प्राचीन तो है ही) इस प्रकार कुल पाँच सूत्र ऐसे है जिसके नाम में कल्प शब्द है। देरावासी का बनाया पर्युषणा कल्प सूत्र का नाम न दी सूची में भी नहीं है और ३२ तथा ४५ आगम की स ख्या में भी उसका नाम नहीं है। फिर भी झूठा महत्त्व देने के लिये वे लोग उसे भद्रबाहु १४ पूर्वी का बनाया और दशाश्रुतस्क ध का अध्ययन कह कर स तोष करते है । कि तु न दी के ७३, ग्र थों के ८४, और पर परा मान्य ४५-३२ आगम की किसी भी सूची में उसका नाम नहीं बता सकते।

निर्युक्तिकार भद्रबाहु स्वामी अपनी निर्युक्तिगाथा-५ में लिखते है कि दशाश्रुतस्क ध में १० छोटी छोटी दशाएँ है जिनमें प्रायः एक-एक विषय है। देरावासियों का बनाया कल्प सूत्र तो अनेक विषय चर्चाओं का भ ड़ार है एव १२०० श्लोक प्रमाण अकेला ही है। तो जिसे निर्युक्तिकार छोटी छोटी दशाएं कहे उसमें ये लोग झूठमूठ की १२०० श्लोक प्रमाण का पर्युषणा कल्प सूत्र को घुसाकर स तोष मानते है। और खोटी प्ररूपणा करते है कि पर्युषणा कल्प सूत्र १२०० श्लोक प्रमाण स पूर्ण १४ पूर्वी भद्रबाहु की रचना है इसलिये यह प्रामाणिक शास्त्र है। जब कि उसमें अनेक बेतुकी और तर्क हीन बाते है जो भद्रबाहुस्वामी को और उनकी रचना तथा योग्यता को भी बदनाम करे जैसी है फिर भी अ धभक्ति से पूरा देरावासी समाज एकमत से ऐसी खोटी मान्यता एव प्ररूपणा में फँसा रहता है जिसके देखा-देखी भोले स्थानकवासी भी उसकी श्रद्धा में लग जाते है।

स क्षेप में हमारे प्रस्तुत कल्प सूत्र को बृहत्कल्प सूत्र नाम देने में प्राचीनतम स्पष्टीकरण किया गया है आशा है पाठक सही बात समझ पायेंगे।

विषय विभाग :- बृहत्कल्प सूत्र के ६ उद्देशक है प्रत्येक उद्देशक में अलग अलग स ख्या में सूत्र हैं। यह छेद सूत्र है। इसमें छेदोपस्थानीय चारित्र वालों के ज्ञान दर्शन चारित्र स ब धी कल्पाकल्प का उत्सर्ग

अपवाद परिस्थिति के नियमोपनियम मर्यादाओं का निरूपण है।

बृहत्कल्प-व्यवहार सूत्र का ऐतिहासिक परिचय :-

इस सूत्र द्वय के रचनाकार(निर्यूहण करने वाले) आर्य भद्रबाहु स्वामी है जो चौदह पूर्वधारी हुए हैं। इन सूत्रों के निर्युक्तिकार द्वितीय भद्रबाहु स्वामी वराहमिहिर के भाई वीर निर्वाण ग्यारहवीं सदी में अर्थात् विक्रम की छट्ठी सदी(५६२) में हुए है। भाष्यकार आचार्य सिद्धसेन गणि हुए हैं जो भाष्यकार जिन भद्रगणि के निकट के ही सम्बन्धी अर्थात् शिष्य आदि थे। इन सूत्रों पर आचार्य मलयगिरि द्वारा की गई 'टीका' नामक व्याख्या है। बृहत्कल्प सूत्र पर श्री मलयगिरी की टीका अपूर्ण है जिसे आचार्य श्री क्षेमकीर्ति ने बड़ी योग्यता के साथ पूर्ण की है।

निर्युक्ति भाष्यकार का समय निशीथ के समान जानना। दोनों टीकाकारों का समय विक्रम की बारहवीं शताब्दी का है। बृहत्कल्प सूत्र का प्राचीन नाम सूत्रों में एव ग्र थों में 'कप्पसुत्त' ही रहा है। बृहत्कल्प भाष्य टीका का प्रकाशन भावनगर से हुआ है। स पादन कार्य मुनि श्री चतुर्विजय जी एव श्री पुण्यविजयजी ने किया है। व्यवहार भाष्य टीका का प्रकाशन अहमदाबाद से हुआ है जिसका स पादन मुनि श्री माणेक मुनि ने किया है।

इन चारों छेद सूत्रों का हिन्दी विवेचन युक्त प्रकाशन 'आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर' से हुआ है। उसके पूर्व आज तक इन छेद सूत्रों के हिन्दी विवेचन का प्रकाशन कहीं से भी नहीं किया गया है।

परिचय तालिका :-

सूत्र	सूत्र कर्ता	निर्युक्ति कर्ता	निर्युक्ति कर्ता का समय
निशीथ सूत्र	गणधर सुधर्मा (आचारा ग का अध्ययन होने से)	द्वितीय भद्रबाहु वराहमिहिर के भाई	देवर्धिगणि के बाद वीर निर्वाण ग्यारहवीं शताब्दि विक्रम की छट्ठी शताब्दि (५६२)
तीन छेद सूत्र	चौदह पूर्वी भद्र बाहुस्वामी	द्वितीय भद्रबाहु वराहमिहिर के भाई	देवर्धिगणी के बाद वीर निर्वाण ग्यारहवीं शताब्दि विक्रम की छट्ठी शताब्दि (५६२)

	भाष्यकर्ता	भाष्यकर्ता का काल
निशीथ सूत्र	आचार्य सिद्धसेन गणि	जिनभद्र गणि के शिष्य अथवा श्रद्धावान स्तुति कर्ता, विक्रम की सातवीं शताब्दि के, वीर निर्माण १२ वीं शताब्दि ।
बृहत्कल्प सूत्र	आचार्य सिद्धसेन गणि	
व्यवहार सूत्र	आचार्य सिद्धसेन गणि	

	चूर्णिकर्ता	चूर्णिकर्ता का काल
निशीथ सूत्र	जिनदास गणि महत्तर	विक्रम की आठवी शताब्दि
दशाश्रुतस्क ध सूत्र	जिनदास गणि महत्तर	वीर निर्माण की १३ वीं शताब्दि

	टीका कर्ता	टीका कर्ता का समय
बृहत्कल्प सूत्र	आचार्य मलयगिरी एव आचार्य क्षेमकीर्ति	विक्रम की तेरहवीं शताब्दि
व्यवहार सूत्र	मलयगिरि आचार्य	विक्रम की तेरहवीं शताब्दि

इस सूत्र का परिमाण ४७३ श्लोक प्रमाण है अर्थात् यह कद में बहुत छोटा सूत्र भाव और विवेचन में महान विशाल शास्त्र है। जिसकी प्रकाशित टीका के ६ भाग करीब ३००० पृष्ठ में है। जो आगम दिवाकर प. पू. श्री पुण्य विजयजी म. सा. द्वारा स पादित एव उनकी प्रेरणा से सजिल्द छपी उपलब्ध है। जिसकी प्रस्तावना भूमिका आदि में बहुत ही महत्त्व पूर्ण चि तन प्रस्तुत किया गया है जो इतिहास के शोधार्थी साधकों विद्यार्थियों के लिये अत्य त उपयोगी सिद्ध होता है। वास्तव में वे छहों भाग बहुत ही मननीय एव अध्ययनीय है।

यद्यपि छेद सूत्र और उनका अनुवाद गोपनीय माना जाता रहा है, फिर भी प्रकाशन युग में धूलिया से अमोलखऋषिजी म. सा. ने हिंदी में, गुजरात से जीवराज घेलाभाई शाहने गुजराती में छेदसूत्र ५० से भी अधिक वर्ष पूर्व छपवा दिये थे। आज तो छेद सूत्र ब्यावर और राजकोट से प्रकाशित विवेचन युक्त मिलते हैं। हमारे प्रावधान में हिंदी गुजराती दोनों भाषाओं में सरा श अनेक चर्चाओ, निब धो के साथ छपे १५ वर्ष हो गये है। अब इनका प्रश्नोत्तर शैली में हिंदी गुजराती दोनो भाषाओं में प्रकाशन चालु है, जो दिस बर २०११ तक पूर्णता के

शिखर को छूने की तैयारी में है अर्थात् १०-१० भाग दोनों भाषाओं में प्रश्नोत्तर शैली में छपना प्रगतिशील हैं।

उद्देशक-१

प्रश्न-१ : इस उद्देशक में कितने सूत्र है और उनमें किन विषयों का निरूपण है, उनका स क्षिप्त भाव क्या है ?

उत्तर- इसमें ४८ सूत्र है जिनका क्रमा क युक्त सारा श इस प्रकार है-

(१-५) वनस्पति के मूल से लेकर बीज पर्यन्त दस विभागों में जितने खाने योग्य विभाग हैं वे अचित्त होने पर ग्रहण किये जा सकते हैं किन्तु साध्वी कन्द मूल फल आदि के अविधि से किए गए बड़े-बड़े टुकड़े अचित्त होने पर भी ग्रहण नहीं कर सकती है।

(६-९) ग्राम नगर आदि में एक मास रहना कल्पता है। यदि उसके उपनगर आदि हों तो उसमें अलग-अलग अनेक मास कल्प तक ठहरा जा सकता है। किन्तु जहाँ रहे वहीं भिक्षा के लिए भ्रमण करना चाहिए, अन्य उपनगरों में नहीं। साध्वी का एक कल्प दो मास का होता है।

(१०-११) एक परिक्षेप एव एक गमनागमन के मार्ग वाले ग्रामादि में साधु-साध्वी को एक काल में नहीं रहना चाहिए किन्तु उसमें अनेक मार्ग या द्वार हो तो वे एक काल में भी रह सकते हैं।

(१२-१३) पुरुषों के अत्यधिक गमनागमन वाले तिराहे, चौराहे या बाजार आदि में बने हुए उपाश्रयों में साध्वियों को नहीं रहना चाहिए किन्तु साधु उन उपाश्रयों में ठहर सकते हैं। 'साधुओं को गाँव के बाहर ही ठहरना चाहिए' ऐसी एकान्त प्ररुपणा करना उत्सूत्र प्ररुपणा है यह इन सूत्रों से स्पष्ट होता है।

(१४-१५) द्वार रहित स्थान में साध्वियों को नहीं ठहरना चाहिए, परिस्थिति वश यदि ठहरना पड़े तो पर्दा लगाकर द्वार को ब द कर लेना चाहिए। किन्तु ऐसे स्थानों पर भिक्षु ठहर सकते हैं।

(१६-१७) सुराही के आकार का प्रश्रवण मात्रक साध्वी रख सकती है किन्तु साधु नहीं रख सकता है।

(१८) साधु-साध्वी को वस्त्र की मच्छरदानी रखना कल्पता है।

(१९) पानी के किनारे साधु-साध्वी को बैठना आदि क्रियाए नहीं करनी चाहिए।

(२०-२१) चित्रों से युक्त मकान में नहीं ठहरना चाहिए।

(२२-२४) साध्वियों को शय्यातर के स रक्षण में ही ठहरना चाहिए किन्तु भिक्षु बिना स रक्षण के भी ठहर सकता है।

(२५-२९) स्त्री-पुरुषों के निवास रहित मकान में ही साधु-साध्वियों को ठहरना चाहिए। केवल पुरुषों के निवास वाले मकान में भिक्षु और केवल स्त्रियों के निवास वाले मकान में साध्वियों ठहर सकती है। केवल स्त्री या पुरुष भी जहाँ होंगे वहाँ पीने का पानी एव प्रकाश के लिए दीपक तथा भोजन बनाने हेतु अग्नि तो होगी ही कि तु वह बाधक नहीं है ऐसा इस सूत्र से ही स्पष्ट होता है।

(३०-३१) द्रव्य(छत्त की अपेक्षा) या भाव(स्त्री के शब्द रूप आदि से) प्रतिबद्ध उपाश्रय में भिक्षु को रहना नहीं कल्पता है कदाचित् साध्वियाँ रह सकती हैं। स्वत त्र छत वाले स्वत त्र मकान हो जिनकी भीतें(दिवारें) एक दूसरे के लगी हुई हो वह प्रतिबद्ध नहीं हैं कि तु एक छत और उसमें अलग-अलग कमरे हैं तो वे प्रतिबद्ध है।

(३२-३३) स्त्रियों से प्रतिबद्ध मार्ग वाले स्थान उपाश्रय में भिक्षु को रहना नहीं कल्पता है साध्विया कदाचित् रह सकती है।

(३४) किसी के साथ क्लेश हो जाय तो स्वय को सर्वथा उपशा त होना अत्य त आवश्यक है। अन्यथा स यम की आराधना नहीं होती है।

(३५-३६) साधु-साध्वियों को चातुर्मास में एक स्थान पर ही रहना चाहिए तथा हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में शक्ति अनुसार विचरण करते रहना चाहिए।

(३७) जिन राज्यों में परस्पर विरोध चल रहा हो वहाँ बार बार गमना-गमन नहीं करना चाहिए।

(३८-४१) साधु या साध्वियाँ गोचरी आदि के लिये गये हों और वहाँ कोई वस्त्रादि लेने के लिए कहे तो आचार्यादि की स्वीकृति की शर्त रख कर ही ग्रहण करे। यदि वे स्वीकृति दें तो रखे अन्यथा लौटा देवें।

(४२-४३) साधु-साध्विया रात्रि में आहार, वस्त्र, पात्र, शय्या स स्तारक ग्रहण न करें। कभी विशेष परिस्थिति में शय्या स स्तारक ग्रहण किया

जा सकता है तथा चुराये गये वस्त्र पात्रादि कोई पुनः लाकर दे तो उन्हें रात्रि में भी ग्रहण किया जा सकता हैं।

(४४-४५) रात्रि में या विकाल में साधु-साध्वियों को विहार नहीं करना चाहिए तथा दूर क्षेत्र में होने वाली स खड़ी में आहार ग्रहण करने के लिए भी रात्रि में नहीं जाना चाहिए।

(४६-४७) साधु-साध्वियों को रात्रि में उच्चार प्रश्रवण या स्वाध्याय के लिये उपाश्रय से कुछ दूर(१०० हाथ से आगे) अकेले नहीं जाना चाहिए किन्तु किसी को साथ लेकर जा सकते हैं। किसी की अधिक भय की प्रकृति हो या क्षेत्र-स्थिति हो तो अनेक साधु या अनेक साध्वी साथ में जा सकते हैं।

(४८) चारों दिशाओं में आर्य क्षेत्रों की सीमा सूत्र में बताई गई है उसके भीतर साधु-साध्वियों को विचरना कल्पना है। किन्तु उन्हें स यम की उन्नति का विवेक तो सर्वत्र अवश्य रखना ही चाहिए।

प्रश्न-२ : इस उद्देशक के प्रार भिक सूत्रों में आये ताल-प्रल ब स ब धी विचारणा क्या है ?

उत्तर- सूत्रपठित 'ताल-प्रल ब' पद सभी फलों का सूचक है। 'एक के ग्रहण करने पर सभी सजातीय ग्रहण कर लिए जाते हैं'- इस न्याय के अनुसार 'ताल-प्रलम्ब' पद से ताल-फल के अतिरिक्त केला, आम, अनार आदि फल भी ग्रहण करना अभीष्ट है।

इसी प्रकार 'प्रलम्ब' पद को अन्तःदीपक(अन्त के ग्रहण से आदि एव मध्य का ग्रहण) मानकर मूल, कन्द, स्कन्ध आदि भी ग्रहण किये गये हैं।

प्रथम, द्वितीय सूत्र में 'आम' पद का अपक्क अर्थ और 'अभिन्न' पद का शस्त्रअपरिणत अर्थ एव 'भिन्न' पद का शस्त्र परिणत अर्थ है। तीसरे, चौथे और पाँचवें सूत्र में अभिन्न पद का अखण्ड़ अर्थ एव पक्क पद का शस्त्रपरिणत अर्थ अभीष्ट है।

भाष्य में 'तालप्रलम्ब' पद से वृक्ष के दस विभागों को ग्रहण किया गया है यथा-

मूले क दे ख धे, तया य साले पवाल पत्ते य।
पुप्फे फले य बीए, पल ब सुत्तम्मि दस भेया॥ भाष्य गा. ८५४॥

इन पाँच सूत्रों का स युक्त अर्थ यह है कि साधु और साध्वी पक्क या अपक्क १. मूल, २. कन्द, ३. स्कन्ध, ४. त्वचा, ५. शाल, ६. प्रवाल, ७. पत्र, ८. पुष्प, ९. फल और १०. बीज अशस्त्र परिणत हों तो उन को ग्रहण नहीं कर सकते हैं। किन्तु ये ही यदि शस्त्रपरिणत हो जाए तो साधु और साध्वी ग्रहण कर सकते हैं।

इन सूत्रों में प्रयुक्त 'आम, पक्क, भिन्न एव अभिन्न' इन चारों पदों की भाष्य में द्रव्य एव भाव से चौभ गिया करके भी यही बताया गया है कि भाव से पक्क या भाव से भिन्न अर्थात् शस्त्रपरिणत ताल-प्रलम्ब हो तो भिक्षु को ग्रहण करना कल्पता है।

प्रथम सूत्र में कच्चे तालप्रलम्ब शस्त्रपरिणत न हो तो अग्राह्य कहे हैं एव **दूसरे सूत्र में** उन्हीं को शस्त्रपरिणत(भिन्न) होने पर ग्राह्य कहा है। जिस प्रकार **दूसरे सूत्र में** द्रव्य और भाव से भिन्न होने पर कच्चे ताल-प्रलम्ब ग्राह्य कहे हैं उसी प्रकार **तीसरे सूत्र में** द्रव्य और भाव से पक्क तालप्रलम्ब भिन्न या अभिन्न हो तो भिक्षु के लिये ग्राह्य कहे हैं। **चौथे सूत्र में** द्रव्य और भाव से पक्क तालप्रलम्ब भी अभिन्न हो तो साध्वी को ग्रहण करने का निषेध किया गया है। **पाँचवें सूत्र में** द्रव्य और भाव से पक्क तालप्रलम्ब बड़े-बड़े लम्बे टुकड़े लेने का साध्वी के लिये निषेध करके छोटे छोटे टुकड़े हो तो ग्राह्य कहे हैं।

अचित्त होते हुए भी **पाँचवे सूत्र** में अखण्ड़ या लम्बे खण्ड़ साध्वी को लेने के निषेध का कारण इस प्रकार है-

अभिन्न-अखण्ड़ केला आदि फल का तथा शकरक द, मूला गाजर आदि क द-मूल का लम्बा आकार देखकर किसी निर्ग्रन्थी के मन में विकार भाव जागृत हो सकता है और वह उससे अन गक्रीड़ा भी कर सकती है, जिससे उसके स यम और स्वास्थ्य की हानि होना सुनिश्चित्त है। अतः निर्ग्रन्थी को अभिन्न फल या कन्द आदि लेने का निषेध किया गया है। साथ ही कदली आदि फलों के, मूला आदि कन्दों के अविधि पूर्वक किए गये लम्बे खण्ड़ जिन्हें देखकर कामवासना का जागृत होना सम्भव हो उन्हें लेने का भी निषेध किया गया है। किन्तु विधिपूर्वक भिन्न अर्थात् इतने छोटे-छोटे खण्ड़ किए हुए हों कि जिन्हें देखकर पूर्वोक्त विकार भाव जागृत न हो तो ऐसा फल या कन्द आदि साध्वी ग्रहण कर सकती हैं।

जो फल पक कर वृक्ष से स्वय नीचे गिर पड़ता है अथवा पक जाने पर वृक्ष से तोड़ लिया जाता है, उसे द्रव्यपक्क कहते हैं। वह द्रव्यपक्क फल भी सचित्त सजीव और बीज गुठली आदि से स युक्त होता है। अतः जब उसे शस्त्र से विदारित कर, गुठली आदि को दूर कर ले अथवा जिसमें अनेक बीज हों उसे अग्नि आदि में पकाकर उबालकर या भूनकर सर्वथा अस दिग्ध रूप से अचित्त-निर्जीव कर लिया गया हो तब वह भाव पक्क शस्त्र-परिणत कहा जाता है, एव ग्राह्य होता है।

इससे विपरीत अर्थात् छेदन-भेदन किये जाने पर या अग्नि आदि में पकाने पर भी अर्द्धपक्क होने की दशा में उसके सचित्त रहने की सम्भावना हो तो वह भाव से अपक्क अर्थात् शस्त्र अपरिणत कहा जाता है, एव अग्राह्य होता है। विस्तृत विवेचन एव चौभ गियों के लिये भाष्य एव वृत्ति का अवलोकन करना चाहिए।

प्रश्न-३ : वनस्पति के विभागों की सजीव अवस्थाओं का आगम आधार चिंतन अनुप्रेक्षा किन-किन प्रकार से किया जा सकता है ?

उत्तर- आगमों में बादर वनस्पति काय के दो भेद किए हैं- १. प्रत्येक वनस्पति काय, २. साधारण वनस्पति काय।

प्रत्येक वनस्पति काय के बारह प्रकार हैं- यथा- १. वृक्ष, २. गुच्छ, ३. गुल्म, ४. लता, ५. बेल, ६. तृण, ७. वलय, ८. पर्व, ९. कुहणा, १०. जलरूहा, ११. धान्य, १२. हरित। ***उत्तरा. अ. ३६ तथा प्रज्ञापना पद।***

प्रत्येक वनस्पति काय में भी सभी वनस्पतियों के दस विभाग होते हैं यथा- १. मूल, २. क द, ३. स्कन्ध, ४. त्वचा, ५. शाखा, ७. कोंपल, ७. पत्र, ८. पुष्प, ९. फल, १०. बीज।

विभागों में जीवों की स ख्या :- इनमें भी प्रारम्भिक कच्ची अवस्था में अमुक लक्षण पाए जाए तो उन दसों विभाग(मूल से लेकर बीज पर्यन्त) में अनन्त जीव हो सकते है और बाद में लक्षण परिवर्तन होने पर अनन्त जीव नहीं रहते हैं।

आलु आदि जिन पदार्थों को साधारण वनस्पति कहा गया है उनके भी मूल क द यावत् बीज पर्यन्त १० विभाग होते हैं। इनमें सूचित

किए गए नाम से जो क द या मूल विभाग है वह तो अचित्त होने के पूर्व तक अनन्त काय-अनन्त जीवी ही रहता है ऐसा समझना चाहिए और शेष ८ विभाग(बीज पर्यन्त) में सूत्र कथित लक्षण पाए जाए तब तक वे अनन्त काय रह सकते हैं। जब लक्षण न पाए जाए तो वे विभाग अनन्त काय नहीं रहते हैं, प्रत्येक काय हो जाते हैं।

इस प्रकार साधारण वनस्पति के कन्द या मूल के सिवाय विभाग प्रत्येक काय हो सकते हैं और प्रत्येक वनस्पति के दसों विभाग में कच्ची प्रार भिक अवस्था में अनन्त जीव भी रह सकते हैं।

अन त काय के लक्षण इस प्रकार है- (१) जहा भी, जिसमें भी, फूलण(काई) होती है, वह अन तकाय है। (२) जिस वनस्पति के पत्ते आदि किसी भी विभाग में दूध निकलने की अवस्था है जैसे- आकड़े का पत्ता, कच्ची मुंगफली(सि ग) आदि। (३) जो कोई भी हरी तरकारी या वनस्पति का हिस्सा तोड़ने से एक साथ 'तट्ट' ऐसी आवाज करते टूटे और सम कट जाय जैसे भींड़ी, तुराई, ककड़ी। (४) जिस वनस्पति को गोलाकार चक्कू से काटने पर उसकी सतह पर रजकण सरीखे जलकण हो जाय। (५) जिस वनस्पति की छाल भीतरी तने से भी जाड़ी हो वह तना अन तकाय। (६) जिस पत्तों में नसें न दिखें। (७) जो क द और मूल भूमि के अ दर पक कर निकलते हैं। (८) सभी वनस्पति की कच्ची जड़ें। (९) सभी वनस्पति की कच्ची कौंपल। (१०) कोमल एव नसे न दिखने वाली प खुड़ियों वाले फूल। (११) भींगाये हुए धान्यों में तत्काल निकले हुए अ कुर। (१२) कच्चे कोमल फल यथा- इमली आदि, म जरी आदि। इत्यादि लक्षण वनस्पति के किसी विभाग में दिखते हो वे सभी विभाग अन त काय होते हैं।

वृक्षों में जीव स ख्या :- अनन्त काय के लक्षणों के अभाव में प्रत्येक वनस्पति काय मूल कन्द आदि दस विभागों युक्त सम्पूर्ण वृक्ष अस ख्यात जीवी या स ख्यात जीवी दो प्रकार के होते हैं।

तथा इनके मूल कन्द यावत् बीज पर्यन्त विभाग अस ख्यात या स ख्यात अथवा एक जीव वाले भी होते है और कोई विभाग निर्जीव भी हो जाते हैं।

वृक्ष का मुख्य जीव :- वृक्ष का मुख्य जीव एक स्वत त्र होता है जिसके

आत्म प्रदेश वृक्ष के दसों विभागों तक रहते हैं और पूरे वृक्ष की अवगाहना उसकी अवगाहना कहलाती है। उस जीव के आयु समाप्त हो जाने पर 'पउट्टपरिहार' न हो तो पूरा वृक्ष धीरे-धीरे सूखकर ठूंठ बन जाता है। यदि मुख्य जीव के मरने के बाद 'पउट्टपरिहार' हो जाए अर्थात् अन्य जीव आकर या वही जीव पुनः मुख्य जीवपने उत्पन्न हो जाए तो वृक्ष की स्थिति नए आए जीव की उम्र पर्यन्त रहती है और उस नए आए जीव की पर्याप्त होते ही अवगाहना भी पूर्ण वृक्ष की अवगाहना जितनी हो जाती है।

विभागों के मुख्य जीव :- वृक्ष के दस विभागों में मुख्य जीव अलग-अलग होते हैं। 'पत्र' विभाग में मुख्य जीव एक ही होता है शेष ९ विभागों में मुख्य जीव एक या अनेक या अस ख्य भी हो सकते हैं।

विभागों के मुख्य जीवों के आश्रय में जीव :- इन सभी मुख्य जीवों के नेश्राय(आश्रय) से अमुक लक्षण अवस्थाओं में अनन्त, अस ख्य या स ख्य जीव भी रह सकते है अर्थात् अनन्त काय के लक्षण हो जब तक अनन्त जीव, पूर्ण कच्ची या हरी अवस्था में रहे तब तक अस ख्य जीव और अर्ध पक्क व पक्क अवस्था में स ख्याते जीव तथा अनेक जीव और पूर्ण पक्क व शुष्क अवस्था में अनेक या एक जीव होते हैं और कई विभाग सूखने पर निर्जीव भी हो जाते हैं।

जीव स ख्या निष्कर्ष :- इस प्रकार अनेकान्त दृष्टि से मूल से लेकर बीज तक के सभी विभाग किसी स्थिति में अनन्त जीवी, अस ख्य जीवी स ख्य जीवी एक जीवी और निर्जीव भी हो सकते हैं।

स्थितियाँ :- वृक्ष के दसों विभागों की भिन्न-भिन्न उत्कृष्ट स्थितियाँ भी भगवती सूत्र शतक ११ तथा शतक २१ से २३ में बताई गई हैं।

किसी प्रकार का व्याघात न हो तो उन-उन स्थिति पर्यन्त वे विभाग जीव युक्त अर्थात् सचित रह सकते हैं। तथा कोई व्याघात होने पर उसके पूर्व भी अचित्त हो सकते हैं। अर्थात् उनकी उत्कृष्ट स्थिति नहीं होकर मध्यम स्थिति होती है। व्याघात दो प्रकार का है यथा- १. स्वाभाविक आयु समाप्ति पर, २. शस्त्र से छेदन भेदन होने पर।

बीज और फलों की अवस्था :- वृक्ष के मूल से लेकर पुष्प पर्यंत के आठ विभागों के सचित्त-अचित्त होने का निर्णय प्रायः निर्विवाद

है अर्थात् ये विभाग सूख जाने पर या शस्त्र प्रयोग हो जाने पर ही अचित्त होते हैं और जब तक गीले हो या अग्नि आदि से शस्त्र परिणत नहीं हो तब तक सचित्त है।

फल :– वनस्पति का नवमा विभाग 'फल' है। यह भी सूखने पर या अग्नि आदि से शस्त्र परिणत होने पर अचित्त हो जाता है और यदि पूर्ण पक्क फल है तो बीज और बींट के अलग हो जाने पर स्वाभाविक ही अचित्त है सूखने पर या अग्नि पर शस्त्र परिणत होने का प्रश्न ही नहीं रहता है। तो भी यह फल विभाग बीज या बीजों से सम्बद्ध होता है इस कारण पूर्व के आठ विभागों के समान इसकी निर्विवाद अचितता स्वत त्र नहीं है।

एक बीजी फल :– कोई फल में एक बीज(गुठली) होती है वह फल के साथ ही पूर्ण पक जाती है और सरलता से फल से अलग भी हो जाती है ऐसे पके फलों के शेष अ श की अचितता निर्विवाद है फिर भी फल का बीटका स्वस्थ है अर्थात् सड़-गल नहीं गया है तो सचित्त है। साथ ही पके फलों के छिलके भी सचित्त अचित्त दोनों अवस्था में रहते हैं। (१) ताजे चमकदार एव सख्त स्पर्श वाले सचित हैं। (२) गल जाने से नरम हो गए हो, चमक कम हो गई हो अथवा मूल र ग में कुछ काले दाग या परिवर्तन आया हो तो वे अचित्त हैं।

बहुबीजी फल :– किसी फल में ४-५, किसी में ८-१० किसी में ५०-१०० अथवा सैकड़ों बीज होते हैं। किसी में खसखस से भी छोटे बीज होते हैं और किसी में अच्छे बड़े होते हैं। किसी में काले, किसी में कत्थाई और किसी में पीले र ग के बीज होते हैं और कोई सफेद र ग के ही दिखते हैं।

इनमें जो बीज कठोरता युक्त हो जाते है वे परिपक्क और एक जीवी होते है और सहज ही फल के गिर से अलग निकल जाते हैं। किन्तु जो कठोर नहीं होते हैं और जो सफेद कौमल छोटे या कुछ बड़े बीज होते हैं वे अपरिपक्क और स ख्य या अस ख्य जीवी होते हैं, और फल के गिर में से सहज नहीं निकल पाते।

कई फलों में सभी परिपक्क बीज रहते हैं और कई फलों में परिपक्क और अपरिपक्क(सफेद या नरम) दोनों प्रकार के बीज रहते हैं।

इसलिए इन बीजों, छिलकों और बीटकों के कारण फल की अचितता निर्विवाद नहीं रहती है सभी पहलुओं की विचारणा करने पर ही उसकी अचितता का निर्णय होता है।

वनस्पतिक का उत्पादक बीज :– वृक्ष की उत्पत्ति का मूल कारण होने से अन्तिम दसवें विभाग को बीज कहा गया है। किसी-किसी वनस्पति के उत्पत्ति में बीज के सिवाय अन्य विभाग भी कारण बनते हैं अतः उन्हें भी आगम में केवल बीज न कहकर बीज शब्द के साथ सूचित किया जाता है यथा– 'अग्गबीया, मूल बीया, पोर बीया, ख द बीया, वनस्पतिया ।

वनस्पति के ये स्थान बीज रूप नहीं होते हुए भी अर्थात् ख द, मूल, पर्व होते हुए भी बीज का कार्य(वृक्ष उत्पत्ति रूप कार्य) करने वाले हैं। इन चार प्रकार की वनस्पतियों के भी फल और बीज स्वत त्र भी हो सकते हैं। तथापि उनके ये विभाग बीज का कार्य करने वाले होने से बीज रूप कहलाते हैं। इसलिए कई वृक्ष कलम करने से लगते है तथापि सभी वनस्पतियाँ अपने बीज से तो ऊगती हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं हैं।

साधारणतया उगने वाला विभाग बीज है और कोई-कोई वनस्पति ख द पर्व आदि से उगती है। ख द पर्व आदि तो सूखने के बाद नहीं उगते। अतः ये सचित्त गीली अवस्था में ही उगते हैं। किन्तु बीज विभाग पकने व सूखने के बाद ही उगते हैं गीली अवस्था में नहीं उगते।

बीजों का सचित्त काल(उम्र) :– ठाणा ग सूत्र व भगवती सूत्र में धान्यों की ३ वर्ष, द्विदलों की ५ वर्ष और शेष अन्य बीजों की ७ वर्ष की उत्कृष्ट स्थिति बताई है। तीन प्रकार की स्थितियों में समस्त वनस्पति के बीजों का समावेश हो जाता है अर्थात् ७ वर्ष से अधिक कोई भी बीज सजीव नहीं रहता है। इनकी यह स्थिति वृक्ष पर तो बहुत अल्प ही बीतती है किन्तु वृक्ष से अलग होने के बाद और सूखने के बाद ज्यादा बीतती है। इस प्रकार दस विभाग में यह बीज विभाग ही ऐसा है जो सूखने पर भी वर्षो तक सचित्त रहता है और उगने की शक्ति धारण किए रहता है।

विकसित और परिपक्क अवस्था :– फल और बीज का पहले पूर्ण विकास होता है पूर्ण विकास के बाद उसमें परिपक्क अवस्था आती है।

जब फल की पूर्ण विकसित अवस्था हो जाती है तब बीज की पूर्ण विकसित अवस्था हो जाती है और फल के परिपक्क होने के साथ कई बीज भी परिपक्क होने लगते हैं। कई फल वृक्ष पर ही पूर्ण परिपक्क होने के बाद तोड़े जाते है और कई पूर्ण परिपक्क अवस्था के पूर्व ही तोड़ कर अन्य प्रयोगों से पूर्ण परिपक्क बनाए जाते है। वृक्ष पर पूर्ण परिपक्क बनने वाले फलों के बीज में तो उगने की योग्यता बन ही जाती है। किन्तु अन्य प्रयोगों से परिपक्क बनने वाले कई फलों के बीज परिपक्क बनते है और कई नहीं बनते। तथा अनेक बीज वाले एक फल में भी कोई बीज परिपक्क होते है और कोई नहीं होते।

उत्पादक(उगने की) शक्ति :– वृक्ष पर या बाद में जो बीज पूर्ण परिपक्क नहीं बनते है उनमें पूर्ण विकसित अवस्था होकर भी उगने की योग्यता नहीं आती है। जो पूर्ण परिपक्क हो जाते है वे ही उग सकते हैं। फल की पूर्ण विकसित अवस्था होने पर बीज की भी पूर्ण विकसित अवस्था हो जाती है वह लम्बी स्थिति तक सचित्त रह सकता है किन्तु उगने की योग्यता तो पूर्ण परिपक्क होने पर ही होती है।

अतः कई बीजों में उगने की योग्यता रहती है और कई में नहीं। जिनमें उगने की योग्यता है वे ३-५-७ वर्ष की स्थिति समाप्त होने पर अचित्त हो जाने पर भी उगते हैं।

इस प्रकार फल की पूर्ण विकसित अवस्था का पूर्ण विकसित बीज अपनी स्थिति पर्यन्त सचित्त रह सकता है और फल की पूर्ण परिपक्क अवस्था का पूर्ण परिपक्क बीज अपनी स्थिति पर्यन्त तथा उसके बाद अचित्त हो जाने पर भी अखण्ड़ रहे तब तक उग सकता है।

इससे यह समझना चाहिए कि उगने का लक्षण अलग है और सचित्त होने का लक्षण अलग है दोनों का कुछ तो सम्बन्ध है किन्तु अविनाभाव सम्बन्ध नहीं किया जा सकता है।

बीज और फल के गिर का सम्बन्ध :– फल में बीज पूर्ण परिपक्क न हुए हो या फल स्वय पूर्ण परिपक्क न हुए हों तो फल विभाग(गिर) भी पूर्ण अचित्त नहीं कहा जा सकता है। फल के पूर्ण परिपक्क होने के बाद उसके बींटके में और बीज में जीव रहता है शेष गिर विभाग अचित्त हो जाता है। यदि फल में बीज का विकास ही नहीं हुआ या बीज पूर्ण परिपक्क नहीं हुए तो उनका गिर सचित्त या मिश्र होता है,

शस्त्र परिणत होने पर ही वह अचित्त हो सकता है उसके पूर्व नहीं।

तीन योनि :– पन्नवणा सूत्र के योनि पद-९ में वनस्पति की सचित्त अचित्त मिश्र तीनों योनि बताई है अतः पूर्ण अचित्त बीज भी उग सकते है। इस आगम प्रमाण से भी उगने व सचित्त होने के साथ अविनाभाव सम्बन्ध नहीं किया जा सकता है। किन्तु यही स्पष्ट होता है कि वनस्पति सचित्त, अचित्त बीजों से भी उगती है और संमूर्च्छिम अर्थात् बिना बीज के भी उगती है।

वृक्षों के दो विभाग :– पन्नवणा पद प्रथम में वृक्षों के दो विभाग किए है जो उनके फल की अपेक्षा से किए गए है। यथा- एक बीज (गुठली) वाले और अनेक बीज वाले। किन्तु वहाँ तीसरा 'अबीया' भेद नहीं किया है। अतः किसी भी पूर्ण विकसित फल को अबीज कहना उचित नहीं कहा जा सकता।

बीज का अस्तित्व :– केला अ गूर आदि का समावेश बहुवीया में होता है। इन्हें पूर्ण विकसित अवस्था में भी बीज रहित माना जाता है वह उचित्त नहीं है। बीज या फल की पूर्ण विकसित अवस्था के पूर्व जो फल तोड़ लिए जाए तो उनका फल विभाग(गिर) तो सचित्त ही होता है और पूर्ण शस्त्र परिणत हुए बिना वह अचित्त नहीं होता। तथा उसमें सूखने तक भी बीज का अलग र ग में अलग अस्तित्व नहीं होगा। फल की विकसित अवस्था में ही बीज का अलग स्वत त्र अस्तित्व, वर्ण आदि की अपेक्षा होता है।

भगवती श. ७, उ. ३ में बताया है कि बीज फल से प्रतिबद्ध रहता है अर्थात् फल के बीच में बीज होता हैं। अतः किसी भी पूर्ण विकसित फल को बीज रहित मानना उचित नहीं कहा जा सकता। किन्तु यह कहना ही उचित होगा कि कोई भी पूर्ण विकसित फल बिना बीज के नहीं होता है। प्रत्येक विकसित फल में बीज होता ही है चाहे सूक्ष्म हो या स्थूल। उसका अपने फल के गिर से स्वतन्त्र अस्तित्व वर्ण स्पर्श की अपेक्षा भी होता ही है।

वर्ण स्पर्श की अपेक्षा बीज की स्वत त्र नहीं दिखने की अवस्था मानना और साथ ही फल को भी पूर्ण परिपक्क मानना उसके सम्पूर्ण गिर को अचित्त अवस्था में पहुँचा मान लेना इत्यादि मनःकल्पित अप्रामाणिक धारणाएं है। क्यों कि बिना बीज आए ही फल को पका

फल होना नहीं कहा जा सकता। आगम में भी बिना बीज के फल वाले वृक्षों की तीसरी जाति कहीं भी नहीं है किन्तु एक बीज या अनेक बीज वाले ऐसे दो विभाग ही वृक्षों के बताए हैं।

कुम्भी पक्क अचित्त नहीं :– आचा. श्रु. २, अ. १, उ. ८ में कुम्भी पक्क फलों को सचित्त तथा अशस्त्र परिणत कहा है। टीकाकार श्री शीला काचार्य ने बताया है कि 'खड्ड़े आदि में अग्नि के ताप या धूम्र से अर्धपक्क फलों को पूर्ण पक्क बनाया जाता है। इस विधि से परिपक्क बनाए गए फल शस्त्र परिणत नहीं होते किन्तु सचित्त और अग्राह्य रहते है इसलिए निषेध किया गया है।'

इतना स्पष्टीकरण आचारा ग के इस मूल पाठ व टीका में स्पष्ट होते हुए भी आगम बाह्य अनुभव और बहुमत से धूएं या अग्नि के दूर से पहुँचे हुए साधारण ताप से केला आदि फलों को अचित्त मानने की पर परा सही नहीं है कि तु आगम विपरीत पर परा एव प्ररुपणा है।

आचा. श्रुत. २, अ. १, उ. १ में साक्षात् चूल्हे आदि से सेके जाने वाले पदार्थ(जो अग्नि पर ही रखकर सेके जाते है) सिट्टे, फलियाँ आदि को भूंज दिए जाने पर भी अचित्त नहीं होने का विकल्प दिया है अर्थात् सचित्त रह सकते हैं ऐसा कहा है और यह भी बताया है कि उन्हें बहुत देर तक या वार वार अग्नि पर भुना हो तो अचित्त हो सकते हैं।

इस आगम पाठ के चिन्तन से भी यह सहज समझा जा सकता है कि अग्नि को बहुत दूर रख कर ताप या धूम्र देने मात्र से फल का शस्त्र परिणत होकर अचित्त हो जाना, यह मान्यता आगम सम्मत नहीं हो सकती किन्तु स्पष्टतया आगम विरुद्ध है।

आगम स्थल :– **(१)** सचित्त अचित्त व मिश्र तीनों पदार्थों से या बीजों से वनस्पति ऊग सकती है। ***पन्नवणा सूत्र, पद-९.***

(२) एक गुटली युक्त फल वाले और अनेक बीज युक्त फल वाले, ऐसे दो विभाग ही समस्त वृक्षों(वनस्पतियों) के किए है तीसरा 'बिना बीज वाले' ऐसा भेद नहीं किया। – ***पन्नवणा सूत्र, पद-१.***

(३) कुम्भी पक्क फलों को सचित्त और अशस्त्र परिणत रहना बताया है एव उन्हें भिक्षु के लिए अग्राह्य कहा है– ***आचा. श्रु. २, अ. १, उ. ८.***

(४) अग्नि पर रखकर साधारण भूने गए सिट्टे भी शस्त्र परिणत नहीं

हो जाते। अतः उन्हें भी अग्राह्य कहा है। तब केवल धुएं से अचित्त और ग्राह्य मानना उचित नहीं है। –***आचा. श्रु. २, अ. १, उ. १;***

(५) बीज फल के मध्य में होता है अर्थात् फल के गिर से वेष्टित रहता है। अतः पक्क फल कोई भी बिना बीज के नहीं होता है।– ***भगवती सूत्र श. ७, उ. ३.***

सार :– **(१)** परिपक्क फल कोई भी बिना बीज के नहीं होता। **(२)** अपक्क(कच्चा) फल बीज रहित हो तो वह फल स्वय सचित्त होता है। **(३)** बिना बीज वाले फल की तीसरी जाति मानना आगम विपरीत है, क्यों कि एक गुठली वाले और अनेक बीज वाले फल यह दो ही जाति है। **(४)** वनस्पति की तीनों योनि होती है अर्थात् उगने वाले पदार्थ सचित्त अचित्त मिश्र तीनों प्रकार के होते हैं। **(५)** अपरिपक्क बीज नहीं उगते हैं। तो भी सचित्त तो है ही। **(६)** वनस्पति के दस विभाग में उगने वाले विभाग थोड़े है परन्तु सचित्त तो सभी है।

प्रश्न–४ : कलह उत्पत्ति और उसकी उपशा ति के विषय में साधक को क्या प्रेरणा दी गई है ?

उत्तर– यद्यपि भिक्षु आत्मसाधना के लिये स यम स्वीकार कर प्रतिक्षण, स्वाध्याय, ध्यान आदि स यम-क्रियाओं में अप्रमत्त भाव से विचरण करता है तथापि शरीर, आहार, शिष्य, गुरु, वस्त्र, पात्र आदि कषाय के निमित्त बन जाते हैं क्यों कि– **(१)** प्रत्येक व्यक्ति का स्वभाव, क्षयोपशम, विवेक भी भिन्न-भिन्न होता है। **(२)** क्रोध मान आदि कषायों की उपशा ति भी सभी की भिन्न-भिन्न होती है। **(३)** परिग्रह-त्यागी होते हुए भी द्रव्यों एव क्षेत्रों के प्रति अममत्व भाव में भिन्नता रहती है। **(४)** विनय, सरलता, क्षमा, शान्ति आदि गुणों के विकास में सभी को एक समान सफलता नहीं मिल पाती है। **(५)** अनुशासन करने में एव अनुशासन पालने में भी सभी की शान्ति बराबर नहीं रहती है। **(६)** भाषा प्रयोग का विवेक भी प्रत्येक का भिन्न-भिन्न होता है।

इत्यादि कारणों से साधना की अपूर्ण अवस्था में प्रमादवश उदय भाव से भिक्षुओं-भिक्षुओं के आपस में कभी भी कषाय या क्लेश उत्पन्न हो सकता है।

भाष्यकार ने क्लेश उत्पत्ति के कुछ निमित्त कारण इस प्रकार बताये हैं - १. शिष्यों के लिये, २. उपकरणों के लिये, ३. कटु वचन के उच्चारण से, ४. भूल सुधारने की प्रेरणा करने कि निमित्त से, ५. परस्पर स यम निरपेक्ष चर्चा वार्ता एव विकथाओं के निमित से, ६. श्रद्धासम्पन्न विशिष्ट स्थापना कुलों में गोचरी करने या नहीं करने के निमित्त से।

कलह उत्पन्न होने के बाद भी स यमशील मुनि के स ज्वल कषाय के कारण अशा त अवस्था अधिक समय नहीं रहती है वह सम्भल कर आलोचना प्रायश्चित्त कर शुद्ध हो जाता है।

किन्तु प्रस्तुत सूत्र में एक विशिष्ट सम्भावना बताकर उसका समाधान किया गया है कि- कभी कोई भिक्षु तीव्र कषायोदय में आकर स्वेच्छावश उपशा त न होना चाहे तब दूसरे उपशा त होने वाले भिक्षु को यह सोचना चाहिये कि क्षमापना, शा ति, उपशा ति आदि आत्मनिर्भर है, परवश नहीं। यदि योग्य उपाय करने पर भी दूसरा उपशा त न हो और व्यवहार में शा ति भी न लावे तो उसके किसी भी प्रकार के व्यवहार से पुनः अशा त नहीं होना चाहिए। क्यों कि स्वय के पूर्ण उपशा त एव कषाय रहित हो जाने से स्वय की आराधना हो सकती है और दूसरे के अनुपशा त रहने पर उसकी ही विराधना होती है दोनों की नहीं। अतः भिक्षु के लिए यही जिनाज्ञा है कि वह स्वय पूर्ण उपशा त हो जाए।

इस विषय में प्रश्न उपस्थित किया गया है कि यदि अन्य भिक्षु उपशा त न होवे और उक्त व्यवहार भी शुद्ध न करे तो अकेले को उपशा त होना क्यों आवश्यक है ? इसके उत्तर में समझाया गया है कि 'कषायों की उपशा ति करना' यही स यम का मुख्य लक्ष्य है। इससे ही वीताराग भाव की प्राप्ति हो सकती है। प्रत्येक स्थिति में शा त रहना यही स यम धारण करने का एव पालन करने का सार है। अतः अपने स यम की आराधना के लिये स्वय को सर्वथा उपशा त हो जाना अत्य त आवश्यक समझना चाहिए।

❋ उद्देशक-२ ❋

प्रश्न-१ : इस उद्देशक में सूत्र कितने है और उनमें किन विषयों का निरूपण है ?

उत्तर- इसमें ३० सूत्र है जिसका सूत्र क्रमा क के साथ सारा श इस प्रकार है- **(१-३)** जिस मकान में धान्य बिखरा हुआ हो उसमें नहीं ठहरना किन्तु व्यवस्थित राशिकृत हो तो मास कल्प एव मुहरब द (ताला लगा) हो तो पूरे चातुर्मास भी रहा जा सकता है।

(४-७) जिस मकान की सीमा में मद्य के घड़े या अचित्त शीत या उष्ण जल के घड़े भरे हुए पड़े हों अथवा अग्नि या दीपक सम्पूर्ण रात्रि जलते हों तो वहाँ साधु-साध्वी को नहीं ठहरना चाहिए, किन्तु अन्य मकान के अभाव में एक या दो रात्रि ठहरा जा सकता है।

(८-१०) जिस मकान की सीमा में खाद्य पदार्थ के बर्तन यत्र-तत्र पड़े हों तो वहाँ नहीं ठहरना चाहिए किन्तु एक किनारे पर व्यवस्थित रखे हों तो मास कल्प एव मुहरब द (ताला ब द) हो तो पूरे चातुर्मास भी रहा जा सकता है।

(११-१२) धर्मशाला में, असुरक्षित स्थानों में एव खुले आकाश में साध्वियों को नहीं ठहरना चाहिए किन्तु साधु वहाँ ठहर सकते हैं।

(१३) शय्या(मकान) के अनेक स्वामी हों तो एक की आज्ञा ले कर उसे शय्यातर मानना एव अन्य के घरों से आहारादि ग्रहण करना।

(१४-१६) शय्यादाता एव अन्य लोगों का आहार किसी स्थान पर स ग्रहित किया गया हो, शय्यातर के घर की सीमा में हो या सीमा से बाहर हो तो भी अलग रहते हुए उस शय्यातर के आहार में से ग्रहण करना नहीं कल्पता है। किन्तु शय्यादाता के घर की सीमा से बाहर हो एव अन्य स ग्रहित आहार में शय्यातर का आहार मिला दिया गया हो तो ग्रहण किया जा सकता है।

(१७-१८) साधु-साध्वी को शय्यादाता के अलग रखे हुए आहार को अन्य आहार में मिलवाना नहीं कल्पता है एव ऐसा करने पर उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

(१९-२२) शय्यादाता की आहृतिका(अन्य का आया) एव निहृतिका का(अन्य को भेजा गया) आहार उस शय्यातर के स्वामित्व में हो तब तक ग्रहण नहीं किया जा सकता है। अन्य के आधीन हो तब ग्रहण किया जा सकता है।

(२३-२४) शय्यातर के स्वामित्व युक्त आहारादि पदार्थों में से जब

शय्यातर के स्वामित्व का अ श पूर्ण विभक्त होकर अलग कर दिया जावे, तब शेष आहार में से ग्रहण करना कल्पता है किन्तु शय्यातर का अ श पूर्णतः अलग न किया हो तो उसमें से ग्रहण करना नहीं कल्पता है।

(२५-२८) शय्यादाता के पूज्य पुरुषों को सर्वथा समर्पित किए गए आहार में से ग्रहण करना कल्पता है किन्तु 'प्रातिहारिक' दिया गया हो तो उसमें से लेना नहीं कल्पता है। तथा वह आहार शय्यादाता या उसके पारिवारिक सदस्यों के हाथ से लेना नहीं कल्पता है।

(२९-३०) साधु-साध्विया पाँच जाति के वस्त्र एव पाँच जाति के रजोहरण में से किसी भी जाति का वस्त्र या रजोहरण ग्रहण कर सकते हैं। **पाँच वस्त्र-** १. ऊन आदि, २. बा स अलसी आदि का, ३. सण का, ४. सूत का, ५. वृक्ष की छाल। **रजोहरण पाँच-** १. ऊन का, २. ऊंट की जट का, ३. सण का, ४. घास का बना, ५. मू ज का।

प्रश्न-२ : रात्रि भर पानी या अग्नि रहने वाले मकान विहार में मिले तो साधु को क्या करना ?

उत्तर- जिस मकान में सारी रात या दिन-रात अग्नि जलती है उस (कुम्भकारशाला या लोहार शाला आदि) में भिक्षु को ठहरना नहीं कल्पता है। यदि ठहरने के स्थान मे एव गमनागमन के मार्ग में अग्नि नहीं जलती हो, किन्तु अन्यत्र कहीं भी(मकान के विभाग में) जलती हो, तो ठहरना कल्पता है।

इसी प्रकार सम्पूर्ण रात्रि या दिन-रात जहाँ दीपक जलता है वह स्थान भी अकल्पनीय है।

प्रश्न-३ : अग्नि या दीपक युक्त मकान विहार में मिले तो उसमें क्या-क्या दोषो की संभावना रहती है एवं तत्संबंधी विचारणा किस प्रकार की गई है ?

उत्तर- अग्नि या दीपक युक्त स्थान में ठहरने के दोष :- १. अग्नि के या दीपक के निकट से गमनागमन करने में अग्निकाय के जीवों की विराधना होती है। २. हवा से कोई उपकरण अग्नि में पड़कर जल सकता है। ३. दीपक के कारण आने वाले त्रस जीवों की विराधना होती है। ४. शीत निवारण करने का स कल्प उत्पन्न हो सकता है।

आचा. श्रु. २, अ. २, उ. ३ में भी अग्नियुक्त स्थान में ठहरने का निषेध है एव निशीथ उ. १६ में इसका प्रायश्चित्त विधान है। इसे भी सर्व रात्रि की अपेक्षा ही समझना चाहिए।

इन आगमस्थलों में अल्पकालीन अग्नि या दीपक का निषेध नहीं किया गया है क्यों कि इसी सूत्र के प्रथम उद्देशक में पुरुष सागारिक उपाश्रय में साधु को एव स्त्री सागारिक उपाश्रय में साध्वी को ठहरने का विधान है। जहाँ अग्नि या दीपक जलने की सम्भावना भी रहती है अतः इन सूत्रों से सम्पूर्ण रात्रि अग्नि जलने वाले स्थानों का निषेध समझना चाहिए।

जिन स्थानों में पुरुष या स्त्री किसी भी स्व पक्ष का निवास होगा वहाँ अग्नि और पानी तो रहेगा ही। क्यों कि वे पीने के लिए पानी रखेंगे एव अन्य कार्य के लिए समय पर अग्नि और दीपक जलायेंगे।

किन्तु उनका पीने का पानी अलग विभाग में रखा जावेगा एव उनके दीपक और अग्नि भी अलग विभाग में होंगे अथवा अल्पकालीन होंगे, सम्पूर्ण दिन रात जलने वाले नहीं होंगे।

भाष्यकार ने अग्नि और दीपक सम्बन्धी होने वाले जो दोष बताये हैं। वे अधिकतर खुले दीपक में घटित होते हैं तथापि वर्तमान की बिजली में भी कुछ कुछ घटित होते हैं। अर्थात् त्रस जीवों की विराधना एव प्रकाश का उपयोग लेने के परिणाम या प्रवृति होना उसमें भी सम्भव है।

निष्कर्ष यह है कि गृहस्थ की निश्रा वाले अलग विभाग में पानी रहे या अल्प समय के लिए कहीं पर भी अग्नि दीपक जले तो भिक्षु को ठहरने में बाधा नहीं है।

किन्तु रात्रि भर अग्नि दीपक जले या साधु की निश्रा वाले विभाग में जल दिन रात रहे तो वहाँ नहीं ठहरना चाहिए अन्य स्थान के अभाव में १-२ रात्रि ठहरा जा सकता है। साधु के ठहरने के बाद गृहस्थों के लिए अल्पकालीन जल या दीपक की व्यवस्था की जाती है, उसकी कोई बाधा नहीं समझना चाहिए।

पानी के निषेध सूत्र में अचित जल का ही कथन है। तथापि सचित जल की विराधना सम्भव हो तो वहाँ भी नहीं ठहरना चाहिए।

सेल की घड़ियाँ उपाश्रय में रखी हों तो उसका इन सूत्रों से कोई सम्बन्ध नहीं है अर्थात् ऐसी घड़ी युक्त उपाश्रय में ठहरने में कोई बाधा नहीं है। क्यों कि उपर कहे गये कोई भी दोष या विराधना होने की स्थिति इसमें नहीं होती है।

प्रश्न-४ : इस उद्देशक में आये किसी वाक्य का ऐसा अर्थ होता है क्या कि 'उतने दिन का छेद या उतने दिन का' तप प्रायश्चित्त आता है ?

उत्तर- 'उतने दिन का प्रायश्चित्त' यह कथन मिथ्या है, जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है-

किसी भी सूत्र कथित मर्यादा के उल्ल घन के लिए जब प्रायश्चित्त कथन किया जाता है तब उसमें एक वचन की अपेक्षा **'से स तरा छेए वा परिहारे वा'** यह वाक्य प्रयोग किया जाता है और बहुवचन के लिए **'सव्वेसि तेसि तप्पतिय छेए वा परिहारे वा'** इस वाक्य का प्रयोग किया जाता है।

बहुवचन का उक्त प्रयोग व्यवहार सूत्र में पाँच बार हुआ है और एक वचन का उक्त प्रयोग बृहत्कल्प और व्यवहार सूत्र में अनेकों बार हुआ है। इन सभी स्थलों पर टीकाकार ने एक ही प्रकार से अर्थ किया है उसका भावार्थ यह है कि-

(१) एकवचन- उस स यत को अपने किए गये मर्यादा उल्ल घन का पाँच अहोरात्र आदि का छेद या लघुमासिक आदि तप का प्रायश्चित्त आता है अर्थात् मर्यादा उल्ल घन की विचार परिणति छेद प्रायश्चित्त योग्य हो तो छेद का और तप प्रायश्चित्त योग्य हो तो तप का प्रायश्चित्त आता है। एकान्त छेद का आग्रह सूत्र में नहीं है। **(२) बहुवचन-** उन सभी को अपनी मर्यादा उल्ल घन के निमित्त यथा योग्य छेद या तप प्रायश्चित्त आता है। यहाँ भी छेद का आग्रह नहीं है।

छेद सूत्रों की व्याख्याओं में जहाँ भी छेद प्रायश्चित्त का स्पष्टीकरण किया जाता है वहाँ जघन्य ५ दिन का कथन करके फिर पाँच-पाँच दिन क्रमशः बढ़ाकर कथन किया जाता है। उत्कृष्ट छः मास का छेद कहा जाता है। उसके आगे छेद प्रायश्चित्त नहीं है ऐसा कथन किया जाता है। उत्कृष्ट छेद छः मास का तीन बार देने

के बाद उसी दोष में नई दीक्षा का(मूल) प्रायश्चित्त दिया जाता है।

प्राचीन व्याख्याओं के स्पष्ट और एक मत से उपलब्ध होते हुए भी किसी भ्रम विशेष से एव गतानुगतिवृत्ति से ऐसी पर परा भी चल पड़ी है कि **'से स तरा छेए वा परिहारे वा'** वाक्य होने से उतने ही दिन का छेद प्रायश्चित्त देना चाहिए। कि तु ऐसी प्ररुपणा और प्रवृत्ति पूर्णतः निराधार एव आगम विपरीत है।

ऐसी व्याख्या टीकाकार ने या अन्य प्राचीन व्याख्याकारों ने कहीं पर भी नहीं की है। अतः ऐसी व्याख्या करना और छः मास से अधिक वर्ष दो वर्ष का भी छेद प्रायश्चित्त दे देना एव अल्पतम प्रायश्चित्त भी उतने दिन का छेद ही देना, सर्वथा अनुचित्त एव मन कल्पित दुराग्रह मात्र है।

पारिहारिक भिक्षु के पास बैठ जाने पर या ज्ञात कुल में गोचरी चले जाने पर अथवा आचार्य उपाध्याय प्रवर्तिनी पद व्यवस्था में बराबर सहयोग न देने पर **'उतने ही दिन के प्रायश्चित्त'** का कथन निरर्थक सिद्ध होता है क्यों कि वहाँ दिनों का कोई प्रश्न नहीं हैं।

अतः किसी भी मर्यादा उल्ल घन के प्रायश्चित्त विधान के लिए प्रयुक्त **'से स तरा छेए वा परिहारे वा'** वाक्य से यथा योग्य ५ दिन १० दिन आदि का छेद या लघु मास गुरुमास आदि तप का प्रायश्चित्त कहा जाता है ऐसा समझना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि भ्रमित एव निराधार अर्थ प्ररुपणा को छोड़ कर सत्य और सर्व व्याख्याकार सम्मत एव आगम सम्मत अर्थ को स्वीकार करना चाहिए।

उद्देशक २ सूत्र ४ का टीका श इस प्रकार है- 'से' = तस्य स यतस्य, 'स्वा तरात्'= स्वस्वकृत यदन्तर-त्रिरात्रचतुःरात्रादि काल अवस्थानरुप , तस्मात्, 'छेदो वा'= प च रात्रि दिवादिः, 'परिहारो वा'= मासलघुकादि तपोविशेषो भवति इति सूत्रार्थः।

टीका में कहीं स क्षिप्त कहीं विस्तृत इसी भावार्थ की व्याख्या सर्वत्र की गई है। 'उतने ही दिन का प्रायश्चित्त' ऐसी व्याख्या कहीं भी नहीं की गई है। टब्बों की रचना के बाद ही ऐसे अर्थ की पर परा चल पड़ी है जो प्राचीन प्रमाणों के अभाव में भ्रममूलक ही सिद्ध होती है।

उद्देशक-३

प्रश्न-१ : इस उद्देशक में सूत्र कितने है और उनमें किन विषयों का निरूपण है ?

उत्तर- इसमें ३४ सूत्र है जिनका क्रमा क युक्त सारा श इस प्रकार है-

(१-२) साधु को साध्वी के उपाश्रय में और साध्वी को साधु के उपाश्रय में बैठना, सोना आदि प्रवृतियाँ नहीं करनी चाहिए। केवल स्वाध्याय एव वाचना के लिए बैठना कल्पता है। उसके अतिरिक्त नहीं बैठना चाहिए। एव जाना भी नहीं चाहिए।

(३-६) रोम रहित चर्मखण्ड़ आवश्यक होने पर साधु-साध्वी ग्रहण कर सकते हैं किन्तु सरोम चर्म उन्हें नहीं कल्पता है। आगाढ़ परिस्थिति-वश गृहस्थ के सदा उपयोग में आने वाला सरोम चर्म एक रात्रि के लिये साधु ग्रहण कर सकता है किन्तु साध्वी के लिए तो उसका सर्वथा निषेध है।

(७-१०) बहुमूल्य वस्त्र एव अखण्ड़ थान या आवश्यकता से अधिक लम्बा वस्त्र साधु-साध्वी को नहीं रखना चाहिए।

(११-१२) गुप्ता ग के निकट पहने जाने वाले ल गोट जाँघिया आदि उपकरण साधु को अकारण नहीं रखना चाहिये किन्तु साध्वी को ये उपकरण रखना आवश्यक है।

(१३) साध्वी को अपनी निश्रा से वस्त्र ग्रहण नहीं करना चाहिए किन्तु अन्य प्रवर्तिनी आदि की निश्रा से वह वस्त्र की याचना कर सकती है।

(१४-१५) दीक्षा लेते समय साधु-साध्वी को रजोहरण गोच्छग एव आवश्यक पात्र ग्रहण करने चाहिए तथा मुँहपत्ति, चद्दर, चोलपट्टक आदि के लिये भिक्षु अधिकतम तीन थान के माप जितने वस्त्र ले सकता है। एव साध्वी चार थान के माप जितने वस्त्र ले सकती है। थान का माप सूत्र में एव भाष्य, टीका में नहीं बताया गया है। अत: भिन्न-भिन्न धारणाएँ हैं। पात्र की स ख्या भी स्पष्ट न होने से भिन्न-भिन्न प्रवृतियाँ है।

(१६-१७) साधु-साध्वी को चार्तुमास में वस्त्र ग्रहण नहीं करना चाहिये किन्तु शीत एव ग्रीष्म ऋतु में वे वस्त्र ले सकते हैं।

(१८-२०) स्वस्थ साधु-साध्वी को आवश्यक होने पर वस्त्र एव शय्या स स्तारक दीक्षा पर्याय के अनुक्रम से ग्रहण करने चाहिये एव वन्दना भी दीक्षा पर्याय के क्रम से करनी चाहिए।

(२१-२३) स्वस्थ साधु-साध्वी को गृहस्थ के घर में बैठना आदि सूत्रोक्त निषिद्ध कार्य नहीं करने चाहिए तथा वहाँ अमर्यादित वार्तालाप या उपदेश भी नहीं देना चाहिए। कभी आवश्यक हो तो खड़े-खड़े ही मर्यादित कथन किया जा सकता है।

(२४-२६) शय्यातर एव अन्य गृहस्थ के शय्या स स्तारक को विहार करने के पूर्व अवश्य लौटा देना चाहिए तथा जिस अवस्था में ग्रहण किया हो वैसा ही व्यवस्थित करके लौटाना चाहिए।

(२७) शय्या स स्तारक(पाट बाजोट आदि) खो जाने पर उसकी खोज करना एव न मिलने पर उसके स्वामी को खो जाने की सूचना देकर अन्य शय्या स स्तारक ग्रहण करना, यदि खोज करने पर मिल जाए तो आवश्यकता न रहने पर लौटा देना चाहिए।

(२८-३२) साधु-साध्वी उपाश्रय में, शून्य गृह में या मार्ग आदि में कहीं पर भी आज्ञा लेकर ठहरें हों और उनके विहार करने के पूर्व ही दूसरे साधु विहार करके आ जाए तो वे उसी पूर्वग्रहित आज्ञा से वहाँ ठहर सकते हैं किन्तु नवीन आज्ञा लेने की आवश्यकता नहीं होती। यदि शून्य(रहवास या मालिक से रहित) गृह का कोई स्वामी प्रकट हो जाए तो पुनः उसकी आज्ञा लेना आवश्यक होता है।

(३३) ग्रामादि के बाहर सेना का पड़ाव हो तो भिक्षा के लिए साधु-साध्वी अन्दर जा सकते हैं, किन्तु उन्हें वहाँ रात्रि निवास करना नहीं कल्पता है। रात्रि निवास करने पर गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

(३४) साधु-साध्वी जिस उपाश्रय में ठहरे हों वहाँ से वे किसी भी एक दिशा में अढ़ाई कोस तक गमनागमन कर सकते हैं, उससे अधिक नहीं। आहार-पानी ले जाना तो दो कोस तक ही कर सकते हैं। दो कोस = ४००० धनुष अर्थात् लगभग सात किलोमीटर।

उद्देशक-४

प्रश्न-१ : इस उद्देशक में कितने सूत्र है और उनमें किस विषयों का निरूपण है ?

उत्तर- इसमें ३६ सूत्र है जिनमें आचार एव व्यवहारिक अनेक बातों का निरूपण है उसका सारा श इस प्रकार है-

(१) हस्तकर्म, मैथुन सेवन एव रात्रि भोजन का अनुद्धातिक गुरु प्रायश्चित्त आता है।

(२) तीन प्रकार के दोष सेवन करने पर पारा चिक नामक दसवा प्रायश्चित्त आता है। १. अति(तीव्र) द्वेष, २. अति(तीव्र) प्रमाद, ३. साधु-साधु परस्पर कुशील सेवन।

(३) तीन प्रकार के दोष सेवन करने पर अनवस्थाप्य नामक नवमा प्रायश्चित्त आता है। १. साधर्मिक की चोरी २. अन्यधर्मी की चोरी ३. मारपीट हिंसा आदि।

(४-६) तीन प्रकार के नपुस कों को दीक्षित, मु ड़ित या उपस्थापित करना आदि नहीं कल्पता है। १. कृत या स्वभाविक नपुंसक २. वात-प्रकोप से वेद धारण न कर सकने वाला ३. चिंतन मात्र से शीघ्र ही वीर्य गिर जाने वाला।

(१०-११) तीन अवगुण वाले को वाचना नहीं देना किन्तु तीन गुण वाले को वाचना देना। १. विनयव त २. तनुकषायी ३. विगयमुक्त। प्रतिपक्ष में- १. अविनीत २. दीर्घ कषायी ३. विगयाशक्त।

(१२-१३) तीन प्रकार के व्यक्तियों को समझाना कठिन होता है और तीन प्रकार के व्यक्तियों को समझाना सरल होता है। १. कलुषित हृदयी २. मूर्ख ३. दुराग्रही कृतघ्नी(ड़ेढ़ हुशियार)। प्रतिपक्ष में- १. पवित्र हृदयी २. बुद्धिमान ३. सरल नम्र परिणामी।

(१४-१५) विशेषपरिस्थिति में सेवा करने वाले स्त्री पुरुष के स्पर्श आदि से भिक्षु भिक्षुणी मैथुन सेवन के स कल्प युक्त सुखानुभव करे तो उसे चतुर्थ व्रत के भ ग होने का गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

(१६) प्रथम प्रहर में ग्रहण किया आहार पानी चतुर्थ प्रहर में नहीं रखना।

(१७) दो कोश से आगे आहार पानी नहीं ले जाना।

(१८) अनाभोग से ग्रहण किये अनेषणीय आहारादि को नहीं खाना किन्तु अनुपस्थापित नवदीक्षित भिक्षु खा सकता है।

(१९) प्रथम और अ तिम तीर्थंकर के साधुओं को औद्देशिक आहार ग्रहण करना नहीं कल्पता है मध्यम २२ तीर्थंकरों के साधुओं को कल्पता है।

(२०-२८) अध्ययन करने हेतु, गण परिवर्तन करने हेतु एव अध्ययन कराने आदि हेतु से अन्य गण में जाना हो तो आचार्य आदि की आज्ञा लेकर सूत्रोक्त विधि से कोई भी साधु या पद्वीधर जा सकता है।

(२९) कालधर्म प्राप्त भिक्षु को उसके साधर्मिक साधु गृहस्थ से प्रतिहारिक उपकरण लेकर गाँव के बाहर एकान्त में ले जाकर परठ सकते हैं।

(३०) क्लेश को उपशान्त किये बिना भिक्षु को गोचरी आदि नहीं जाना चाहिए। क्लेश को उपशान्त करने पर यथोचित प्रायश्चित्त ही देना एव लेना चाहिए। आगम विपरीत प्रायश्चित्त देना भी नहीं और कोई दे तो लेना भी नहीं चाहिए।

(३१) आचार्य परिहार तप वहन करने वाले को साथ ले जाकर एक दिन गोचरी दिलवावे, बाद में आवश्यक होने पर ही वैयावृत्य आदि कर सकते हैं।

(३२) अधिक प्रवाह वाली नदियों को एक मास में एक बार से अधिक बार पार नहीं करना चाहिए। किन्तु ज घार्द्ध प्रमाण-घुटने से नीचे, जल प्रवाह वाली नदी को सूत्रोक्त विधि से एक मास में अनेक बार भी पार किया जा सकता है।

(३३-३६) घास के बने मकानों की ऊँचाई कम हो तो वहाँ नहीं ठहरना चाहिए। किन्तु अधिक ऊँचाई हो तो ठहरा जा सकता है। चातुर्मास किया जा सकता है।

प्रश्न-२ : साधुओं के कल्प कितने कहे गये है और उसमें किस तीर्थंकर के शासन में कितने कल्प जरूरी और कितने वैकल्पिक-एच्छिक होते हैं ?

उत्तर- जो साधु आचेलक्य आदि दस प्रकार के कल्प में स्थित होते हैं और पँच याम रूप धर्म का पालन करने हैं ऐसे प्रथम और अ तिम तीर्थंकर के साधुओं को कल्पस्थित कहते हैं।

जो आचेलक्यादि दस प्रकार के कल्प में स्थित नहीं है किन्तु कुछ ही कल्पों में स्थित हैं और चातुर्याम रूप धर्म का पालन करते हैं ऐसे मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरों के साधु अकल्पस्थित कहे जाते हैं। जो आहार गृहस्थों ने कल्पस्थित साधुओं के लिए बनाया है, उसे वे नहीं ग्रहण कर सकते हैं, किन्तु अकल्पस्थित साधु ग्रहण कर सकते हैं।

इसी प्रकार जो आहार अकल्पस्थित जिन साधुओ के लिए बनाया गया है उसे अन्य अकल्पस्थित साधु ग्रहण कर सकते हैं और सभी कल्पस्थित साधु ग्रहण नहीं कर सकते हैं।

दस कल्प(साधु के आचार) :–

(१) अचेलकल्प– अमर्यादित वस्त्र न रखना किन्तु मर्यादित वस्त्र रखना। र गीन वस्त्र न रखना किन्तु स्वाभाविक र ग का अर्थात् सफेद र ग का वस्त्र रखना। मूल्यवान चमकीले वस्त्र न रखना किन्तु अल्प मूल्य के सामान्य वस्त्र रखना।

(२) औद्देशिक कल्प– अन्य किसी भी साधर्मिक या सा भोगिक साधुओं के उद्देश्य से बनाया गया आहार आदि औद्देशिक दोष वाला होता है। ऐसे आहार आदि को ग्रहण नहीं करना।

(३) शय्यातरपिंड़कल्प– शय्यादाता(मकान मालिक) का आहारादि ग्रहण नहीं करना।

(४) राजपिंड़ कल्प– मूर्धाभिषिक्त राजाओं का आहारादि नहीं लेना।

(५) कृतिकर्मकल्प– रत्नाधिक को व दन आदि विनय-व्यवहार करना।

(६) व्रतकल्प– पाँच महाव्रतों का पालन करना अथवा चार याम का पालन करना। चार याम में चौथे और पाँचवें महाव्रत का सम्मिलित नाम 'बहिद्धादाण ' है ।

(७) ज्येष्ठकल्प– जिसकी बड़ी दीक्षा(उपस्थापना) पहले हुई हो, वह ज्येष्ठ कहा जाता है साध्वियों के लिये सभी साधु ज्येष्ठ होते हैं। अतः उन्हें ज्येष्ठ मानकर व्यवहार करना।

(८) प्रतिक्रमण कल्प– नित्य नियमित रूप से दैवसिक एव रात्रिक प्रतिक्रमण करना।

(९) मासकल्प– हेम त–ग्रीष्म ऋतु में विचरण करते हुए किसी भी ग्रामादि में एक मास से अधिक नहीं ठहरना तथा एक मास ठहरने के बाद वहाँ दो मास तक पुनः आकर नहीं ठहरना। साध्वी के लिये एक मास के स्थान पर दो मास का कल्प समझना।

(१०) चातुर्मासकल्प– वर्षा ऋतु में चार मास तक एक ही ग्रामादि में स्थित रहना किन्तु विहार नहीं करना। चातुर्मास के बाद उस ग्राम में नहीं रहना। एव आठ मास(और बाद में चातुर्मास काल आ जाने से बारह मास) तक पुनः वहाँ आकार नहीं रहना।

ये दस ही कल्प प्रथम एव अ तिम तीर्थंकर के साधु-साध्वियों को पालन करना आवश्यक होता है। मध्यम तीर्थंकरों के साधु-साध्वियों को चार कल्प का पालन करना आवश्यक होता है, शेष छः कल्पों का पालन करना आवश्यक नहीं होता।

चार आवश्यक कल्प :– १. शय्यातरपि ड़कल्प, २. कृतिकर्मकल्प, ३. व्रतकल्प, ४. ज्येष्ठकल्प।

छः ऐच्छिक कल्पों का स्पष्टीकरण :–

(१) अचेल– अल्प मूल्य या बहुमूल्य, स्वाभाविक, किसी भी प्रकार के वस्त्र अल्प या अधिक परिमाण में इच्छानुसार या मिले जैसे ही रखना।

(२) औद्देशिक– स्वय के निमित्त बना हुआ आहारादि नहीं लेना किन्तु अन्य किसी भी साधर्मिक साधु के लिये बने आहारादि इच्छानुसार लेना।

(३) राजपि ड़– मूर्धाभिषिक्त राजाओं का आहार ग्रहण करने में इच्छानुसार करना।

(४) प्रतिक्रमण– नियमित प्रतिक्रमण इच्छा हो तो करना किन्तु पक्खी चातुर्मासिक और सा वत्सरिक प्रतिक्रमण अवश्य करना।

(५) मासकल्प– किसी भी ग्रामादि में एक मास या उससे अधिक इच्छानुसार रहना या कभी भी वापिस वहाँ आकर ठहरना।

(६) चातुर्मास कल्प– इच्छा हो तो चार मास एक जगह ठहरना या नहीं ठहरना किन्तु स वत्सरी के बाद कार्तिक सुदी पुनम तक एक जगह ही रहना। उसके बाद इच्छा हो तो विहार करना, इच्छा न हो तो न करना।

प्रश्न–३ : साधु-साध्वीओं के परस्पर स ब ध स भोग कितने होते है और उनका परस्पर विवेक क्या–क्या दर्शाया गया है ?

उत्तर– साधु मण्ड़ली में एक साथ बैठना-उठना, खाना-पीना, तथा अन्य दैनिक कर्तव्यों का एक साथ पालन करना 'स भोग' कहलाता है।

समवाया ग सूत्र के समवाय १२ में स भोग के बारह भेद बतलाये गये हैं, वे इस प्रकार हैं–

(१) उपधि– वस्त्र पात्र आदि उपकरणों को परस्पर देना-लेना।

(२) श्रुत– शास्त्र की वाचना देना-लेना।

(३) भक्तपान– परस्पर आहार पानी या औषध का लेन–देन करना।

(४) अ जली प्रग्रह- स यम पर्याय में ज्येष्ठ साधुओं के पास हाथ जोड़ कर खड़े रहना या उनके सामने मिलने पर मस्तक झुका कर हाथ जोड़ना। **(५) दान-** शिष्य का देना-लेना। **(६) निम त्रण-** शय्या, उपधि, आहार, शिष्य एव स्वाध्याय आदि के लिए निम त्रण देना। **(७) अभ्युत्थान-** दीक्षा पर्याय में किसी ज्येष्ठ साधु के आने पर खड़े होना। **(८) कृतिकर्म-** अ जलि ग्रहण, आवर्तन, मस्तक झुका कर हाथ जोड़ना एव सूत्रोच्चारण कर विधि पूर्वक व दन करना। **(९) वैयावृत्य-** अ ग मर्दन आदि शारीरिक सेवा करना, आहार आदि लाकर के देना, वस्त्रादि सीना या धोना, मल-मूत्र आदि परठना अथवा ये सेवा कार्य अन्य भिक्षु से करवाना। **(१०) समवसरण-** एक ही उपाश्रय में बैठना, सोना, रहना आदि प्रवृत्तिया करना। **(११) सन्निषद्या-** एक आसन पर बैठना अथवा बैठने के लिए आसन देना। **(१२) कथाप्रब ध-** सभा में एक साथ बैठकर या खड़े रहकर प्रवचन देना।

एक गण के या अनेक गणों के साधुओं में ये बारह ही प्रकार के पारस्परिक व्यवहार विहित होते हैं वे परस्पर **सा भोगिक** साधु कहे जाते हैं ।

जिन साधुओं में 'भक्तपान' के अतिरिक्त ग्यारह व्यवहार होते हैं वे परस्पर **अन्य सा भोगिक** साधु कहे जाते हैं। आचार-विचार लगभग समान होने से वे **समनोज्ञ** साधु भी कहे जाते हैं। समनोज्ञ साधुओं के साथ ही ये ग्यारह या बारह प्रकार के व्यवहार किये जाते हैं किन्तु असमनोज्ञ अर्थात् पार्श्वस्थादि एव स्वछ दाचारी के साथ ये बारह प्रकार के व्यवहार नहीं किये जाते हैं। लोक व्यवहार या अपवाद रूप में गीतार्थ के निर्णय से उनके साथ कुछ व्यवहार किये जा सकते हैं। उनका कोई प्रायश्चित्त नहीं है। किन्तु अकारण या गीतार्थ के अभाव में ये व्यवहार करने पर प्रायश्चित्त आता है।

गृहस्थ के साथ ये सभी व्यवहार नहीं किये जाते हैं।साध्वियों के साथ उत्सर्ग विधि से छः व्यवहार ही होते हैं एव छः व्यवहार आपवादिक स्थिति में किये जा सकते हैं।

उत्सर्ग व्यवहार	**अपवाद व्यवहार**
१. श्रुत(दूसरा)	१. उपधि(पहला)
२. अ जलि प्रग्रह (चौथा)	२. भक्त-पान(तीसरा)
३. शिष्य दान (पाँचवाँ)	३. निम त्रण(छठा)
४. अभ्युत्थान(सातवाँ)	४. वैयावृत्य(नवमा)
५. कृतिकर्म (आठवाँ)	५. समवसरण (दसवाँ)
६. कथा-प्रब ध (बारहवाँ)	६. सन्निषद्या (ग्यारहवाँ)

प्रायश्चित्त :- ये बारह व्यवहार **गृहस्थ** के साथ करने पर गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है। **स्वछ दाचारी** के साथ ये व्यवहार करने पर गुरु-चौमासी और पार्श्वस्थादि के साथ करने पर लघु चौमासी या लघु मासिक प्रायश्चित्त आता है। **साध्वियों** के साथ अकारण आपवादिक व्यवहार करने पर लघुचौमासी और गीतार्थ की आज्ञा के बिना करने पर गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है। **अन्य सा भोगिक** समनोज्ञ भिक्षुओं के साथ भक्त-पान का व्यवहार करने से लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

भाष्यकार ने यह भी कहा है कि लोक-व्यवहार या आपवादिक स्थिति में गीतार्थ की निश्रा से भी जो आवश्यक व्यवहार(अ जलिप्रग्रह आदि) पार्श्वस्थादि के साथ नहीं करता है वह भी प्रायश्चित्त का भागी होता है एव ऐसा करने से जिनशासन की अभक्ति और अपयश होता है।

प्रश्न-४ : साधु को एक गच्छ से दूसरे गच्छ में जाना हो तो किस विधि से कब जा सकता है या नहीं जा सकता है ?

उत्तर- सूत्र पठित वाक्यों से यह सूचित किया गया है कि जब कोई साधु यह देखें कि इस स घ में रहते हुए, एक मण्ड़ली में खान-पान एव अन्य कृतिकर्म करते हुए भावविशुद्धि के स्थान पर स क्लेशवृद्धि हो रही है, और इस कारण से मेरे ज्ञान, दर्शन चारित्र आदि की समुचित साधना नहीं हो रही है, तब वह अपने को स क्लेश से बचाने के लिए तथा ज्ञान-चारित्रादि की वृद्धि के लिए अन्य गण में, जहाँ पर कि अधिक धर्मलाभ की स भावना हो, जाने की इच्छा करे तो वह जिसकी निश्रा में रह रहा है उनकी अनुज्ञा लेकर जा सकता है।

उद्देशक-५

प्रश्न-१ : इस उद्देशक में कितने सूत्र है और उनमें क्या निरूपण किया गया है ?

उत्तर– इस उद्देशक में ५० सूत्रों द्वारा विभिन्न विषयों का निरुपण है जिसका सारा श इस प्रकार है–

(१-४) देव या देवी, स्त्री का या पुरुष का रूप विकुर्वित कर साधु-साध्वी का आलि गन आदि करे तब वे उसके स्पर्श आदि से मैथुन भाव का अनुभव करे तो उन्हें गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

(५) अन्य गण से कोई भिक्षु आदि क्लेश करके आवे तो उसे समझाकर शा त करना एव पाँच दिन आदि का दीक्षा छेद प्रायश्चित्त देकर पुनः उसके गण में भेज देना।

(६-९) यदि आहार ग्रहण करने के बाद या खाते समय यह ज्ञात हो जाए कि सूर्यास्त हो गया है या सूर्योदय नहीं हुआ है तो उस आहार को परठ देना चाहिए। यदि खावे तो उसे गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

(१०) रात्रि समय मु ह में उद्गाल आ जाए तो उसे नहीं निगलना चाहिए किन्तु परठ देना चाहिए।

(११) गोचरी करते हुए कभी आहार में सचित्त बीज, रज या त्रस जीव आ जाए तो उसे सावधानी पूर्वक निकाल देना चाहिए। यदि नहीं निकाल सके तो उतना स सक्त आहार परठ देना चाहिए।

(१२) गोचरी करते हुए कभी आहार में सचित्त जल की बूंद आदि गिर जाए तो गर्म आहार को खाया जा सकता है और ठण्ड़े आहार को परठ देना चाहिए। अथवा कुछ देर से अचित होने की स भावना हो तो बाद में खाया जा सकता है।

(१३-१४) रात्रि में मल-मूत्र त्याग करती हुई निर्ग्रन्थी के गुप्ता गों का कोई पशु या पक्षी स्पर्श करे या उसमें अवगाहन करे और निर्ग्रन्थी मैथुन भाव से उसका अनुमोदन करे तो उसे गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

(१५-१७) निर्ग्रन्थी को गोचरी, स्थंड़िल या स्वाध्याय आदि के लिये केले नहीं जाना चाहिए तथा विचरण एव चातुर्मास भी अकेले नहीं करना चाहिए। (कि तु साधु को अकेले गोचरी जाने पर या विहार करने का यहाँ निषेध नहीं है। अन्यत्र भी अयोग्य भिक्षु के लिए ही निषेध फलित होता है। सर्वथा निषेध साधु के लिये आगम में नहीं है।)

(१८-२१) निर्ग्रन्थी को वस्त्र रहित होना, पात्र रहित होना, शरीर को

वोसिरा कर रहना, ग्राम के बाहर आतापना लेना नहीं कल्पता है किन्तु सूत्रोक्त विधि से वह उपाश्रय में आतापना ले सकती है।

(२२-३२) निर्ग्रन्थी को किसी भी प्रकार के आसन से प्रतिज्ञाबद्ध होकर रहना नहीं कल्पता है। बिना प्रतिज्ञा के कोई भी योग्य आसन कर सकती है।

(३३-४४) आकु चन पट्ट, आलम्बनयुक्त आसन, छोटे स्तम्भ युक्त पीढ़े, नाल युक्त तुम्बा, काष्ट दण्ड़ युक्त पात्र केसरिका(पूंजणी) या पाद प्रौंछन साध्वी को रखना नहीं कल्पता है किन्तु साधु इन्हें रख सकता है।

(४५) प्रबल कारण के बिना साधु-साध्वी एक दूसरे के मूत्र को पीने एव आचमन-मालिस करने के उपयोग में नहीं ले सकते हैं।

(४६-४८) साधु-साध्वी रात रखे हुए आहार-पानी औषध या लेप्य पदार्थो को प्रबल कारण के बिना उपयोग में नहीं ले सकते किन्तु प्रबल कारण से वे उन पदार्थो का दूसरे दिन में उपयोग कर सकते हैं।

(४९) परिहार तप वहन करने वाला भिक्षु सेवा के लिये जावे उस समय यदि अपनी किसी मर्यादा का उल्ल घन कर ले तो उसे सेवा कार्य से निवृत्त होने पर अत्यल्प प्रायश्चित्त देना चाहिए।

(५०) अत्यन्त पौष्टिक आहार आ जाने के बाद साध्वी को अन्य आहार की गवेषणा नहीं करनी चाहिए। किन्तु उस आहार से निर्वाह न हो सके इतनी अल्प मात्रा में ही आया हो तो पुनः गोचरी लाने के लिये जा सकती है।

प्रश्न-२ : साधु-साध्वी को रात्रि में उद्गाल आ जाय तो क्या करे ?

उत्तर– जब कभी कोई साधु मात्रा से अधिक खा-पी लेता है, तब उसे उद्गाल आता है और पेट का अन्न और पान मुख में आ जाता है। इसलिए गुरुजनों का उपदेश है कि साधु को सदा मात्रा से कम ही खाना-पीना चाहिए।

कदाचित् साधु के अधिक मात्रा में आहार-पान हो जाए और रात में या सा यकाल में उद्गाल आ जाए तो उसे सूत्रोक्त विधि के अनुसार वस्त्र आदि से मुख को शुद्ध कर लेना चाहिए। जो उस उगाल आये भक्त-पान को वापस निगल जाता है वह सूत्रोक्त प्रायश्चित्त

का भागी होता है। इस विषय को स्पष्ट करने के लिए भाष्यकार ने एक रूपक दिया है।

जैसे कड़ाही में मात्रा से कम दूध आदि ओटाया या राँधा जाता है तो वह उसके भीतर ही उबलता पकता रहता है, बाहर नहीं आता। किन्तु जब कड़ाही में भर पूर दूध या अन्य कोई पदार्थ भर कर ओटाया या पकाया जाता है तब उसमें उबाल आने पर वह कड़ाही से बाहर निकल जाता है और कभी तो वह चूल्हे की आग तक को बूझा देता हैं।

इसी प्रकार मर्यादा से अधिक आहार करने से उद्‌गाल आ जाता है और कम आहार करने से उद्‌गाल नहीं आता हैं।

प्रश्न-३ : क्या साधु कभी रात्रि में आहार रख सकता है, उपयोग कर सकता है ?

उत्तर- इन सूत्रों में रात्रि में रखे गये पदार्थों का परिस्थितिवश खाने एव उपयोग में लेने का विधान किया गया है। इससे रात्रि में खाना या उपयोग में लेना न समझकर परिवासित(रात्रि में रखे गये) पदार्थों को दिन में उपयोग में लेने का ही समझना चाहिये। दुर्लभ द्रव्यों का रात में रखने की एव प्रबल रोगा तक में दिन में उपयोग लेने की छूट सूत्र से समझ लेनी चाहिये। भिन्न-भिन्न पदार्थों को रात्रि में किस विवेक से किस प्रकार रखना इसकी विधि भाष्य से जाननी चाहिए। यहाँ प्रथम प्रहर का अर्थ करना सूत्रार्थ और शब्दार्थ को छिपाकर मन कल्पित अर्थ करना है। प्रमाण के लिये प्राचीन व्याख्या व कोष देखने चाहिए।

प्रश्न-४ : साध्वी को अमुक आसन निषेध क्यों है ? और साधुओ को नहीं है क्यों ?

उत्तर- वीरासण गोदोही, मुत्तुं सव्वे वि ताण कप्पति।
ते पुण पडुच्च चेट्ठ , सुत्ता उ अभिग्गह पप्प ॥५९५६॥

अर्थ :- वीरासन और गोदोहिकासन को छोड़कर प्रवृत्ति की अपेक्षा सभी आसन साध्वी को करने कल्पते हैं। सूत्रों में जो निषेध किया है वह अभिग्रह की अपेक्षा से किया है।

वीरासन और गोदुहिकासन ये स्त्री की शारीरिक समाधि के अनुकूल नहीं होते हैं, इस कारण से भाष्यकार ने निषेध किया है।

यद्यपि अभिग्रह आदि साधनाएँ विशेष निर्जरा के स्थान है फिर

भी साध्वी के लिये ब्रह्मचर्य महाव्रत की सुरक्षा में बाधक होने से इन आसन स ब धी अभिग्रहों का निषेध किया गया है। भाष्य में विस्तृत चर्चा सहित इस विषय को स्पष्ट किया गया है तथा वहाँ अगीतार्थ भिक्षुओं को भी इन अभिग्रहों के धारण करने का निषेध किया है।

प्रश्न-५ : आल बन युक्त आसन के सेवन में भी साधु-सध्वी के कल्प में अ तर है क्या ?

उत्तर- 'आकुंचनपट्टक' का दूसरा नाम 'पर्यस्तिकापट्टक' है। यह चार अ गुल चौड़ा एव शरीरप्रमाण जितना सूती वस्त्र होता है। भींत आदि का सहारा न लेना हो तब इसका उपयोग किया जाता है।

जहाँ दीवाल आदि पर उदई आदि जीवों की सम्भावना हो और वृद्ध ग्लान आदि को अवलम्बन लेकर बैठना आवश्यक हो तो इस पर्यस्तिकापट्ट से कमर को एव घुटने ऊँचे करके पैरों को बाँध देने पर आराम कुर्सी के समान अवस्था हो जाती है और दीवाल का सहारा लेने के समान शरीर को आराम मिल जाता है।

पर्यास्तिकापट्ट लगाकर इस तरह बैठना गर्वयुक्त आसन होता है। साध्वी के लिये इस प्रकार बैठना शरीर-स रचना के कारण लोक निंदित होता है। इसलिए सूत्र में उनके लिये पर्यस्तिकापट्टक का निषेध किया गया है ।

भाष्यकार ने बताया है कि अत्यन्त आवश्यक होने पर साध्वी को पर्यस्तिकापट्टक लगाकर उसके ऊपर वस्त्र ओढ़कर बैठने का विवेक रखना चाहिए। साधु को भी सामान्यतया पर्यस्तिकापट्ट नहीं लगाना चाहिये क्यों कि विशेष परिस्थिति में उपयोग करने के लिये ही यह औपग्रहिक उपकरण है।

पूर्व सूत्रों में अवलम्बन लेने के लिये पर्यस्तिका वस्त्र का कथन करने के बाद आगे के सूत्रों में अवलम्बन युक्त कुर्सी आदि आसनों का वर्णन है। आवश्यक होने पर भिक्षु इन साधनों का उपयोग कर सकता है। इनके न मिलने पर पर्यस्तिकापट्ट का उपयोग किया जाता है। जिन भिक्षुओं को पर्यस्तिकापट्ट की सदा आवश्यकता प्रतीत होवे तो वे उसे अपने पास रख सकते हैं। क्यों कि कुर्सी आदि साधन सभी क्षेत्रों में उपलब्ध नहीं होते।

सूत्र में साध्वी को अवलम्बन युक्त इन आसनों का भी निषेध किया गया है। साधु-साध्वी सामान्य रूप से भी कुर्सी आदि उपकरण उपयोग में लेना आवश्यक समझें तो अवलम्बन लिये बिना वे उनका विवेक पूर्वक उपयोग कर सकते है।

पाट या बाजोट आदि पर सींग जैसे ऊँचे उठे हुए छोटे-छोटे स्तम्भ होते हैं ! वे गोल एव चिकने होने से पुरुष चिह्न जैसे प्रतीत होते हैं। इसलिये इनका उपयोग करना साध्वी के लिये निषेध किया गया है। साधु को भी अन्य पीठ-फलग मिल जावे तो विषाण युक्त पीठ फलग आदि उपयोग में नहीं लेने चाहिए। क्यों कि सावधानी न रहने पर इनकी टक्कर से गिरने की या चोट लगने की सम्भावना रहती है और नुकीले हों तो चुभने की भी सम्भावना रहती है।

प्रश्न–६ : जैनागमो में स्वमूत्र उपयोग की विचारणा किस प्रकार मिलती है ?

उत्तर– सूत्रोक्त प्रतिमाओं को धारण करने के बाद चारों प्रकार के आहार का त्याग कर दिया जाता है, केवल स्वमूत्र पान करना खुला रहता है अर्थात् उन दिनों में जब जब जितना भी मूत्र आवे उसे सूत्रोक्त नियमों का पालन करते हुए पी लिया जाता है।

नियम इस प्रकार है :– (१) दिन में पीना, रात्रि में नहीं। (२) कृमि, वीर्य, रज या चिकनाई युक्त हो तो नहीं पीना चाहिए। शुद्ध हो तो पीना चाहिए।

प्रतिमाधारी भिक्षु के उक्त रक्त, स्निग्धता आदि विकृतिया किसी रोग के कारण या तपस्या एव धूप की गर्मी के कारण हो सकती है, ऐसा भाष्य में बताया गया है। कभी मूत्र पान से ही शरीर के विकारों की शुद्धि होने के लिए भी ऐसा होता है।

यद्यपि इस प्रतिमा वाला चौविहार तपस्या करता है और रात-दिन व्युत्सर्ग तप में रहता है फिर भी वह मूत्र की बाधा होने पर कायोत्सर्ग का त्याग कर मात्रक में प्रस्त्रवण त्याग करके उसका प्रतिलेखन करके पी लेता है। फिर पुनः कायोत्सर्ग में स्थित हो जाता है। यह इस प्रतिमा की विधि है।

इस प्रतिमा का पालन करने वाला मोक्षमार्ग की आराधना

करता है। साथ ही उसके शारीरिक रोग दूर हो जाते है और क चन-वर्णी बलवान शरीर हो जाता है। प्रतिमा आराधना के बाद पुनः उपाश्रय में आ जाता है। भाष्य में उसके पारणे में आहार-पानी की ४९ दिन की क्रमिक विधि बताई गई है।

लोकव्यवहार में मूत्र को एका त अशुचिमय एव अपवित्र माना जाता है किन्तु वैद्यक ग्रन्थों में इसे 'सर्वोषधि' शिवा बु आदि नामों से कहा गया है और जैनागमों में भिक्षु को 'मोयसमायारे' कह कर गृहस्थों को शुचिसमाचारी वाला कहा गया है।

अभि. रा. कोश में 'निशाकल्प' शब्द में साधु के लिए रात्रि में पानी के स्थान पर इसे आचमन करने में उपयोगी होना बताया है। स्वमूत्र का विधि पूर्वक पान करने पर एव इसका शरीर की त्वचा पर अभ्य गन करने पर अनेक असाध्य रोग दूर हो जाते हैं। चर्मरोग के लिए या किसी प्रकार की चोट खरोंच आदि के लिए यह एक सफल औषध है अतः आगमों में मूत्र को एकान्त अपवित्र या अशुचिमय नहीं मानकर अपेक्षा से पेय एव अपेक्षा से अशुचिमय भी माना है।

भाष्यकार ने यह भी बताया है कि जनसाधारण शौचवादी होते हैं और मूत्र को एकान्त अपवित्र मानते हैं, अतः प्रतिमाधारी भिक्षु चारों और प्रतिलेखन करके कोई भी व्यक्ति न देखें, ऐसे विवेक के साथ मूत्र का पान करे। तदनुसार भिक्षुओं को भी प्रस्त्रवण सम्बन्धी कोई भी प्रवृत्ति करनी हो तो जनसाधारण से अदृष्ट एव अज्ञात रखते हुए करने का विवेक रखना चाहिए।

वर्तमान में भी मूत्रचिकित्सा का महत्व बहुत बढ़ा है, इस विषय के स्वतन्त्र ग्रन्थ भी प्रकाशित हुए हैं। जिसमें कैंसर, टी॰बी॰ आदि असाध्य रोगों के उपशा त होने के उल्लेख भी मिलते हैं।

प्रश्न–७ : क्या साधु-साध्वी परस्पर एक दूसरे का स्वमूत्र उपयोग में ले सकते हैं ?

उत्तर– यद्यपि मूत्र अपेय है फिर भी वैद्य के कहने पर रक्तविकार, कोढ़ आदि कष्टसाध्य रोगों में अथवा सर्पड़ श या शीघ्र प्राणहरण करने वाले आत क होने पर साधु और साध्वियों को मूत्र पीने की और शोथ खुजली आदि रोग होने पर उससे मालिश करने की छूट प्रस्तुत सूत्र मे दी गई है।

अनेक रोगों में गाय, बकरी आदि का तथा अनेक रोगों में स्वय के मूत्रपान का चिकित्सा शास्त्र में विधान किया गया है। इन कारणों से कभी साधु-साध्वी को परस्पर मूत्र के आदान-प्रदान करने का प्रस ग आ सकता हैं। इसी अपेक्षा से सूत्र में विधान किया गया है तथा सामान्य स्थिति में परस्पर लेन-देन करने का निषेध भी किया है। आचमन का अर्थ शुद्धि करना भी होता है किन्तु यहाँ पर प्रबल रोग सम्बन्धी विधान होने से मालिश करने का अर्थ ही प्रस गानुकूल है।

उद्देशक-६

प्रश्न-१ : इस उद्देशक में कितने सूत्र है उनमें क्या निरूपण किया गया है ?

उत्तर- इसमें २० सूत्र है जिसमें विविध विषयो का सारा श इस प्रकार है- **(१)** साधु-साध्वी को छः प्रकार के अकल्पनीय वचन नहीं बोलना चाहिए। १. झूठ, २. हीलित, ३. खि सित, ४. परुष वचन, ५. गृहस्थ के स बोधन, ६. क्लेशोत्पादक वचन। **(२)** किसी भी साधु पर असत्य आरोप नहीं लगाना। क्यों कि प्रमाणाभाव में स्वय को प्रायश्चित्त का पात्र होना पड़ता है। **(३-६)** परिस्थितिवश साधु-साध्वी एक दूसरे के पैर में से क टक निकाल सकते हैं और आँख में पड़ी रज आदि भी निकाल सकते हैं। **(७-१८)** सूत्रोक्त विशेष परिस्थितियों में साधु किसी भी साध्वी को सहारा दे सकता है एव परिचर्या भी कर सकता है। उन्मत्त, पागल, भयाक्रांत, अशा तचित्त आदि। **(१९)** साधु-साध्वी स यम नाशक छः दोषों को जानकर उनका परित्याग करे। १. अस्थिर काय रहना, २. चक्षुलोलुप होना, ३. वाचाल होना, ४. तिनतिनाट करना, ५. इच्छाओं के अधीन होना, ६. निदानकारी होना। **(२०)** स यम पालन करने वालों की भिन्न-भिन्न साधना की अपेक्षा से छः प्रकार की आचार मर्यादा होती है। सामायिक चारित्रकल्प छेदोपस्थापनीय कल्प, स्थविर-कल्प, जिनकल्प, परिहार विशुद्ध कल्प में निर्विश्यमान कल्प, निर्विष्ट-कायिक कल्प आदि।

॥ बृहत्कल्प सूत्र स पूर्ण ॥

व्यवहार सूत्र : परिचय

प्रश्न-१ : इस सूत्र का परिचय क्या है ?

उत्तर- छेद सूत्र के हमारे क्रम में यह अ तिम चौथा सूत्र है। प्रार भ में इसमें प्रायश्चित्त के कुछ सूत्र निशीथ उद्देशक २० में से यहाँ पुरावर्तन है। आगे सभी व्यवहार स ब धी अर्थात् स घ व्यवस्था स ब धी साधु-साध्वी की स भाल सेवा स्वाध्याय आदि स ब धी, उत्सर्ग अपवाद स ब धी, प्रायश्चित्त स ब धी विषयों का निरूपण है। रचनाकार व्याख्याकार बृहत्कल्प के समान ही है। इसकी टीका युक्त प्रकाशन अहमदाबाद से हुआ है। जब कि बृहत्कल्प का प्रकाशन भावनगर से हुआ है।

हिन्दी विवेचन में ब्यावर मधुकर मुनि के स पादन का त्रीणि छेद सूत्राणि श्रेष्ठ हैं और गुजराती में गुरुप्राण फाउन्ड़ेशन, राजकोट से भी न अति स क्षिप्त, न अति विस्तृत प्रकाशन हुआ है। हमारे प्रावधान में इन चारों छेद सूत्रों की अलग-अलग छोटी पुस्तके भी हिंदी में छपी है और ये चारों भाग तथा परिशिष्ट के २ भाग सहित ६ पुस्तकें एक जिल्द में भी छपी है। गुजराती में भी सारा श छप चुका है। अब प्रश्नोत्तर प्रावधान में ये चारों छेद सूत्र हिन्दी, गुजराती में प्रकाशित हो रहे हैं।

यह सूत्र परिमाण की अपेक्षा ८३५ श्लोक का माना गया है। इसके १० अध्ययन है उन्हें उद्देशक कहा गया है। सुधर्मप्रचार म ड़ल आदि अन्य भी अनेक जगहों से छेदसूत्र अर्थ एवं मूलगुटकों के रूपमें प्रकाशित हुए हैं।

उद्देशक-१

प्रश्न-१ : इस उद्देशक में कितने सूत्र है और उनमें क्या निरूपण किया गया है ?

उत्तर- इसमें ३३ सूत्र है उनका क्रमा कयुक्त सारा श इस प्रकार है- **(१-१४)** एक मास से लेकर छः मास तक प्रायश्चित्त स्थान का एक

बार या अनेक बार सेवन करके कोई कपट रहित आलोचना करे तो उसे उतने मास का प्रायश्चित्त आता है और कपटयुक्त आलोचना करे तो उसे एक गुरु मास का अधिक प्रायश्चित्त आता है और छः मास या उससे अधिक प्रायश्चित्त होने पर छः मास का ही प्रायश्चित्त आता है।

(१५-१८) प्रायश्चित्त वहन करते हुए पुनः दोष लगाकार दो चौभ गी में से किसी भी भ ग से आलोचना करे तो उसका प्रायश्चित्त देकर आरोपणा कर देनी चाहिए। ये अठारह सूत्र निशीथ उद्देशक-२० के अठारह सूत्र के समान है।

(१९) पारिहारिक एव अपारिहारिक भिक्षु को एक साथ बैठना, रहना आदि प्रवृत्ति नहीं करना चाहिए एव आवश्यक हो तो स्थविरों की आज्ञा लेकर ऐसा कर सकते हैं ।

(२०-२२) पारिहारिक भिक्षु शक्ति हो तो तप वहन करते हुए सेवा में जावे और शक्ति अल्प हो तो स्थविरभगवन्त से आज्ञा प्राप्त करके तप छोड़कर भी जा सकता है। मार्ग में विचरण की दृष्टि से उसे कहीं जाना या ठहरना नहीं चाहिए। रोग आदि के कारण ज्यादा ठहर सकता है। अन्यथा एक जगह एक रात्रि ही रुक सकता है।

(२३-२५) एकलविहारी, भूतपूर्व आचार्य, उपाध्याय, गणावच्छेदक या सामान्य भिक्षु असफलता के कारण पुनः गच्छ में आने की इच्छा करे तो उसे तप या छेद प्रायश्चित्त देकर गच्छ में रख लेना चाहिए।

(२६-३०) पार्श्वस्थादि(पाँचों) यदि गच्छ में पुनः आना चाहे और उनके कुछ भी स यम भाव शेष रहे हों तो तप या छेद का प्रायश्चित्त देकर उसे गच्छ में सम्मिलित कर लेना चाहिए। स यम शेष न हो तो पुनः नई दीक्षा देना चाहिए।

(३१) किसी विशेष परिस्थिति से अन्यलि ग(या गृहस्थलि ग) धारण करने वाले भिक्षु को पुनः स्वलि ग धारण कर गच्छ में रहना हो तो उसे आलोचना के अतिरिक्त कोई प्रायश्चित्त नहीं आता है ।

(३२) कोई स यम छोड़ कर गृहस्थ वेश स्वीकार कर लें और पुनः गच्छ में आना चाहें तो उसे नई दीक्षा के सिवाय कोई प्रायश्चित्त नहीं आता है।

(३३) यदि किसी भिक्षु को अपने अकृत्य स्थान की आलोचना करनी हो तो- **(१)** अपने आचार्य के पास करें। **(२)** उनके अभाव में स्वगच्छ

के अन्य बहुश्रुत साधु के पास करे। **(३)** उनके अभाव में अन्य गच्छ के बहुश्रुत भिक्षु या आचार्य के पास करे। **(४)** उनके अभाव में केवल वेषधारी बहुश्रुत भिक्षु के पास करे। **(५)** उसके अभाव में दीक्षा छोड़े हुए बहुश्रुत श्रमणोपासक के पास करे। **(६)** उसके अभाव में सम्यक दृष्टि या समभावी ज्ञानी के पास आलोचना करे एव स्वय प्रायश्चित्त ग्रहण करे। **(७)** एव उसके अभाव में ग्राम के बाहर अरिह त सिद्ध प्रभु की साक्षी से आलोचना करके स्वय प्रायश्चित्त स्वीकार करे।

उद्देशक-२

प्रश्न-१ : इस उद्देशक में सूत्र कितने है और उनमें क्या निरूपण है ?

उत्तर- इस उद्देशक में २९ सूत्र है। उनका क्रमा क युक्त सारा श इस प्रकार है- **(१-५)** विचरण करने वाले दो या दो से अधिक भिक्षुओं द्वारा आचार्यादि की अनुपस्थिति में भी परिहार तप वहन किया जा सकता है।

(६-१८) रुग्ण भिक्षुओं की किसी भी अवस्था में उपेक्षा नहीं करना चाहिए या उन्हें गच्छ से नहीं निकालना चाहिए, किन्तु उनकी यथोचित सेवा करनी चाहिए।

(१८-२२) नवमें, दसवें प्रायश्चित्त प्राप्त भिक्षु को गृहस्थ लि ग धारण करवाकर ही उपस्थापन करना चाहिए। कदाचित् बिना गृहस्थ लि ग के भी पुनः दीक्षा देना गच्छ प्रमुख के निर्णय पर निर्भर रहता है।

(२३-२४) आक्षेप एव विवाद पूर्ण स्थिति में स्पष्ट प्रमाणित होने पर ही, प्रायश्चित्त देना एव प्रमाणित न होने पर, स्वय दोषी के दोष स्वीकार करने पर ही प्रायश्चित्त देना।

(२५) जिसके श्रुत एव दीक्षा पर्याय एक पाक्षिक हो ऐसे भिक्षु को पद देना।

(२६) परिहार तप पूर्ण होने के बाद भी कुछ दिन आहार अलग रहता है। छः मास की अपेक्षा उत्कृष्ट एक मास तक भी आहार अलग रखा जाता है, जिससे बिना समविभाग के वह दूध आदि का सेवन कर सके।

(२७) परिहार तप वहन करने वाले का आहार व्यवहार अलग होता है

अतः उसको स्थविर बहुश्रुत की आज्ञा होने पर ही आहार दिया जा सकता है। एव विशेष आज्ञा लेकर ही वह कभी परिस्थितिवश विगय का सेवन कर सकता है।

(२८-२९) स्थविर की सेवा में रहा हुआ पारिहारिक भिक्षु कभी आज्ञा होने पर दोनों की गोचरी साथ में ला सकता है किन्तु उसे साथ में नहीं खाना चाहिए। अलग अपने हाथ या पात्र में लेकर ही खाना चाहिए।

उद्देशक-३

प्रश्न-१ : इस उद्देशक में सूत्र कितने है और उनमें क्या निरूपण है?

उत्तर- इस उद्देशक में २९ सूत्र है जिनमें पद व्यवस्था स ब धी अधिकतम निरूपण है वह सूत्र क्रमा क युक्त इस प्रकार है-

(१-२) बुद्धिमान, विचक्षण तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला और आचारा ग निशीथ सूत्र को अर्थ सहित क ठस्थ धारण करने वाला ऐसा 'भावपलिछन्न' भिक्षु प्रमुख(सि घाड़ा प्रमुख) बन कर विचरण कर सकता है किन्तु गच्छ प्रमुख आचार्यादि की आज्ञा बिना विचरण करने पर वह यथा योग्य तप या छेद रूप प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

(३-४) कम से कम तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला भिक्षु आचार सम्पन्न, बुद्धि सम्पन्न, विचक्षण, बहुश्रुत, जिन प्रवचन की प्रभावना में दक्ष तथा कम से कम आचारा ग एव निशीथ सूत्र को अर्थ सहित क ठस्थ धारण करने वाला हो उसे **उपाध्याय पद** पर नियुक्त किया जा सकता है। जो भिक्षु तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला हो किन्तु उक्त सम्पन्न न हो तो उसे उपाध्याय पद पर नियुक्त नहीं किया जा सकता है।

(५-६) उपाध्याय के योग्य गुणों के सिवाय यदि दीक्षा पर्याय पाँच वर्ष और अर्थ सहित कण्ठस्थ श्रुत में कम से कम आचारा ग, सूत्रकृता ग और चार छेद सूत्र हों तो उसे **आचार्य पद** पर नियुक्त किया जा सकता है तथा वे आठ स पदा आदि दशाश्रुतस्क ध दशा ४ में कहे गुणों से भी सम्पन्न होने चाहिए। पाँच वर्ष की दीक्षा वाला भिक्षु उक्त गुण सम्पन्न न हो तो उसे आचार्य पद पर नियुक्त नहीं किया जा सकता है।

(७-८) उपरोक्त गुण सम्पन्न एव कम से कम आठ वर्ष की दीक्षा

पर्याय वाला तथा पूर्वोक्त आगम सहित ठाणा ग-समवाया ग सूत्र को कण्ठस्थ धारण करने वाला भिक्षु **गणावच्छेदक पद** पर नियुक्त किया जा सकता है। आठ वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला उक्त सम्पन्न न हो तो उसे गणावच्छेदक पद पर नियुक्त नहीं किया जा सकता है।

(९-१०) किसी विशेष परिस्थिति में अन्य गुणों से सम्पन्न योग्य भिक्षु हो तो उसे आवश्यक दीक्षा पर्याय और श्रुत क ठस्थ न हो तो भी आचार्य उपाध्याय पद पर नियुक्त किया जा सकता है। गच्छ में अन्य किसी भिक्षु के योग्य न होने पर एव अत्य त आवश्यक हो जाने पर यह विधान समझना चाहिए। इस विधान से नवदीक्षित भिक्षु को **उसी दिन आचार्य बनाया** जा सकता है।

(११) चालीस वर्ष की उम्र से कम उम्र वाले एव तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय से कम स यम वाले साधु साध्वियों को आचार्य उपाध्याय की निश्रा बिना स्वत त्र विचरण करना या रहना नहीं कल्पता है क्यों कि इनका दो के स रक्षण में रहना आवश्यक है- १ अचार्य २ उपाध्याय। इसलिए इस उक्त वयवाले साधुओं को आचार्य और उपाध्याय से रहित गच्छ में नहीं रहना चाहिए।

(१२) उक्त वयवाली साध्वियों को आचार्य उपाध्याय एव प्रवर्तिनी इन तीन से रहित गच्छ में नहीं रहना चाहिए। इनमें से किसी पदवी वाले के काल धर्म प्राप्त हो जाने पर भी उस पद पर अन्य को नियुक्त करना साधु साध्वियों के लिए आवश्यक कहा गया है।

(१३-१७) आचार्यादि पद पर नियुक्त भिक्षु का चतुर्थव्रत भ ग हो जाए तो उसे आजीवन सभी पद के अयोग्य घोषित कर दिया जाता है। पद त्याग करके चतुर्थव्रत भ ग करने पर या सामान्य भिक्षु के द्वारा चतुर्थव्रत भ ग करने पर वह तीन वर्ष के बाद योग्य हो तो किसी भी पद पर नियुक्त किया जा सकता है।

(१८-२२) यदि पदवीधर किसी अन्य को पद पर नियुक्त किये बिना स यम छोड़कर चला जाय तो उसे पुनः दीक्षा अ गीकार करने पर कोई भी पद नहीं दिया जा सकता। यदि कोई अपना पद अन्य को सौंप कर जावे या सामान्य भिक्षु स यम त्याग कर जावे तो पुनः दीक्षा लेने के बाद योग्य हो तो उसे तीन वर्ष के बाद कोई भी पद यथायोग्य समय पर दिया जा सकता है।

(२३-२९) बहुश्रुत भिक्षु या आचार्य आदि प्रबल कारण से अनेक बार झूट-कपट प्रप च असत्याक्षेप आदि अपवित्र पापकारी कार्य करे या अनेक भिक्षु, आचार्य आदि मिलकर ऐसा कृत्य करे तो वे जीवन भर के लिए सभी प्रकार की पदवियों के सर्वथा अयोग्य हो जाते हैं। इसमें अन्य कोई विकल्प नहीं है। अबहुश्रुत भिक्षु तो सर्वथा सभी प्रमुख पदों के अयोग्य ही होते हैं।

प्रश्न-२ : स घ व्यवस्था में संघाडा प्रमुख पद स ब धी ज्ञान विज्ञान इस सूत्र, अर्थ एव भाष्य आदि में किस तरह दर्शाये गये हैं ?

उत्तर- १. सि घाड़ा प्रमुख(उद्देशक-३, सूत्र-१,२)- यदि कोई भिक्षु गण प्रमुख के रूप में विचरना चाहे तो उसका पलिछन्न होना आवश्यक है। अर्थात् जो शिष्य सम्पदा और श्रुत सम्पदा सम्पन्न है वही प्रमुख रूप में विचरण कर सकता है। यहाँ भाष्यकार ने शिष्य सम्पदा एव श्रुत सम्पदा के चार भ ग कहे हैं उनमें से प्रथम भ ग के अनुसार जो दोनों प्रकार की सम्पदा से युक्त हो उसे ही प्रमुख रूप में विचरण करना चाहिए।

यदि पृथक्-पृथक् शिष्य करने की परम्परा न हो तो श्रुत सम्पन्न (आगमवेत्ता) एव बुद्धिमान भिक्षु गण के कुछ साधुओं को लेकर उनकी प्रमुखता करता हुआ विचरण कर सकता है।

जिस भिक्षु के एक या अनेक शिष्य हों वह शिष्य सम्पदा युक्त कहा जाता है। जो आवश्यक सूत्र, दशवैकालिक सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र तथा आचारा ग सूत्र और निशीथ सूत्र के मूल एव अर्थ को धारण करने वाला हो अर्थात् जिसने इतना मूल श्रुत उपाध्याय की निश्रा से क ठस्थ धारण किया हो एव आचार्य या उपाध्याय से इन सूत्रों के अर्थ की वाचना लेकर उसे भी क ठस्थ धारण किया हो एव वर्तमान में वह श्रुत उसे उपस्थित हो तो वह श्रुत सम्पन्न कहा जाता है। जिसके एक भी शिष्य नहीं है एव उपर्युक्त श्रुत का अध्ययन भी जिसने नहीं किया है वह गण धारण के अयोग्य हैं।

यदि किसी भिक्षु के शिष्य सम्पदा है किन्तु वह बुद्धिमान एव श्रुत सम्पन्न नहीं है अथवा धारण किए हुए श्रुत को भूल गया है, वह भी गण धारण के अयोग्य है। किन्तु यदि किसी को वृद्धावस्था (६० वर्ष से अधिक) होने कारण श्रुत विस्मृत हो गया हो तो वह श्रुत सम्पन्न ही कहा जाता है एव गणधारण कर सकता है।

भाष्यकार ने शिष्य सम्पदा वाले को 'द्रव्य पलिच्छन्न' और श्रुत सम्पन्न को 'भाव पलिच्छन्न' कहा हैं। उस चौभ गी युक्त विवेचन से भाव पलिच्छन्न को ही गणधारण करके विचरने योग्य कहा है। जिसका सारा श यह है कि जो आवश्यक श्रुत ज्ञान से सम्पन्न हो एव बुद्धि सम्पन्न हो वह गण धारण करके विचरण कर सकता है।

भाष्यकार ने यह भी स्पष्ट किया है कि- **(१)** विचरण करते हुए वह स्वय के और अन्य भिक्षुओं के ज्ञान, दर्शन, चारित्र की शुद्ध आराधना करने करवाने में समर्थ हो। **(२)** जनसधारण को अपने ज्ञान तथा वाणी एव व्यवहार से धर्म के सन्मुख कर सकता हो। **(३)** अन्य मत से भावित कोई भी व्यक्ति प्रश्न-चर्चा करने के लिए आ जाय तो उसे यथायोग्य उत्तर देने में समर्थ हो, ऐसा भिक्षु गण प्रमुख के रूप में अर्थात् स घाटक प्रमुख होकर विचरण कर सकता है।

धर्म प्रभावना को लक्ष्य में रखकर विचरण करने वाले प्रमुख भिक्षु में ये भाष्योक्त गुण होना आवश्यक है किन्तु अभिग्रह प्रतिमाएँ एव मौन साधना आदि केवल आत्मकल्याण के लक्ष्य से विचरण करने वाले को सूत्रोक्त श्रुतस पन्न रूप पलिच्छन्न होना ही पर्याप्त है। भाष्योक्त गुण न हों तो भी वह प्रमुख होकर विचरण करता हुआ आत्म स यम साधना कर सकता है।

द्वितीय सूत्र के अनुसार कोई भी श्रुत स पन्न योग्य भिक्षु स्वेच्छा से गण प्रमुख के रूप में विचरण करने के लिए नहीं जा सकता है किन्तु गच्छ के स्थविर भगव त की अनुमति लेकर के ही गण धारण कर सकता है अर्थात् स्थविर भगव त से कहे कि- 'हे भगवन्! मैं कुछ भिक्षुओं को लेकर विचरण करना चाहता हूँ।' तब स्थविर भगव त उसकी योग्यता जानकर एव उचित अवसर देखकर स्वीकृति दे तो गणधारण कर सकता है। यदि वे स्थविर किसी कारण से स्वीकृति न दे तो गण धारण नहीं करना चाहिए एव योग्य अवसर की प्रतीक्षा करनी चाहिए।

सूत्र में स्थविर भगव त से आज्ञा प्राप्त करने का विधान किया गया है उसके स दर्भ में यह समझना चाहिए कि यहाँ स्थविर शब्द से आचार्य उपाध्याय प्रवर्तक आदि सभी आज्ञा देने वाले अधिकारी सूचित किये गये हैं। क्यों कि स्थविर शब्द अत्य न्त विशाल है। इसमें सभी

पदवीधर और अधिकारीगण भिक्षुओं का समावेश हो जाता है। आगमों में गणधर गौतम तथा सुधर्मास्वामी के लिए एव तीर्थंकरों के लिए भी 'थेरे = स्थविर' शब्द का प्रयोग है। अतः इस विधान का आशय यह है कि गण धारण के लिए गच्छ के किसी भी अधिकारी भिक्षु की आज्ञा लेना आवश्यक है एव स्वय का श्रुतस पदा आदि से स पन्न होना भी आवश्यक है।

यदि कोई भिक्षु उत्कट इच्छा के कारण आज्ञा लिये बिना या स्वीकृति मिले बिना भी अपने शिष्यों को या अन्य अपनी निश्रा में अध्ययन आदि के लिए रहे हुए साधुओं को लेकर विचरण करता है तो वह प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

उसके साथ शिष्य रूप रहने वाले या अध्ययन आदि किसी भी कारण से उसकी निश्रा में रहने वाले साधु उसकी आज्ञा का पालन करते हुए उसके साथ रहते हैं, वे प्रायश्चित्त के पात्र नहीं होते हैं। यह भी द्वितीय सूत्र में स्पष्ट किया गया है।

आज्ञा के बिना गणधारण करने वाले भिक्षु के लिए प्रायश्चित्त का विधान करते हुए सूत्र में कहा गया है कि ***'से स तरा छेए वा परिहारे वा'*** इसका अर्थ करते हुए व्याख्याकार ने यह स्पष्ट किया है कि वह भिक्षु अपने उस अपराध के कारण यथायोग्य छेद(पाँच दिन आदि) प्रायश्चित्त को अथवा मासिक आदि परिहार तप या सामान्य तप रूप प्रायश्चित्त को प्राप्त होता है। अर्थात् आलोचना करने पर या आलोचना न करने पर भी अनुशासन व्यवस्था हेतु उसे यह सूत्रोक्त प्रायश्चित्त दिया जाता है।

सूत्र में यह विधान भिक्षु के लिए किया गया है। इसी प्रकार साध्वी के लिए भी स पूर्ण विधान समझ लेना चाहिए। उसे विचरण करने के लिए स्थविरा या प्रवर्तिनी की आज्ञा लेनी चाहिए।

प्रश्न-३ : गच्छ में पद एक को देने पर अन्य गुणवानों का मन भेद होता है, उसका उपाय दर्शावें ?

उत्तर- जिस गण में अनेक गीतार्थ भिक्षु शिष्यादि की ऋद्धि से स पन्न हों तो एक को मूल आचार्य एव उसके सदृशगुण स पन्न एक को उपाध्याय पद पर नियुक्त करना चाहिए। उसके बाद जो शिष्यस पदा से परिपूर्ण हो

एव आचार्य के लक्षणों से युक्त हो उसे भी आचार्य या उपाध्याय आदि पदों पर नियुक्त करना चाहिए और वैसे लक्षण युक्त न हो तो प्रवर्तक या स्थविर आदि पद से विभूषित करना चाहिए। किन्तु जिनके प्रभूत शिष्य न हों उनको एक मुख्य आचार्य के अनुशासन में ही रहना चाहिए।

मुख्य आचार्य से जो दीक्षा पर्याय में अधिक हों एव श्रुत स पदा भी हो किन्तु आचार्य उपाध्याय पद के योग्य न हों तो उन्हें स्थविर आदि पद से सन्मानित करना चाहिए।

यदि अन्य भिक्षु आचार्य से अधिक दीक्षा पर्याय वाले न हों श्रुत स पदा एव शिष्य स पदा वाले न हों तो सभी साधुओं को एक ही आचार्य उपाध्याय के अनुशासन में रहना चाहिए।

प्रश्न-४ : आगमोक्त पदवियाँ कितनी है और उनका स्वरूप और उपयोग कर्तव्य क्या क्या है ?

उत्तर- (१) आचार्य :- जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य; इन पाँच आचारों का स्वय पालन करे और आज्ञानुवर्ती शिष्यों से पालन करावे, जो साधु स घ का स्वामी हो और स घ के अनुग्रह-निग्रह, सारण-वारण और धारण में कुशल हो, लोक-स्थिति का वेत्ता हो, आचार सम्पदा आदि आठ सम्पदाओं से युक्त हो वह आचार्य पद के योग्य होता है।

(२) उपाध्याय :- जो स्वय द्वादशा ग श्रुत का विशेषज्ञ हो, अध्ययनार्थ आने वाले शिष्यों को आगमों का अभ्यास कराने वाला हो और व्य॰ उद्दे॰ ३, सूत्र-३ में कहे गये गुणों का एव वहाँ निर्दिष्ट सूत्रों का धारक हो वह उपाध्याय पद के योग्य होता है।

(३) प्रर्वतक :- यह पद अल्प स ख्यक साधु समुदाय में आचार्य के स्थान में दिया जाता है। विशाल समूह में प्रवर्तक पदवीधर आचार्य के सहायक होते हैं। जो साधुओं की योग्यता या रुचि देखकर उनको आचार्य निर्दिष्ट कार्यो में तथा तप-स यम योग में, वैयावृत्य, सेवा, शुश्रुषा, अध्ययन-अध्यापन आदि में नियुक्त करते हैं। इस पदवी वाले की योग्यता आचार्य तुल्य होना ही अत्युत्तम है। कम से कम उपाध्याय के तुल्य तो होना ही चाहिए।

(४) स्थविर :- जो साधुओं के स यम में शैथिल्य देखकर या उन्हें

स यम से विचलित देखकर इस लोक-परलोक सम्बन्धी अपायों (अनिष्टों या दोषों) का उपदेश करे और उन्हें अपने कर्तव्यों में स्थिर करे।

(५) गणी :– जो कुछ साधुओं के गण का स्वामी हो और साध्वियों की देख-रेख एव व्यवस्था करने वाला हो। अथवा मुख्य आचार्य की निश्रा में जो अनेक आचार्य होते हैं उन्हें गणी कहा जाता है।

(६) गणधर :– जो कुछ साधुओं का प्रमुख बनकर अर्थात् सि घाड़ा प्रमुख बनकर विचरण करता हो।

(७) गणावच्छेक :– जो साधुजनों के भक्त-पान, स्थान, औषध-उपचार, प्रायश्चित्त आदि की व्यवस्था करने वाला हो।

जिस समुदाय में एक दो सि घाड़े ही विचरते हैं या ५-७ स त ही है उस साधु समुदाय में स्थविर या प्रवर्तक का होना आवश्यक है आचार्य उपाध्याय होना वहाँ आवश्यक नहीं है। जिस समुदाय में तीन या अधिक सि घाड़े विचरण करते हैं अथवा १० से अधिक स तों का समूह है तो उस समुदाय में कम से कम आचार्य उपाध्याय दो पदों की निर्युक्ति करना आवश्यक हैं। सौ से अधिक या सैकड़ो साधुओं का समुदाय हो उसमें आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर एव गणावच्छेदक ऐसे पाँचों पदवीधर होना आवश्यक होता है।

शेष दो पदविया गणी और गणधर तो स्वाभाविक ही छोटे बड़े समुदायों में होती रहती है क्यों कि कुछ शिष्य सम्पदा हो जाने से एव योग्य श्रुत अध्ययन हो जाने से कोई भी भिक्षु गणी बन सकता है और सि घाड़े की प्रमुखता करने वाले अनेक गणधर-गणधारक हो सकते है।

भाष्य में कहा गया है कि उक्त पाँच प्रमुख पदवियों से रहित विशाल गच्छ में नहीं रहना चाहिए क्यों कि वहाँ आत्म असमाधि एव अव्यवस्था होने की पूर्ण सम्भावना रहती है।

इसी प्रकार अल्प स ख्यक साध्वी समुदाय में प्रवर्तिनी या स्थविरा से चलता है। दस से अधिक स ख्या हो तो प्रवर्तिनी होना आवश्यक है। एव सौ से अधिक या सैकड़ों की स ख्या हो तो गणावछेदिका का होना आवश्यक है। चालीस वर्ष तक की साध्वियों के लिए उपाध्याय का नेतृत्व आवश्यक है एव सित्तर वर्ष तक की साध्वियों के लिए आचार्य का नेतृत्त्व आवश्यक होता है। व्यव॰ उद्दे॰ ७।

साध्वियों में भी सि घाड़ा प्रमुखा और प्रवर्तिनियाँ अनेक हो सकती है। प्रवर्तिनी की योग्यता आचार्य, उपाध्याय के तुल्य समझनी चाहिए। छोटे समुदाय में उसकी योग्यता प्रवर्तक तुल्य समझना। समुदाय को व्यवस्थित चलाने के लिए ही इन पदवियों की आवश्यकता होती है, ऐसा समझना चाहिए।

पन्यास, सूरी, मन्त्री, महाम त्री, सूरीश्वर, युवाचार्य, उपाचार्य, उपप्रवर्तक आदि पद आगम में नहीं कहे गए हैं और इन पदों की स घ व्यवस्था के लिए कोई आवश्यकता एव उपयोगिता भी नहीं है एव इन पदों के बिना ही सम्पूर्ण स घ व्यवस्था की जा सकती है जो आगम एव उनकी व्याख्याओं के अध्ययन करने से समझ में आ सकती है।

आचार्य, प्रवर्तक आदि को जब पद भार से निवृत्ति लेना हो तब उन्हें पद का त्याग करके अन्य योग्य को आचार्य, प्रवर्तक पद पर नियुक्त कर देना चाहिए। जीवन के अन्तिम समय तक किसी को कोई पद रखना जरूरी नहीं होता है। पद तो कार्य भार सम्भालने के लिए होता है और जब भार सम्भालने की क्षमता वृद्धावस्था के कारण न हो अथवा निवृत्त होकर साधना करना हो तो पद का त्याग किया जा सकता है ऐसा करने में कोई अपराध नहीं होता है न ही कोई अपमान। अतः उपाचार्य, उपप्रवर्तक, युवाचार्य आदि पद आगम निरपेक्ष है। जो योग्य है एव स घ व्यवस्था में उसे कार्य भार स भलाना आवश्यक है तो उसे आगमोक्त आचार्य, उपाध्याय एव प्रवर्तक पद ही देना चाहिए। पद निवृत्त श्रमण स्थविर कहे जाते हैं।

विशाल समुदाय हो तो अनेक आचार्य अनेक उपाध्याय और अनेक प्रवर्तक नियुक्त किए जा सकते हैं। किन्तु आगम से अतिरिक्त विभिन्न नए-नए पदों की परम्पराएँ चलाना अति प्रवृत्ति है। जो आगम अध्ययन की कमी एव आगम निष्ठा की कमी से उत्पन्न होने वाली भूल है। अतः जिन शासन के हितैषी अधिकारियों को आगम के ग भीर अध्ययनपूर्वक स घ व्यवस्था में अग्रसर होना चाहिए एव प्रत्येक प्रवृत्ति निर्ग्रन्थ प्रवचन को आगे रखकर अर्थात् शास्त्र को प्रमुख रखकर ही करनी चाहिए।

शास्त्र का गम्भीर अध्ययन अनुभव किए बिना अपनी-अपनी बुद्धि से या बहुमत से अन्यान्य प्रवृत्तियाँ प्रारम्भ नहीं करनी चाहिए।

प्रश्न-५ : आचार्य आदि पदों की योग्यता यहाँ किन विशेषणों द्वारा बताई गई है ? एव जघन्य योग्यता भी क्या दर्शाई है ?

उत्तर- जिस गच्छ में अनेक साधु-साध्वियाँ हों, जिसके अनेक स घाटक (स घाड़े) अलग-अलग विचरते हों अथवा जिस गच्छ में नवदीक्षित, बाल या तरुण साधु-साध्विया हों उसमें अनेक पदवीधरों का होना अत्यावश्यक है एव कम से कम आचार्य-उपाध्याय इन दो पदवीधरों का होना तो निता त आवश्यक है।

कि तु जिस गच्छ में २-४ साधु या २-४ साध्विया ही हों, जिनके एक या दो स घाटक ही अलग-अलग विचरते हों एव उनमें कोई भी नवदीक्षित बाल या तरुण वय वाला न हों तो आचार्य उपाध्याय पदवीधर के बिना ही केवल वय या पर्यायस्थविर अथवा प्रवर्तक से उनकी व्यवस्था हो सकती है।

यहाँ प्रथम सूत्रद्विक में उपाध्याय पद, द्वितीय सूत्रद्विक में आचार्य उपाध्याय पद और तृतीय सूत्रद्विक में अन्य पदों के योग्यायोग्य का कथन दीक्षापर्याय, श्रुतअध्ययन एव अनेक गुणों के द्वारा किया गया है। जिसमें दीक्षापर्याय और श्रुतअध्ययन की जघन्य मर्यादा तो, उपाध्याय से आचार्य की ओर उनसे गणवच्छेदक की अधिक अधिकतर कही है।

इनके सिवाय मध्यम या उत्कृष्ट कोई भी दीक्षापर्याय एव श्रुत-अध्ययन वाले को भी ये पद दिये जा सकते हैं। आचारकुशल आदि अन्य गुणों का सभी पदवीधरों के लिए समान रूप से निरुपण किया गया है अतः प्रत्येक पदयोग्य भिक्षु में वे गुण होना आवश्यक है।

दीक्षापर्याय :- भाष्यकार ने बताया है कि दीक्षापर्याय के अनुसार ही प्रायः अनुभव, क्षमता, योग्यता का विकास होता है जिससे भिक्षु उन-उन पदों के उत्तरदायित्व को निभाने में सक्षम होता है।

उपाध्याय का मुख्य उत्तरदायित्व अध्ययन कराने का है, जिसमें शिष्यों के अध्ययन सम्बन्धी सभी प्रकार की व्यवस्था की देख-रेख उन्हें रखनी पड़ती है। अतः इस पद के लिए जघन्य तीन वर्ष की दीक्षापर्याय होना आवश्यक कहा है।

आचार्य पर गच्छ की सम्पूर्ण व्यवस्थाओं का उत्तरदायित्व रहता है। वे अर्थ-परमार्थ की वाचना भी देते हैं। अतः अधिक अनुभव

क्षमता की दृष्टि से उनके लिए न्यूनतम पाँच वर्ष की दीक्षापर्याय होना आवश्यक कहा है।

गणावच्छेदक गण सम्बन्धी अनेक कर्तव्यों को पूर्ण करके उनकी चिंता से आचार्य को मुक्त रखता है अर्थात् गच्छ के साधुओं की सेवा, विचरण एव प्रायश्चित्त आदि व्यवस्थाओं का उत्तरदायित्व गणावच्छेदक का होता है। यद्यपि अनुशासन का पूर्ण उत्तरदायित्व आचार्य का होता है तथापि व्यवस्था तथा कार्य स चालन का उत्तरदायित्व गणावच्छेदक का अधिक होने से इनकी दीक्षा पर्याय कम से कम आठ वर्ष की होना आवश्यक कहा है।

अन्य गुण :- आचार कुशलता आदि दस गुणों का कथन इन सूत्रों में है। उनकी व्याख्या भाष्य में इस प्रकार है-

(१) आचारकुशल :- ज्ञानाचार में एव विनयाचार में जो कुशल होता है वह आचारकुशल कहा जाता है। यथा- गुरु आदि के आने पर खड़ा होता है उन्हें आसन चौकी आदि प्रदान करता है, प्रातः काल उन्हें व दन करके आदेश मा गता है, द्रव्य से अथवा भाव से उनके निकट रहता है, शिष्यों को एव प्रतीच्छकों(अन्य गच्छ से अध्ययन के लिए आये हुओं) को गुरु के प्रति श्रद्धान्वित करने वाला, कायिकी आदि चार प्रकार की विनयप्रतिपत्ति को यथाविधि करने वाला, आवश्यक वस्त्रादि प्राप्त करने वाला, गुरु आदि की यथायोग्य पूजा, भक्ति, आदर-सत्कार करके उन्हें प्रसन्न रखने वाला, परुष वचन नहीं बोलने वाला, अमायावी-सरल स्वभावी, हाथ-पाँव-मुख आदि की विकृत चेष्टा से रहित स्थित स्वभाव वाला, दूसरों के साथ मायावी आचरण अर्थात् धोखा न करने वाला, यथासमय प्रतिलेखन प्रतिक्रमण एव स्वाध्याय करने वाला, यथोचित तप करने वाला, ज्ञानादि की वृद्धि एव शुद्धि करने वाला, समाधिवान और सदैव गुरु का बहुमान करने वाला, ऐसा गुणनिधि भिक्षु 'आचार कुशल' कहलाता है।

(२) स यमकुशल :- १. पाँच स्थावर तीन विकलेन्द्रिय एव प चेन्द्रिय जीवों की सम्यक् प्रकार से यतना करने वाला, आवश्यक होने पर ही निर्जीव पदार्थो का विवेकपूर्वक उपयोग करने वाला, गमनागमन आदि की प्रत्येक प्रवृत्ति अच्छी तरह देखकर करने वाला, अस यम प्रवृत्ति करने वालों के प्रति उपेक्षा या माध्यस्थ भाव रखने वाला यथा समय

यथाविधि प्रमार्जन करने वाला, परिष्ठापना समिति के नियमों का पूर्ण पालन करने वाला, मन वचन काया की अशुभ प्रवृत्ति को त्यागने वाला, इस तरह सत्तरह प्रकार के स यम का पालन करने में निपुण(दक्ष) ।

२. अथवा कोई वस्तु रखने या उठाने में तथा एषणा, शय्या, आसन, उपधि, आहार आदि में यथाशक्ति प्रशस्त योग रखने वाला, अप्रशस्त योगों का परित्याग करने वाला ।

३. इन्द्रियों एव कषायों का निग्रह करने वाला अर्थात् शुभाशुभ पदार्थों में रागद्वेष नहीं करने वाला और कषाय के उदय को विफल कर देने वाला, हिंसा आदि आश्रवों का पूर्ण निरोध करने वाला, अप्रशस्त योग और अप्रशस्त ध्यान अर्थात् आर्त-रौद्र ध्यान का त्याग कर शुभ योग और धर्म, शुक्ल ध्यान में लीन रहने वाला, आत्म परिणामों को सदा विशुद्ध रखने वाला, इहलोकादि आश सा से रहित, ऐसा गुणनिधि भिक्षु ''स यम कुशल'' है ।

(३) प्रवचनकुशल :– जो जिनवचनों का ज्ञाता एव कुशल उपदेष्टा हो वह 'प्रवचनकुशल' है, यथा- सूत्र के अनुसार उसका अर्थ, परमार्थ, अन्वय, व्यतिरेक, युक्त सूत्राशय को, अनेक अतिशय युक्त अर्थों को एव आश्चर्यकारी अर्थों को जानने वाला, मूल एव अर्थ की श्रुत परम्परा को भी जानने वाला, प्रमाण नय निक्षेपों से पदार्थो के स्वरूप को समझने वाला, इस प्रकार श्रुत एव अर्थ के निर्णायक होने से जो श्रुत रूप रत्नों से पूर्ण है तथा जिसने सम्यक् प्रकार से श्रुत को धारण करके उनका पुनरावर्तन किया है, पूर्वापर सम्बन्ध पूर्वक चिंतन किया है, उसके निर्दोष होने का निर्णय किया है और उसके अर्थ को बहुश्रुतों के पास चर्चा-वार्ता आदि से विपुल विशुद्ध धारण किया है, ऐसे गुणों को धारण करने वाला और उक्त अध्ययन से अपना हित करने वाला, अन्य को हितावह उपदेश करने वाला एव प्रवचन का अवर्णवाद बोलने वालों का निग्रह करने में समर्थ ऐसा गुण सम्पन्न भिक्षु 'प्रवचन कुशल' है ।

(४) प्रज्ञप्तिकुशल :– लौकिक शास्त्र, वेद-पुराण एव स्वसिद्धा त का जिसने सम्यग् विनिश्चय कर लिया है, जो धर्म कथा, अर्थकथा आदि का सम्यक्ज्ञाता है तथा जीव-अजीव के स्वरूप एव भेदों का, कर्म ब ध एव मोक्ष के कारणों का, चारों गति में गमनागमन करने का एव उनके कारणों का तथा उनसे उत्पन्न दु:ख-सुख का, इत्यादि का कथन करने

में कुशल, पर वादियों के कुदर्शन का सम्यक् समाधान करके उनसे कुदर्शन का त्याग कराने में समर्थ एव स्व सिद्धान्तों को समझाने में कुशल भिक्षु 'प्रज्ञप्ति कुशल' है ।

(५) स ग्रहकुशल :– द्रव्य से उपधि शिष्यादि का और भाव से श्रुत एव अर्थ तथा गुणों का आत्मा में स ग्रह करने में जो कुशल(दक्ष) होता है तथा क्षेत्र एव काल के अनुसार विवेक रख कर ग्लान, वृद्ध आदि की अनुकम्पा पूर्वक वैयावृत्य करने की स्मृति रखने वाला, आचार्यादि की रुग्णावस्था के समय वाचना देने वाला, समाचारी भ ग करने वाले या कषाय में प्रवृत्त होने वाले भिक्षुओं को यथायोग्य अनुशासन करके रोकने वाला, आहार, विनय आदि के द्वारा गुरुभक्ति करने वाला, गण के अ तर ग कार्यो को करने वाला अथवा गण से बहिर्भाव वालों को अ तर्भावी बनाने वाला, आहार उपधि आदि जिसको जो आवश्यक हो उसकी पूर्ति करने वाला, परस्पर साथ रहने में एव अन्य को रखने में कुशल, सीवन, लेपन आदि कार्य करने कराने में कुशल, इस प्रकार नि:स्वार्थ सहयोग देने के स्वभाव वाला गुणनिधि भिक्षु 'स ग्रह कुशल'है।

(६) उपग्रह-कुशल :– बाल, वृद्ध, रोगी, तपस्वी, असमर्थ भिक्षु आदि को शय्या, आसन, उपधि, आहार, औषध आदि देता है, दिलवाता है तथा इनकी स्वय सेवा करता है अन्य से करवाता है। गुरु आदि के द्वारा दी वस्तु या कही वार्ता साधुओं तक पहुँचाता है तथा अन्य भी उनके द्वारा निर्दिष्ट कार्यो को कर देता है अथवा जिनके आचार्यादि नहीं है उन्हें आत्मीयता से दिशा निर्देश करता है, वह 'उपग्रह कुशल' है ।

(७) अक्षतआचार :– आधाकर्म आदि दोषों से रहित शुद्ध आहार ग्रहण करने वाला एव परिपूर्ण आचार का पालन करने वाला ।

(८) अभिन्नाचार :– किसी प्रकार के अतिचारों का सेवन न करके पाँचों आचारों का परिपूर्ण पालन करने वाला ।

(९) असबलाचार :– विनय व्यवहार, भाषा, गोचरी आदि में दोष नहीं लगाने वाला अथवा सबल दोषों से रहित आचरण वाला ।

(१०) अस क्लिष्ट आचार :– इहलोक-परलोक सम्बन्धी सुखों की कामना न करने वाला अथवा क्रोधादि का त्याग करने वाला स क्लिष्ट परिणाम रहित भिक्षु। 'क्षत आचार' आदि शब्दों का अर्थ इससे विपरीत समझ लेना चाहिए । यथा- (१) आधाकर्मादि का सेवन

करने वाला । (२) अतिचारों का सेवन कर पाँच आचार या पाँच महाव्रत में दोष लगाने वाला । (३) विनय, भाषा आदि का विवेक नहीं रखने वाला, शबल दोषों का सेवन करने वाला । (४) प्रश सा, प्रतिष्ठा, आदर और भौतिक सुखों की चाहना करने वाला अथवा क्रोधादि से स क्लिष्ट परिणाम रखने वाला ।

बहुश्रुत-बहुआगमज्ञ :– अनेक सूत्रों एव उनके अर्थो को जानने वाला बहुश्रुत या बहुआगमज्ञ कहा जाता है । आगमों में इन शब्दों का भिन्न-भिन्न अपेक्षा से प्रयोग है । यथा– **१.** ग भीरता विचक्षणता एव बुद्धिमत्ता आदि गुणों से युक्त । **२.** जिनमत की चर्चा-वार्ता में निपुण या मुख्य सिद्धा तों का ज्ञाता । **३.** अनेक सूत्रों का अभ्यासी । **४.** छेदसूत्रों में पार गत । **५.** आचार एव प्रायश्चित्त विधानों में कुशल । **६.** जघन्य मध्यम या उत्कृष्ट बहुश्रुत ।

(१) जघन्यबहुश्रुत–आचारा ग एव निशीथ सूत्र को अर्थ सहित कण्ठस्थ धारण करने वाला । **(२) मध्यमबहुश्रुत**–आचारा ग, सूत्रकृता ग और चार छेद-सूत्रों को अर्थ सहित कण्ठस्थ धारण करने वाला । **(३) उत्कृष्टबहुश्रुत**–दृष्टिवाद को धारण करने वाला अर्थात् नवपूर्वी से १४ पूर्वी तक । ये सभी बहुश्रुत कहे गये हैं । **(४)** जो अल्पबुद्धि, अत्यधिक भद्र, अल्प अनुभवी एव अल्प आगमअभ्यासी होता है वह **'अबहुश्रुत अबहुआगमज्ञ'** कहा जाता है । तथा कम से कम आचारा ग, निशीथ, आवश्यक दशवैकालिक और उत्तराध्ययन सूत्र को अर्थ सहित अध्ययन करके उन्हें क ठस्थ धारण नहीं करने वाला 'अबहुश्रुत अबहु आगमज्ञ' कहा जाता है ।

प्रश्न-६ : आचार्य पद की स क्षिप्त और आवश्यक योग्यता क्या है ?

उत्तर– (१) कम से कम पाँच वर्ष की दीक्षा पर्याय हो । **(२)** बहुश्रुत और बहुआगमज्ञ हो । **(३)** कम से कम नौ शास्त्र अर्थ सहित कण्ठस्थ धारण किए हो– १. आवश्यक सूत्र, २. दशवैकालिक सूत्र, ३. उत्तराध्ययन सूत्र, ४. आचारा ग सूत्र, ५. निशीथ सूत्र, ६. सूयगड़ा ग सूत्र, ७. दशाश्रुत स्कन्ध सूत्र, ८. बृहत्कल्प सूत्र, ९. व्यवहार सूत्र । **(४)** ब्रह्मचर्य आदि महाव्रत जिसने कभी खण्ड़ित न किए हो । **(५)** सबल दोष आदि किन्हीं दोषों से स यम दूषित न किया हो ।

(६) स यम के नियम-उपनियमों के पालन करने एव करवाने में कुशल हो । **(७)** जिन प्रवचन का कुशल ज्ञाता हो । **(८)** श्रद्धा एव प्ररूपणा अत्यन्त निर्मल हो तथा आगम तत्त्वों को समझाने में चतुर एव दक्ष हो **(९)** प्रभावशाली एव उपकार बुद्धि वाला हो । ***-व्यव. उ. ३. सू. ५॥***

(१०) दशाश्रुत स्कन्ध दशा ४ के अनुसार आचार्य आठ सम्पदा से युक्त होना चाहिए । १. आचार सम्पन्न, २. श्रुत सम्पन्न, ३. शरीर स पन्न, ४. वचन सम्पन्न, ५. वाचना सम्पन्न, ६. बुद्धि सम्पन्न, ७. स्फुरणा बुद्धि (प्रयोग मति) सम्पन्न, ८. स ग्रह परिज्ञा सम्पन्न । इन आठों का सारा श उपरोक्त व्यवहार सूत्रोक्त गुणों में समाविष्ट हो जाता हैं ।

(११) पर परा में ३६ गुण कहे जाते हैं उनका भी व्यवहार सूत्र निर्दिष्ट गुणों में समावेश हो जाता हैं । यथा– (१-५) पाँच आचार पाले, (६-१०) पाँच महाव्रत पाले (११-१५) पाँच इन्द्रिय जीते, (१६-१९) चार कषाय टाले (२०-२८) नौ वाड़ सहित ब्रह्मचर्य पाले, (२९-३६) पाँच समिति तीन गुप्ति शुद्ध आराधे ।

पक्ष भाव एव आग्रह भाव का परित्याग करके उपरोक्त गुण हो उसे ही आचार्य बनना या बनाना चाहिए ।

प्रश्न-७ : उपाध्याय पद सन्मान मात्र के लिये है या कर्तव्य पालन का पद है ?

उत्तर– जिनके समीप अध्ययन किया जाता है उन्हें उपाध्याय कहा जाता हैं । उपाध्याय पद आगम में आचार्य पद के बराबर ही सम्माननीय कहा गया है । व्यव॰ उद्दे॰-८ में पाँच अतिशय आचार्य उपाध्याय दोनों के समान कहे गए हैं । अन्य आगम वर्णनों में भी दोनों को प्रायः समान ही बहुमान दिया गया हैं ।

व्यव॰ में उपाध्याय की सारी योग्यता आचार्य के समान ही कही गई हैं केवल दीक्षा पर्याय और श्रुत में अन्तर कहा गया है यथा– **(१)** तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय हो जाने पर उपाध्याय पद पर नियुक्त किया जा सकता है । **(२)** कण्ठस्थ श्रुत में अल्पतप पाँच आगम अर्थ सहित क ठस्थ हो (१.आवश्यक सूत्र २.दशवैकालिक सूत्र ३. उत्तराध्ययन सूत्र ४. आचारा ग सूत्र ५. निशीथ सूत्र) । ऐसे बहुश्रुत, आचार सम्पन्न, उपाध्याय दिन-रात अनेकों या सैकड़ों (गच्छ या स घ के) साधुओं को

अध्ययन कराने में लीन रहते हैं। इसलिए वे उपाध्याय कहे जाते हैं।

गण या स घ के योग्य सन्तों को उपाध्याय के पास रखकर अध्ययन कराना चाहिए तभी उपाध्याय पद की सार्थकता है एव स घ को उपाध्याय से लाभ है। वर्तमान में केवल सम्मान देने के लिए ही पद निर्युक्ति कर दी जाती है। कर्तव्य एव जिम्मेदारी की उपेक्षा होती है वह सर्वथा अनुचित है एव पद व्यवस्था का दुरूपयोग है। ऐसी स्थिति में आगमिक पद योग्यता की भी उपेक्षा करके श्रुत आदि से अयोग्यों को पद पर प्रतिष्ठित कर दिया जाता है। इस अव्यवस्था पर स घ के हितैषी महानुभावों को लक्ष्य देना चाहिए।

प्रश्न-८ : आचार्य उपाध्याय के बिना कोई साधु या गच्छ नहीं रह सकते है, ऐसा यहाँ सूत्र में स्पष्ट है तो कितने ही गच्छ वाले ऐसा क्यों चलाते है । अपवाद मार्ग से चलावे तो क्या अपवाद मार्ग ह मेशा के लिये हो सकता है ? गच्छ में योग्य साधु के होते हुए भी जो आचार्य उपाध्याय न बनावे वह उनका आगम विपरीत आचरण और प्ररूपण है क्या ? क्या वे भगवान तीर्थंकर से भी अपने को ज्यादा समझते हैं?

उत्तर- नव, ड़हर, तरुण का स्पष्टार्थ भाष्य में इस प्रकार है-

तिवरिसो होई नवो, आसोलसग तु ड़हरग बेंति ।
तरुणो चत्तालीसो, सत्तरि उण मज्झिमो, थेरओ सेसो ॥

अर्थ :- तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय पर्यन्त नवदीक्षित कहा जाता है । चार वर्ष से लेकर सौलह वर्ष की उम्र पर्यन्त ड़हर-बाल कहा जाता है। सोलह वर्ष की उम्र से लेकर चालीस वर्ष पर्यन्त तरूण कहा जाता है।

सत्तर वर्ष में एक कम अर्थात् उनसत्तर(६९) वर्ष पर्यन्त मध्यम (प्रौढ़) कहा जाता है। सत्तर वर्ष से आगे शेष, सभी वय वाले स्थविर कहे जाते है। ***-भाष्य गा. २२० एव टीका।*** आगम में साठ वर्ष वाले को, स्थविर कहा है । ***-व्यवहार उ. १०, ठाण अ. ३।***

भाष्यगाथा- २२१ में यह स्पष्ट किया गया है कि नवदीक्षित भिक्षु बाल हो या तरुण हो, मध्यम वय वाला हो अथवा स्थविर हो, उसे आचार्य, उपाध्याय की निश्रा के बिना रहना या विचरण करना नहीं कल्पता है। अधिक दीक्षापर्याय वाला भिक्षु यदि चालीस वर्ष से कम वय वाला हो तो उसे भी आचार्य, उपाध्याय की निश्रा बिना

रहना नहीं कल्पता हैं। तात्पर्य यह है कि बाल या तरुण वय वाले भिक्षु और नवदीक्षित भिक्षु एक हो या अनेक हों, उन्हें आचार्य और उपाध्याय के निश्रा में ही रहना आवश्यक है जिस गच्छ में आचार्य, उपाध्याय कालधर्म को प्राप्त हों जाय अथवा जिस गच्छ में आचार्य, उपाध्याय न हों तो बाल,तरुण,नवदीक्षित भिक्षुओं को आचार्य, उपाध्याय के बिना या आचार्य, उपाध्याय रहित गच्छ में कि चित् भी नहीं रहना कल्पता है। उन्हें प्रथम अपना आचार्य नियुक्त करना चाहिए उसके बाद उपाध्याय निर्धारित करना चाहिए।

सूत्र में प्रश्न किया गया है कि- हे भगवन् ! 'आचार्य, उपाध्याय बिना रहना ही नहीं' ऐसा कहने का क्या आशय है ?

इसका सामाधन यह किया गया है कि- ये उक्त वय वाले श्रमण निर्ग्रन्थ सदा दो से स ग्रहीत होते हैं अर्थात् इनके लिए सदा दो का नेतृत्व होना अत्यन्त आवश्यक है- १. आचार्य का २. उपाध्याय का। तात्पर्य यह है कि आचार्य के नेतृत्व से इनकी स यम-समाधि रहती है और उपाध्याय के नेतृत्व से इनका आगमानुसार व्यवस्थित अध्ययन होता है।

दूसरे सूत्र में नव ड़हर एव तरुण साध्वी के लिए भी यही विधान किया गया है। उन्हें भी आचार्य, उपाध्याय और प्रवर्तिनी इन तीन की निश्रा के बिना रहना नहीं कल्पता है। इस सूत्र में भी प्रश्न करके उत्तर में यही कहा गया है कि ये उक्त वय वाली साध्विया सदा तीन की निश्रा से ही सुरक्षित रहती हैं।

सूत्र में **निग्ग थस्स नव-ड़हर-तरुणगस्स** और **णिग्ग थीए णव-ड़हर-तरुणीए** इस प्रकार एक वचन का प्रयोग है, यहाँ बहुवचन का या गण का कथन नहीं है जिससे यह विधान प्रत्येक 'नवड़हर तरुण' भिक्षु के लिए समझना चाहिए। अतः जिस गच्छ में आचार्य और उपाध्याय दो पदवीधर नहीं हैं वहाँ उक्त नव-ड़हर-तरुण साधुओं को रहना नहीं कल्पता है और इन दो के अतिरिक्त प्रवर्तिनी न हो तो वहाँ उक्त नव-ड़हर-तरुण साध्वियों को रहना नहीं कल्पता हैं।

तात्पर्य यह है कि उक्त वय वाले साधुओं से युक्त गच्छ में आचार्य, उपाध्याय दो पदवीधर होना आवश्यक है। यदि ऐसे गच्छ में केवल एक पदवीधर स्थापित करे या एक भी पदवीधर नियुक्त

न करे केवल रत्नाधिक की निश्रा से रहे तो इस प्रकार से रहना आगम विपरीत है। क्यों कि इन सूत्रों से यह स्पष्ट है कि अल्पस ख्यक गच्छ में प्रवर्तक एव विशाल गच्छ में आचार्य और उपाध्याय का होना आवश्यक है यही जिनाज्ञा है।

यदि किसी गच्छ में २-४ साधु ही हों और उनमें कोई सूत्रोक्त नव-ड़हर-तरुण न हो अर्थात् सभी प्रौढ़ एव स्थविर हों तो वे बिना आचार्य, उपाध्याय के विचरण कर सकते हैं किन्तु यदि उनमें नव-ड़हर-तरुण हो तो उन्हें किसी भी गच्छ के आचार्य, उपाध्याय की निश्रा लेकर अथवा अपना प्रवर्तक आदि स्थापित करके ही रहना चाहिए अन्यथा उनका विहार आगम विरुद्ध है।

इसी प्रकार साध्वियाँ भी ५-१० हों, जिनके कोई आचार्य, उपाध्याय या प्रवर्तिनी न हो या उन्होंने किसी परिस्थिति से गच्छ का त्याग कर दिया हो उनमें नव ड़हर तरुण साध्वियाँ हों तो उन्हें भी किसी आचार्य और उपाध्याय की निश्रा अथवा प्रवर्तक आदि की निश्रा स्वीकार करना आवश्यक है एव अपनी प्रवर्तिनी नियुक्त करना भी आवश्यक है। अन्यथा उनका विहार भी आगम विरुद्ध है।

इन सूत्रों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि स्थाना ग अ. ३ में कहे गये भिक्षु के दूसरे मनोरथ के अनुसार अथवा अन्य किसी प्रतिज्ञा को धारण करने वाला भिक्षु और दशवै॰ चू॰ २, गा॰ १०, उत्तरा अ॰ ३२, गा॰ ५, आचा॰ श्रु॰ १, अ॰ ६, उ॰ २, सूय॰ श्रु॰ १, अ॰१०, गा॰ ११ में कहे गये सपरिस्थितिक प्रशस्त विहार के अनुसार अकेला विचरण करने वाला भिक्षु भी यदि नव ड़हर या तरुण है तो उसका वह विहार आगम विरुद्ध है। अतः उपर्युक्त आगमसम्मत एकलविहार भी प्रौढ़ एव स्थविर भिक्षु ही कर सकते हैं जो नव दीक्षित न हों।

तात्पर्य यह है कि तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय और चालीस वर्ष की उम्र के पहले किसी भी प्रकार का एकल विहार या गच्छ-त्याग करना उचित नहीं है और वह आगम विपरीत है।

बीस वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला पर्याय स्थविर होने से २९ वर्ष की वय में ही आचार्य की आज्ञा लेकर उनकी निश्रा में रहता हुआ एकल विहार साधनाएँ कर सकता है। किन्तु सपरिस्थितिक एकल विहार या गच्छ त्याग ४० वर्ष के पूर्व नहीं कर सकता।

ऐसे स्पष्ट विधान वाले सूत्र एव अर्थ के उपलब्ध होते हुए भी समाज में निम्न प्रवृतियाँ या परम्पराएँ चलती हैं वे उचित नहीं कही जा सकती, यथा- (१) केवल आचार्य पद से गच्छ चलाना और उपाध्याय पद नियुक्त न करना। (२) कोई भी पद नियुक्त न करने के आग्रह से विशाल गच्छ को अव्यवस्थित चलाते रहन। (३) उक्त ४० वर्ष की वय के पूर्व ही गच्छ त्याग करना।

ऐसा करने में स्पष्ट रूप से उक्त आगम विधान की स्वमति से उपेक्षा करना है। इस उपेक्षा से होने वाली हानियाँ इस प्रकार है- **१.** गच्छगत साधुओं के विनय, अध्ययन, आचार एव स यम समाधि की अव्यवस्था आदि अनेक दोषों की उत्पत्ति होती है। **२.** साधुओं में स्वच्छ दता एव आचार विचार की भिन्नता हो जाने से क्रमशः गच्छ का विकास न होकर अधः पतन होता है। **३.** साधुओं में प्रेम स यम समाधि नष्ट होती है और क्लेशों की वृद्धि होती है। **४.** अ ततः गच्छ भी छिन्न-भिन्न होता रहता है। अतः प्रत्येक गच्छ में आचार्य-उपाध्याय दोनों पदों पर किसी को नियुक्त करना आवश्यक है।

यदि कोई आचार्य, उपाध्याय पदों को लेना या गच्छ में ये पद नियुक्त करना अभिमान सूचक एव क्लेश वृद्धि कराने वाला मानकर सदा के लिए पदरहित गच्छ रखने का आग्रह रखते हैं और ऐसा करते हुए अपने को निरभिमानी होना व्यक्त करते हैं, तो ऐसा मानना एव करना उनका सर्वथा अनुचित है और जिनाज्ञा की अवहेलना एव आशातना करना भी है। क्यों कि जिनाज्ञा तो आचार्य, उपाध्याय नियुक्त करने की है तथा नमस्कारम त्र में भी ये दो स्वत त्र पद कहे गये हैं। अतः उपरोक्त आग्रह में सूत्र विधानों से भी अपनी समझ को सर्वोपरि मानने का अह सिद्ध होता है। यदि आचार्य, उपाध्याय पद के अभाव में निरभिमान और क्लेशरहित होना सभी विशाल गच्छ वाले सोच लें तो नमस्कार म त्र के दो पदों का होना ही निरर्थक सिद्ध होगा और जिससे पद नियुक्ति सम्बन्धी इन सारे आगम विधानों का भी कोई महत्त्व नहीं रहेगा।

इसलिये अपने विचारों का या पर परा का आग्रह न रखते हुए सरलतापूर्वक आगम विधानों के अनुसार ही प्रवृत्ति करना चाहिए।

सारा श :- (१) प्रत्येक नव-ड़हर-तरुण साधु को दो और साध्वी को

तीन पदवीधर युक्त गच्छ में ही रहना चाहिए। (२) इन पदवीधरों से रहित गच्छ में नहीं रहना चाहिए। (३) सूत्रोक्त वय के पूर्व एकल विहार या गच्छ त्याग कर स्वत त्र विचरण भी नहीं करना चाहिए। (४) सूत्रोक्त वय के पूर्व कोई परिस्थिति विशेष हो तो अन्य आचार्य एव उपाध्याय से युक्त गच्छ की निश्रा लेकर विचरण करना चाहिए। (५) गच्छ प्रमुखों को चाहिए कि वे अपने गच्छ को २ या ३ पद से कभी भी रिक्त न रखें।

उद्देशक-४

प्रश्न-१ : इस उद्देशक में सूत्र कितने है और किन विषयों का निरूपण किया गया है ?

उत्तर- इसमें ३२ सूत्र हैं जिनमें निम्न विषयों का सूत्र क्रमा क से निरूपण इस प्रकार है-

(१-८) आचार्य उपाध्याय को अकेले विचरण नहीं करना चाहिए और दो ठाणा से चौमासा भी नहीं करना चाहिए, किन्तु वे दो ठाणा से विचरण कर सकते हैं और तीन ठाणा से चातुर्मास कर सकते हैं।

गणावच्छेदक को दो ठाणा से विचरण नहीं करना और तीन ठाणा से चातुर्मास नहीं करना चाहिए किन्तु वे तीन ठाणा से विचरण कर सकते हैं एव चार ठाणा से चातुर्मास कर सकते हैं।

(९, १०) अनेक आचार्य आदि को एक साथ विचरण करना हो तो भी उपरोक्त साधु स ख्या अपनी-अपनी निश्रा में रखते हुए ही विचरण करना चाहिए और इसी विवेक के साथ उन्हें चातुर्मास में रहना चाहिए। अर्थात् पदवीधरों को अपनी शिष्य स पदा के बिना रहना नहीं कल्पता है।

(११, १२) विचरण काल में या चातुर्मास काल में यदि उस सि घाड़े की प्रमुखता करने वाला भिक्षु काल धर्म को प्राप्त हो जाय तो शेष साधुओं में छोटा या बड़ा जो भी श्रुत एव पर्याय से योग्य हो तो उसे प्रमुखता स्वीकार कर लेनी चाहिए । यदि कोई भी योग्य न हो तो चातुर्मास या विचरण को स्थगित करके शीघ्र ही योग्य प्रमुख साधुओं के या आचार्य के सानिध्य में पहुँच जाना चाहिए।

(१३, १४) आचार्य-उपाध्याय काल धर्म प्राप्त करते समय या स यम छोड़कर जाते समय जिसे आचार्य-उपाध्याय पद पर नियुक्त करने का कहे उसे ही पद पर स्थापित करना चाहिए। वह योग्य न हो और अन्य योग्य हो तो उस आचार्य निर्दिष्ट भिक्षु को पद न देकर या दे दिया हो तो उसे हटाकर अन्य योग्य भिक्षु को पद दिया जा सकता है। जो अयोग्य का खोटा पक्ष करे वे सभी प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं।

(१५-१७) नवदीक्षित भिक्षु के योग्य हो जाने पर ११ वीं रात्रि से पूर्व बड़ी दीक्षा दे देनी चाहिए। उसके उल्ल घन करने पर आचार्य उपाध्याय को यथायोग्य तप या छेद प्रायश्चित्त आता है। एव सत्रहवीं रात्रि का उल्ल घन करने पर तप या छेद प्रायश्चित्त के अतिरिक्त एक वर्ष के लिए पद-मुक्त होने का प्रायश्चित्त भी आता है। यदि बड़ी दीक्षा के समय का उल्ल घन करने में नवदीक्षित के माता-पिता आदि पूज्य पुरुषों की दीक्षा का कारण हो तो छः मास तक दीक्षा रोकने पर भी प्रायश्चित्त नहीं आता है।

(१८) अन्य गण में अध्ययन आदि के लिये गये भिक्षु को किसी के द्वारा पूछने पर प्रथम सर्वरत्नाधिक का नाम बताना चाहिए । उसके बाद आवश्यक होने पर सर्वबहुश्रुत का नाम निर्देश करना चाहिए ।

(१९) व्रजिका (गोपालक बस्ति) में दुग्धादि सेवन हेतु जाने के पूर्व स्थविर की अर्थात् गुरु आदि की आज्ञा लेना आवश्यक है और आज्ञा मिलने पर ही जाना कल्पता है।

(२०-२३) चरिका प्रविष्ट या चरिका निवृत्त भिक्षु को आज्ञा प्राप्ति के बाद ४-५ दिन में गुरु आदि के मिलने का प्रस ग आ जाय तो उसी पूर्व की आज्ञा से विचरण या निवास करना चाहिए । ४-५ दिन के बाद अर्थात् आज्ञा प्राप्ति के अधिक समय बाद गुरु आदि के मिलने का प्रस ग आ जाय तो सूत्रोक्त विधि से पुनः आज्ञा प्राप्त करके विचरण कर सकता है।

(२४, २५) रत्नाधिक(अधिक स यम पर्याय वाले) भिक्षु को अवम-रात्निक(कम दीक्षा पर्याय वाले) भिक्षु की सेवा में सहयोग करना ऐच्छिक होता है और अवमरात्निक भिक्षु को रत्नाधिक भिक्षु की सेवा या सहयोग करना आवश्यक होता है। रत्नाधिक भिक्षु यदि सेवा सहयोग न लेना चाहे तो आवश्यक नहीं होता है। अवमरात्निक

भिक्षु ग्लान हो तो रत्नाधिक को भी उसकी सेवा या सहयोग करना आवश्यक हो जाता है।

(२६-३२) अनेक भिक्षु, अनेक आचार्य-उपाध्याय एव अनेक गणावच्छेदक आदि कोई भी यदि साथ-साथ विचरण करे तो उन्हें परस्पर समान बन कर नहीं रहना चाहिए। किन्तु जो उनमें रत्नाधिक दीक्षा ज्येष्ठ हो उसकी प्रमुखता स्वीकार करके उचित विनय एव समाचारी व्यवहार का पालन करते हुए ही साथ में रहना चाहिए।

प्रश्न-२ : आचार्य पद देने के बाद हटाया भी जा सकता है ?

उत्तर- तीसरे उद्देशक में आचार्य, उपाध्याय पद योग्य भिक्षु के गुणों का विस्तृत कथन किया गया है। यहाँ पर रुग्ण आचार्य, उपाध्याय अपना अ तिम समय समीप जान कर आचार्य, उपाध्याय पद के लिए किसी साधु का नाम निर्देश करे तो उस समय स्थविरों का क्या कर्तव्य है इसका स्पष्टीकरण किया गया है।

रुग्ण आचार्य ने आचार्य बनाने के लिए जिसके नाम का निर्देश किया है वह योग्य भी हो सकता है और अयोग्य भी हो सकता है अर्थात् उनका कथन रुग्ण होने के कारण या मोह भाव के कारण स कुचित दृष्टिकोण वाला भी हो सकता है।

अतः उनके काल धर्म प्राप्त हो जाने पर पद किसको देना इसके निर्णय की जिम्मेदारी गच्छ के शेष साधुओं की कही गई है। जिसका भाव यह है कि यदि आचार्य निर्दिष्ट भिक्षु तीसरे उद्देशक में कही गई सभी योग्यताओं से युक्त है तो उसे ही उस पद पर नियुक्त करना चाहिये, दूसरा कोई विकल्प आवश्यक नहीं है।

यदि वह शास्त्रोक्त योग्यता से सम्पन्न नहीं है और अन्य योग्य है तो आचार्य निर्दिष्ट भिक्षु को पद देना अनिवार्य न समझ कर उस अन्य योग्य भिक्षु को ही पद पर नियुक्त करना चाहिए। यदि अन्य कोई भी योग्य नहीं है तो आचार्य निर्दिष्ट भिक्षु योग्य हो अथवा योग्य न हो उसे ही आचार्य पद पर नियुक्त करना चाहिए। यदि अन्य अनेक भिक्षु भी पद के योग्य हैं और वे आचार्य- निर्दिष्ट भिक्षु से रत्नाधिक भी हैं किन्तु यदि आचार्य निर्दिष्ट भिक्षु योग्य है तो उसे ही आचार्य बनाना चाहिए।

आचार्य निर्दिष्ट या अनिर्दिष्ट किसी भी योग्य भिक्षु को अथवा कभी परिस्थितिवश अल्प योग्यता वाले भिक्षु को पद पर नियुक्त करने के बाद यदि यह अनुभव हो कि गच्छ की व्यवस्था अच्छी तरह नहीं चल रही है, साधुओं की स यम समाधि एव बाह्य वातावरण क्षुब्ध हो रहा है, गच्छ में अन्य योग्य भिक्षु तैयार हो गये हैं तो गच्छ के स्थविर या प्रमुख साधु साध्विया आदि मिलकर आचार्य को पद त्यागने के लिये निवेदन करके अन्य योग्य को पद पर नियुक्त कर सकते हैं।

ऐसी स्थिति में यदि वे पद त्यागना न चाहें या अन्य कोई साधु उनका पक्ष लेकर आग्रह करे तो वे सभी प्रायश्चित्त के पात्र होते है। **-उद्दे-४ सूत्र-१३।**

इस सूत्रोक्त आगम आज्ञा को भलीभाँति समझकर सरलता पूर्वक पद देना, लेना या छोड़ने के लिए निवेदन करना आदि प्रवृत्तियाँ करनी चाहिए तथा अन्य सभी साधु-साध्वियों को भी प्रमुख स्थविर स तों को सहयोग देना चाहिए। किन्तु अपने अपने विचारों की सिद्धि के लिये निंदा, द्वेष, कलह या स घभेद आदि अनुचित तरीकों से पद छुड़ाना या कपट-चालाकी से पद प्राप्त करने की कोशिश करना सर्वथा अनुचित समझना चाहिए।

गच्छ-भार स भालने वाले पूर्व के आचार्य का तथा गच्छ के अन्य प्रमुख स्थविर स तों का यह कर्तव्य है कि वे निष्पक्ष भाव से तथा विशाल दृष्टि से गच्छ एव जिनशासन का हित सोचकर आगम निर्दिष्ट गुणों से सम्पन्न भिक्षु को ही पद पर नियुक्त करे।

कई साधु स्वय ही आचार्य बनने का स कल्प कर लेते हैं, वे ही कभी अशा त एव क्लेश की स्थिति पैदा करते हैं या करवाते हैं। किन्तु मोक्ष की साधना के लिए स यमरत भिक्षु को जल-कमलवत् निर्लेप रहकर एकत्व आदि भावना में तल्लीन रहना चाहिए। किसी भी पद की चाहना करना या पद के लिए लालायित रहना भी स यम का दूषण है। इस चाहना में बाह्य ऋद्धि की इच्छा होने से इसका समावेश लोभ नामक पाप में होता है तथा उस इच्छा की पूर्ति में अनेक प्रकार के स यमविपरीत स कल्प एव कुटिल नीति आदि का अवल बन भी लिया जाता है, जिससे स यम की हानि एव विराधना होती है। साथ ही मान कषाय की अत्यधिक पुष्टि होती है।

निशीथ उद्देशक १७ में अपने आचार्यत्व के सूचक लक्षणों को प्रकट करने वाले को प्रायश्चित्त का पात्र कहा गया है।

अतः स यमसधाना में लीन गुणसम्पन्न भिक्षु को यदि आचार्य या अन्य गच्छप्रमुख स्थविर ही गच्छभार स भालने के लिये निर्णय करें या आज्ञादें तो अपनी क्षमता का एव अवसर का विचार कर उसे स्वीकार करना चाहिए किन्तु स्वय ही आचार्य पद प्राप्ति के लिए स कल्पबद्ध होना एव न मिलने पर गण का त्याग कर देना आदि सर्वथा अनुचित्त होता हैं।

इस प्रकार इस सूत्र में निर्दिष्ट सम्पूर्ण सूचनाओं को समझ कर सूत्र निर्दिष्ट विधि से पद प्रदान करना चाहिए और इससे विपरीत अन्य अयोग्य एव अनुचित्त मार्ग स्वीकार नहीं करना चाहिए।

इस सूत्र से यह भी स्पष्ट होता है कि स्याद्वाद सिद्धान्त वाले वीतराग मार्ग में विनय-व्यवहार एव आज्ञापालन में भी अनेका तिक विधान है- अर्थात् विनय के नाम से केवल **'बाबावाक्य प्रमाण'** का निर्देश नहीं है। इसी कारण आचार्य द्वारा निर्दिष्ट या अनिर्दिष्ट भिक्षु की योग्यता-अयोग्यता की विचारणा एव नियुक्ति का अधिकार सूचित किया गया है।

ऐसे आगम विधानों के होते हुए भी परम्परा के आग्रह से या **'बाबावाक्य प्रमाण'** की उक्ति चरितार्थ करके आगम विपरीत प्रवृत्ति करना अथवा भद्रिक एव अकुशल सर्व रत्नाधिक साधुओं को गच्छप्रमुख रूप में स्वीकार कर लेना गच्छ एव जिनशासन के सर्वतोमुखी पतन का ही मार्ग है।

अतः स्यद्वादमार्ग को प्राप्त करके आगम विपरीत परम्परा एव निर्णय को प्रमुखता न देकर सदा जिनाज्ञा एव शास्त्राज्ञा को ही प्रमुखता देनी चाहिए।

❋ उद्देशक-५ ❋

प्रश्न-१ : इस उद्देशक में कितने सूत्र है और उनमें क्या निरूपण है ?

उत्तर- इस उद्देशक में २१ सूत्र है जिसमें विषय निरूपण सूत्र क्रम से इस प्रकार है- **(१-१०)** प्रवर्तिनी दो साध्वियों को साथ लेकर विचरण

करे और तीन साध्वियों को साथ लेकर चातुर्मास करे। गणावच्छेदिका तीन साध्वियों को साथ लेकर विचरण करे एव चार साध्वियों को साथ लेकर चातुर्मास करे। अनेक प्रवर्तिनी या गणावच्छेदिका सम्मिलित होवे तो भी उपरोक्त स ख्या के अनुसार ही प्रत्येक को रहना चाहिए।

(११,१२) प्रमुखा साध्वी के काल धर्म प्राप्त हो जाने पर शेष साध्विया अन्य योग्य को प्रमुखा बनाकर विचरण करे योग्य न हो तो विहार करके शीघ्र अन्य स घाड़े में मिल जावे।

(१३,१४) प्रवर्तिनी द्वारा निर्दिष्ट योग्य साध्वी को पदवी देना। वह योग्य न हो तो अन्य योग्य साध्वी को पद पर नियुक्त करना।

(१५,१६) आचारा ग निशीथ सूत्र प्रत्येक साधु-साध्वी को अर्थ सहित कण्ठस्थ धारण करना और उन्हें उपस्थित रखना चाहिए। आचार्यादि को भी यथा समय पूछताछ करते रहना चाहिए। यदि किसी को ये सूत्र प्रमादवश विस्मृत हो जाय तो उसे किसी प्रकार के पद पर न रखे, न ही उसे प्रमुख बन कर विचरण करने की आज्ञा दे। यदि कोई रोगादिक के कारण से भूल जाय तो स्वस्थ होने पर पुनः कण्ठस्थ करने के बाद ही उसे पद आदि दिये जा सकते हैं। कण्ठस्थ न करने तक वह सि घाड़ा प्रमुख बनकर विचरण भी नहीं कर सकता है।

(१७,१८) वृद्धावस्था वाले स्थविर के द्वारा ये कण्ठस्थ सूत्र भूल जाना क्षम्य है तथा पुनः याद करते हुए भी उन्हें याद न होवे तो कोई प्रायश्चित्त नहीं है। वृद्ध भिक्षु कभी लेटे हुए या आराम से बैठे हुए भी सूत्र की पुनरावृत्ति, श्रवण या पृच्छा आदि कर सकते हैं।

(१९) विशेष परिस्थिति के बिना साधु-साध्वी को परस्पर एक दूसरे के पास आलोचना प्रायश्चित्त नहीं करना चाहिए।

(२०) साधु-साध्वी को परस्पर एक दूसरे का कोई भी सेवा कार्य नहीं करना चाहिए। आगमोक्त विशेष परिस्थितियों में वे एक दूसरे की सेवा-परिचर्या आदि कर सकते हैं।

(२१) सा प काट जाय तो स्थविर कल्पी भिक्षु को म त्र चिकित्सा कराना कल्पता है। किन्तु जिनकल्पी को चिकित्सा करना या कराना नहीं कल्पता है। स्थविर कल्पी को उस चिकित्सा कराने का प्रायश्चित्त भी नहीं है। जिनकल्पी को ऐसा करने पर प्रायश्चित्त आता है।

उद्देशक-६

प्रश्न-१ : इस उद्देशक में कितने सूत्र है और उनमें क्या निरूपण है ?

उत्तर- **(१)** ज्ञातिजनों के घरों में गोचरी आदि जाने के लिये आचार्यादि की विशिष्ट आज्ञा प्राप्त करनी चाहिए। अगीतार्थ या अबहुश्रुत को अकेले नहीं जाना चाहिए। गीतार्थ भिक्षु के साथ में ही जाना चाहिए। वहाँ घर में पहुँचने के पूर्व बनी हुई वस्तु ही लेना चाहिए किन्तु बाद में निष्पन्न हुई वस्तु नहीं लेनी चाहिए।

(२,३) आचार्य उपाध्याय के आचार सम्बन्धी पाँच अतिशय विशेष छूटें हैं और गणावच्छेदक के अ तिम दो अतिशय हैं। १. उपाश्रय में पाँव प्रमार्जन २. उपाश्रय में मल त्याग ३. सेवा कार्य ऐच्छिक ४-५. उपाश्रय में या बाहर अकेले रहना ।

(४,५) अकृत सूत्री(अगीतार्थ) अनेक साधुओं को कहीं पर निवास करना भी नहीं कल्पता है किन्तु परिस्थितिवश योग्य उपाश्रय में एक दो रात रह सकते हैं। अधिक रहने पर वे सभी प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं।

(६,७) अनेक वगड़, द्वार या मार्ग वाले उपाश्रय में एकाकी भिक्षु को नहीं रहना चाहिए और एक वगड़, द्वार या मार्ग वाले उपाश्रय में भी उभयकाल धर्म जागरणा करते हुए रहना चाहिए।

(८,९) स्त्री के साथ मैथुन सेवन न करते हुए भी हस्तकर्म के परिणामों से और कुशील सेवन के परिणामों से शुक्रपुद्गलों के निकालने पर भिक्षु को क्रमशः गुरुमासिक या गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

(१०,११) अन्य गच्छ से आये हुए क्षत आचार साधु-साध्वी को पूर्ण आलोचना प्रायश्चित्त कराने के साथ उपस्थापित किया जा सकता है, उसके साथ आहार या निवास किया जा सकता है और उसके आचार्य उपाध्याय गुरु आदि की निश्रा निश्चित्त की जा सकती है।

उद्देशक-७

प्रश्न-१ : इस उद्देशक में कितने सूत्र है और उनमें क्या निरूपण है ?

उत्तर- इसमें २६ सूत्र हैं जिनमें निम्न विषय क्रमा क द्वारा दर्शाये गये हैं-

(१,२) अन्य गच्छ से आई हुई दूषित आचार वाली साध्वी को प्रवर्तिनी आदि साध्वियाँ आचार्य आदि को पूछे बिना एव उसके दोषों की शुद्धि कराये बिना नहीं रख सकती। किन्तु आचार्य आदि भिक्षु प्रवर्तिनी आदि साध्वियों को पूछे बिना भी उसके दोषों की शुद्धि करवाकर गच्छ में रख सकते हैं।

(३,४) उपेक्षा पूर्वक तीन बार से अधिक एषणा दोष आदि का सेवन करने पर अथवा व्यवस्था भ ग करने पर उस साधु-साध्वी के साथ आहार सम्बन्ध का परित्याग-विच्छेद किया जा सकता है। ऐसा करने के लिए आचार्य के पास वे साध्विया परस्पर प्रत्यक्ष वार्ता नहीं कर सकती किन्तु वे साधु आचार्य के पास परस्पर प्रत्यक्ष वार्ता कर सकते हैं।

(५-८) साधु-साध्वी को दीक्षा दे सकता है और साध्वी साधु को दीक्षा दे सकती है किन्तु वे उसे आचार्य आदि की निश्रा में कर सकते हैं अपनी निश्रा में नहीं।

(९,१०) साध्वी अतिदूरस्थ आचार्य प्रवर्तिनी की निश्रा स्वीकार करके दीक्षा न लेवे किन्तु सन्निकट आचार्य प्रवर्तिनी की ही निश्रा स्वीकार करे। साधु दूरस्थ आचार्य की निश्रा स्वीकार करके भी दीक्षा ले सकते हैं।

(११,१२) अतिदूर गई हुई साध्वी से अन्य साध्वी क्षमायाचना अपने स्थान से ही कर सकती है किन्तु साधु को क्षमापना करने के लिए प्रत्यक्ष मिलना आवश्यक होता है। भाष्य में परिस्थितिवश साधु को भी दूरस्थ क्षमापना करना कहा है।

(१३,१४) उत्काल में(दूसरे तीसरे प्रहर में) कालिक सूत्र की स्वाध्याय नहीं करना चाहिए किन्तु कभी साध्वी उपाध्याय आदि को स्वाध्याय सुना सकती है।

(१५,१६) बत्तीस प्रकार के अस्वाध्याय काल हो तब स्वाध्याय नहीं करना और जब अस्वाध्याय न हो तब अवश्य स्वाध्याय करना चाहिए।

(१७) अपनी शारीरिक अस्वाध्याय में स्वाध्याय नहीं करना किन्तु साधु-साध्वी विवेक पूर्वक परस्पर सूत्रार्थ वाचना दे ले सकते हैं।

(१८,१९) तीस वर्ष की दीक्षा पर्याय तक की साध्वियों को उपाध्याय एव प्रवर्तिनी के बिना नहीं रहना चाहिए और ६० वर्ष तक की दीक्षा पर्याय वाली साध्वियों को बिना आचार्य के नहीं रहना चाहिए।

(२०) साधु को विहार करते हुए मार्ग में अन्य साधु का मृत देह पड़ा हुआ दिख जाय तो उसे योग्य विधि से एव योग्य स्थान में परठ देना चाहिए। यदि कोई उपयोगी उपकरण-रजोहरण आदि हो तो उन्हें ग्रहण कर आचार्य की आज्ञा लेकर उपयोग में लिए जा सकते हैं।

(२१,२२) शय्यातर मकान को बेचे या किराये पर देवे तो नूतन स्वामी की या पूर्व स्वामी की या दोनों की आज्ञा ली जा सकती है।

(२३) घर के किसी सदस्य की या जिम्मेदार नौकर की आज्ञा लेकर भी ठहरा जा सकता है। सदा पिता के घर रहने वाली विवाहित बेटी की भी आज्ञा ली जा सकती है। **(२४)** मार्ग में बैठना हो तो भी आज्ञा लेकर ही बैठना चाहिए। **(२५,२६)** राजा या राज्य व्यवस्था परिवर्तित होने पर उस राज्य में विचरण करने के लिए पुनः आज्ञा लेना आवश्यक है। यदि उसी राजा के राजकुमार आदि व शज राजा बने हो एव कोई व्यवस्था परिवर्तित न हुई हो तो पूर्वाज्ञा से विचरण किया जा सकता है।

उद्देशक-८

प्रश्न-१ : इस उद्देशक में कितने सूत्र है और उनमें क्या भाव दर्शाये गये है ?

उत्तर- इसमें १७ सूत्रों में उपकरण द्वारा समाचारी की बातों का निर्देश हुआ है। उन सूत्रों का सारा श इस प्रकार सूत्र क्रम से दिया गया है-

(१) स्थविर गुरु आदि की आज्ञा से शयनासन भूमि ग्रहण करना।

(२-४) पाट एक हाथ से उठाकर सरलता से लाया जा सके वैसा ही लाना। उसकी गवेषणा तीन दिन तक की जा सकती है और स्थविरवास के अनुकूल पाट की गवेषणा पाँच दिन तक की जा सकती एव अधिक दूर से भी लाया जा सकता है।

(५) एकलविहारी वृद्ध भिक्षु के अनेक प्रकार के औपग्रहिक उपकरण हो तो उन्हें भिक्षाचरी आदि जाते समय किसी के देखरेख में छोड़कर जाना एव पुनः आकर उसे सूचित करके ग्रहण करना चाहिए। पड़िमाधारी एव जिनकल्पी आदि भिक्षुओं के चर्म, छत्र आदि नहीं होते। अतः यहाँ यह सामान्य स्थविर कल्पी सपरिस्थितिक एकल विहारी वृद्ध भिक्षु का वर्णन है।

(६-९) किसी गृहस्थ का शय्या स स्तारक आदि अन्य उपाश्रय(मकान) में ले जाना हो तो उसकी पुनः आज्ञा लेना। कभी अल्पकाल के लिए कोई गृहस्थ का पाट आदि उपाश्रय में ही छोड़ दिया हो तो उसे ग्रहण करने के लिए पुनः आज्ञा लेना, किन्तु बिना आज्ञा ग्रहण नहीं करना। क्यों कि उसे अपनी निश्रा से कुछ समय के लिए छोड़ दिया गया है।

(१०,११) मकान पाट आदि की पहले आज्ञा लेना, बाद में ग्रहण करना। कभी दुर्लभ-शय्या की परिस्थिति में विवेक पूर्वक पहले ग्रहण करके फिर आज्ञा ली जा सकती है।

(१३-१५) चलते समय मार्ग में किसी भिक्षु का उपकरण गिर जाय और अन्य भिक्षु को मिल जाय तो पूछताछ कर जिसका हो उसे दे देना। कोई भी उसे स्वीकार न करे तो परठ देना अर्थात् छोड़ देना। रजोहरणादि बड़े उपकरण हो तो अधिक दूर भी ले जाना और पूछताछ करना।

(१६) अतिरिक्त पात्र आचार्यादि के निर्देश से ग्रहण किए हों तो उन्हें ही देना या सुपुर्द करना। जिसे देने की इच्छा हो उन्हें स्वतः ही नहीं देना। जिसका नाम निर्देश करके लिया हो तो आचार्य की आज्ञा लेकर पहले उसे ही देना।

(१७) सदा कुछ न कुछ उणोदरी तप करना चाहिए। उणोदरी करने वाला प्रकाम भोजी नहीं कहा जाता है।

उद्देशक-९

प्रश्न-१ : इस उद्देशक में कितने सूत्र है ? उनमें किन-किन विषयों का निरूपण है ?

उत्तर- इस उद्देशक में ४६ सूत्र हैं। जिसमें विविध विषयों का निरूपण इस प्रकार है-

(१-८) शय्यातर के नौकर या पाहुणों को पूर्ण रूप से दिये गये आहार में से भिक्षु ले सकता है। यदि प्रातिहारिक(शेष आहार लौटाने का) हो तो नहीं लेना चाहिए।

(९-१६) शय्यातर के सहयोग से जीवन निर्वाह करने वाले उसके ज्ञातिजन यदि खाना बनावे या खावे तो उनसे लेना नहीं कल्पता है।

(१७-३६) शय्यातर के भागीदारी(सीरवाली) वाली दुकानों में यदि कोई पदार्थ बिना सीरवाली के हों तो उसके भागीदार से लिए जा सकते हैं। अथवा विभक्त हो जाने पर कोई भी पदार्थ लिए जा सकते हैं।
(३७-४०) सात सप्तक, आठ अष्टक, नव नवक और दश दशक दिनों में दत्तियों की मर्यादा से भिक्षा ग्रहण करके चार प्रकार की भिक्षु प्रतिमाओं का आराधन साधु-साध्वी दोनों ही कर सकते हैं।
(४१,४२) स्वमूत्र पीने की छोटी व बड़ी प्रतिमा सात एव आठ दिन में आराधन की जाती है। इसमें सूत्रोक्त पूर्ण शुद्ध प्रश्रवण दिन में ही पिया जाता है रात्रि में नहीं। **(४३,४४)** एक बार में अखण्ड़ धार से साधु के हाथ में या पात्र में दिये जाने वाले आहारादि को एक 'दत्ति' कहा जाता है। **(४५)** तीन प्रकार के खाद्य पदार्थ होते हैं (१) स स्कारित पदार्थ (२) शुद्ध अलेप्य पदार्थ (३) शुद्ध सलेप्य पदार्थ। इनमें से कोई भी अभिग्रह धारण किया जा सकता है।
(४६) 'प्रगृहित' नामक छट्ठी पिंड़ेषणा के योग्य आहार की तीन अवस्थाएँ होती है- (१) बर्तन में से निकालते हुए (२) परोसने के लिए जाते हुए (३) थाली आदि में परोसते हुए। **अथवा** अपेक्षा से उस आहार की दो अवस्था कही जा सकती है। (१) बर्तन में निकालते हुए। (२) थाली आदि में परोसते हुए।

उद्देशक-१०

प्रश्न-१ : इस उद्देशक में कितने सूत्र है और उनमें क्या-क्या निरूपण किया गया है ?

उत्तर- इसमें ३७ सूत्रों है जिनमें मुख्यतः अध्यापन स ब ध ी सारा श दिया गया है तथा पाँच व्यवहार का क्रमिक महात्म्य समझाया है। **(१,२)** यवमध्य चन्द्र प्रतिमा और वज्रमध्य चन्द्र प्रतिमा का सूत्रोक्त विधि से विशिष्ट स हनन वाले श्रुत सम्पन्न भिक्षु आराधन कर सकते हैं। ये प्रतिमा एक-एक मास की होती है। इनमें आहार पानी के दत्ति की हानि वृद्धि की जाती है। साथ ही अन्य अनेक नियम अभिग्रह किए जाते हैं एव परिषह उपसर्गो को धैर्य के साथ शरीर के प्रति निरपेक्ष होकर सहन किया जाता है।

(३) आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा, जीत इन पाँच व्यवहारों मे से जिस समय जो उपलब्ध हो उनका क्रमशः निष्पक्ष भाव से उपयोग करना चाहिए। स्वार्थ, आग्रह या उपेक्षा भाव के कारण व्युत्क्रम से उपयोग नहीं करना चाहिए। विपरीत व्यवहार करने वाला विराधक होता है। सम्यक् व्यवहार करने वाला अराधक होता है। **(९,१०)** धर्म में, आचार में और गण समाचारी में स्थिर रहने वालों की या उसका त्याग कर देने वालों की दो चौभ गी बनती है। **(११)** दृढ़धर्मी और प्रियधर्मी सम्बन्धी एक चौभ गी होती है। **(१२-१५)** दीक्षादाता, बड़ी दीक्षादाता, मूल आगम के वाचना दाता, अर्थ आगम के वाचना दाता की एव इनसे सम्बन्धित शिष्यों की कुल चार चौभ गिया हैं एव उनके अ तिम भ ग के साथ धर्माचार्य(प्रतिबोध दाता) का एव धर्मंतेवासी का कथन किया गया है।

(१६) तीन प्रकार के स्थविर होते हैं। १. श्रुत से २. दीक्षापर्याय से ३. उम्र से। **अर्थात्** (१) ग्यारह सूत्र क ठस्थ (२) २० वर्ष की दीक्षा (३) ६० वर्ष की उम्र। **(१७)** शैक्ष की (उपस्थापना के पूर्व की) तीन अवस्थाएँ होती है (१) सात दिन (२) चार महिना (३) छः महिना। **(१८,१९)** गर्भकाल सहित ९ वर्ष के पूर्व किसी को दीक्षा नहीं देना। कारणवश दीक्षा दी गई हो तो बड़ी दीक्षा नहीं देना चाहिए। **(२०,२१)** अव्यक्त(१६ वर्ष से कम वय वाले) को आचारा ग निशीथ की वाचना न देना, अन्य अध्ययन कराना। **(२२-३६)** तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय तक भिक्षु को कम से कम आचारा ग एव निशीथ सूत्र का अर्थ सहित कण्ठस्थ ज्ञान करा लेना चाहिए एव क्रमशः बीस वर्ष की दीक्षा पर्याय तक योग्य शिष्यों को सूत्रोक्त सभी आगमों की वाचना यथाक्रम से पूर्ण कराना चाहिए। मेधावी शिष्य अल्प समय में अधिक श्रुत अध्ययन कर सकता है ऐसा अनेक आगम पाठों से स्पष्ट होता है। देखे उद्दे॰-३, सूत्र-३, का अर्थ। विवेचन रूप परिशिष्ट। **(३७)** आचार्यादि दश की भाव युक्त वैयावृत्य करना। इनकी वैयावृत्य से महान् कर्मो की निर्जरा एव मुक्ति की प्राप्ति होती है।

प्रश्न-२ : पाँच व्यवहारों को सरल सुगम एव व्यवहारिक रीते किस तरह समझना ?

उत्तर- (१) आगमव्यवहारी :- ९ पूर्व से लेकर १४ पूर्व के ज्ञानी,

अवधिज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी और केवल ज्ञानी ये 'आगम व्यवहारी' कहे जाते हैं। **(२) श्रुतव्यवहारी–** जघन्य आचारा ग एव निशीथ सूत्र मूल, अर्थ, परमार्थ सहित क ठस्थ धारण करने वाले और उत्कृष्ट ९ पूर्व से कम श्रुत धारण करने वाले 'श्रुत व्यवहारी' कहे जाते हैं। **(३) आज्ञा व्यवहारी–** किसी आगम व्यवहारी या श्रुत व्यवहारी की आज्ञा प्राप्त होने पर उस आज्ञा के आधार से प्रायश्चित्त देने वाला 'आज्ञा व्यवहारी' कहा जाता है। **(४) धारणाव्यवहारी–** बहुश्रुतों ने श्रुतानुसारी प्रायश्चित्त की कुछ मर्यादा किसी योग्य भिक्षु को धारण करा दी हो उनको अच्छी तरह धारण करने वाला 'धारणा व्यवहारी' कहा जाता है। **(५) जीत व्यवहार–** जिन विषयों में कोई स्पष्ट सूत्र का आधार न हो उस विषय में बहुश्रुत भिक्षु सूत्र से अविरुद्ध और स यम पोषक प्रायश्चित्त की मर्यादाएं किसी योग्य भिक्षु को धारण करा दे उन्हें अच्छी तरह धारण करने वाला 'जीत व्यवहारी' कहा जाता है।

ज जीयमसोहिकर , पासत्थ पमत्त स जयाइण्ण ।
जइ वि महाजणाइण्ण , न तेण जीएण ववहारो ॥७२०॥

ज जीय सोहिकर , स वेगपरायणेन द तेण ।
एगेण वि आइन्न , तेण उ जीएण ववहारो ॥७२१॥ व्यव॰ भाष्य ॥

वैराग्यवान् एक भी दमितेन्द्रिय बहुश्रुत द्वारा जो सेवित हो वह जीतव्यवहार स यमशुद्धि करने वाला हो सकता है। किन्तु जो पार्श्वस्थ प्रमत्त एव अपवाद प्राप्त भिक्षु से आचीर्ण हो वह जीतव्यवहार अनेकों के द्वारा सेवित होने पर भी शुद्धि नहीं कर सकता है। अतः उस जीत व्यवहार से व्यवहार नहीं करना चाहिए।

सो जहकालादीण अपड़िक तस्स निव्विगईय तु ।
मुहण तगफिड़िय, पाणगअस वरेण, एवमादीसु ॥७०६॥व्य॰ भा॰॥

जो पच्चक्खाण काल या स्वाध्यायकाल आदि का प्रतिक्रमण नहीं करता है। मुख पर मुखवस्त्रिका के बिना रहता है अथवा बोलता है और पानी को नहीं ढ़ंकता है उसे नीवी का प्रायश्चित्त आता है, यह सब जीतव्यवहार है।

गाथा में आए 'मुहण तगफिड़िय' की टीका– मुख पोतिकाया स्फिटिताया , मुखपोतिकाम तरेणित्यर्थः ।

इन पाँच व्यवहारियों द्वारा दिया गया प्रायश्चित्त आगमव्यवहार यावत् जीतव्यवहार कहा जाता है।

इस सूत्र विधान का आशय यह है कि पहले कहा गया व्यवहार और व्यवहारी प्रमुख होता है। उसकी अनुपस्थिति में ही बाद में कहे गए व्यवहार और व्यवहारी को प्रमुखता दी जा सकती है। अर्थात् जिस विषय में श्रुतव्यवहार उपलब्ध हो उस विषय के निर्णय करने में धारणा या जीतव्यवहार को प्रमुख नहीं करना चाहिए। व्युत्क्रम से प्रमुखता देने में स्वार्थ भाव या राग, द्वेष आदि होते हैं, निष्पक्ष भाव नहीं रहता है। इसी आशय को सूचित करने के लिए सूत्र के अ तिम अ श में राग-द्वेष एव पक्षपात भाव से रहित होकर यथाक्रम से व्यवहार करने की प्रेरणा दी गई है। साथ ही सूत्र निर्दिष्ट क्रम से एव निष्पक्ष भाव से व्यवहार करने वाले को आराधक कहा गया है। अतः पक्षभाव से एव व्युत्क्रम से व्यवहार करने वाला विराधक होता है, यह स्पष्ट है।

व्यवहार शब्द का विस्तृत अर्थ करने पर यह भी फलित होता है कि स यमी जीवन से सम्बन्धित किसी भी व्यवहारिक विषय का निर्णय करना हो या कोई भी आगम से प्ररुपित तत्त्व से सम्बन्ध में उत्पन्न विवाद की स्थिति का निर्णय करना हो तो इसी क्रम से करना चाहिए अर्थात् यदि आगम व्यवहारी हो तो उनके निर्णय को स्वीकार करके विवाद को समाप्त कर देना चाहिए।

यदि आगम व्यवहारी न हो तो उपलब्ध श्रुत-आगम के आधार से जो निर्णय हो उसे स्वीकार करना चाहिए। सूत्र का प्रमाण उपलब्ध होने पर आज्ञा, धारणा या परम्परा को प्रमुख नहीं मानना चाहिए। क्यों कि आज्ञा, धारणा या परम्परा की अपेक्षा श्रुत व्यवहार प्रमुख है। वर्तमान में सर्वोपरी प्रमुख स्थान आगमों का है, उसके बाद व्याख्याओं एव ग्रन्थों का स्थान है तत्पश्चात् स्थविरों द्वारा धारित क ठस्थ धारणा या परम्परा का है। व्याख्याओं या ग्रन्थों में भी पूर्व-पूर्व के आचार्यो की रचना का प्रमुख स्थान है।

अतः वर्तमान में सर्वप्रथम निर्णायक शास्त्र हैं उससे विपरीत अर्थ को कहने वाले व्याख्या और ग्रन्थ का महत्त्व नहीं होता है। उसी प्रकार शास्त्र प्रमाण के उपलब्ध होने पर धारणा या परम्परा का भी कोई महत्त्व नहीं है। इसलिए शास्त्र ग्रन्थ, धारणा और परम्परा को भी

यथाक्रम विवेक पूर्वक प्रमुखता देकर किसी भी तत्त्व का निर्णय करना आराधना का हेतु है और किसी भी पक्षभाव के कारण व्युत्क्रम से निर्णय करना विराधना का हेतु है। अत: इस सूत्र के आशय को समझ कर निष्पक्ष भाव से आगम तत्वों का निर्णय करना चाहिए। भगवती सूत्र श.८, उद्दे.८ में तथा ठाणा ग अ.५ उ.२ में भी यह सूत्र है। सारा श यह है कि प्रायश्चित्तों का या अन्य तत्त्वों का निर्णय इन पाँच व्यवहारों द्वारा क्रमपूर्वक करना चाहिए, व्युत्क्रम से नहीं अर्थात् किसी विषय में आगम पाठ के होते हुए भी धारणा या परम्परा को प्रमुखता देकर आग्रह करना सर्वथा अनुचित समझना चाहिए।

एव जिस विषय में प्राचीन ग्रन्थों या व्याख्या ग्रन्थों का यदि प्रमाण हो जो आगम से अविरुद्ध हो उसकी अपेक्षा धारणा या परम्परा या व्यक्तिगत गच्छों के निर्णय को प्रमुखता देना भी अनुचित ही समझना चाहिए। इसलिए जिस विषय में आगम प्रमाण या अन्य प्रबल प्रमाण उपलब्ध हो तो वहाँ परम्परा या धारणा का अथवा व्यक्तिगत निर्णयों का आग्रह नहीं करना चाहिए।

कि तु स पूर्ण जैन समाज की एकता एव सुव्यवस्था के लिए किसी ग्रन्थ या व्याख्याओं की बात को गौण भी करना पड़े तो उसमें कोई दोष नहीं समझना चाहिए बशर्ते कि वह निर्णय या वह निर्णित पद्धति आगम आज्ञा से विरुद्ध न हो।

इस प्रकार स घ हितैषी ज्ञानी आत्माओं को निष्पक्ष भाव से विवेक पूर्वक आवश्यक तत्वों का निर्णय करना चाहिए यही इस सूत्र का प्रमुख आशय है। ***पाँच व्यवहारों का समझा मर्म।***

मिला उसे सच्चा जिन धर्म॥

॥ व्यवहार सूत्र परिशिष्ट स पूर्ण ॥

॥ चार छेद सूत्र स पूर्ण ॥

॥ सामान्य परिशिष्ट युक्त छेद सूत्र स पूर्ण ॥

विशिष्ट परिशिष्ट विभाग-१

छेद सूत्रों पर व्याख्याएँ अति विशाल है तद्नुसार ब्यावर से मधुकर मुनि जी की बत्तीसी के छेद सूत्रों में अनेक उपयोगी विवेचन दिये गये हैं। उन्ही विवेचन में से यहाँ अत्यावश्यक विषय उद्धृत करके निब ध के रूप में स पादित किये है। प्रमाण के लिये प्रत्येक निब ध पर आगम स्थल का निर्देश भी दिया गया है।

उन निब धों में अनेक प्रकीर्णक विषय होने से इनकी विषय सूची भी प्रार भ में दी गई है जिससे पाठक को विषय की एव स्थल की जानकारी हो सके। प्रार भ में प्रथम विभाग में हमने चारों छेद सूत्र के विवेच्य निब ध दिये हैं और दूसरे विभाग में मात्र निशीथ सूत्र से स ब धित विषयों का स कलन किया है।

विषयानुक्रमणिका

स घ व्यवस्था में अध्ययन-अध्यापन	पृष्ठ
१. साधु-साध्वी की अध्ययन प्रणाली।	१७०
२. वाचना या शिक्षा के अयोग्य।	१७३
३. योग्य अध्ययन के अभाव में चातुर्मास में विहार।	१७५
४. आचारा ग निशीथ का क ठस्थ होना अत्यावश्यक।	१७६
५. आगमों का अध्ययन क्रम।	१८०
६. वाचना देने के क्रम व्युत्क्रम की विचारणा।	१८२
७. आगम स ख्या निर्णय।	१८४

८. स्वाध्याय की अवश्य करणीयता एव प्रायश्चित्त ।	१८६
९. स्वाध्याय की प्रमुखता में एक भ्रा ति का निवारण ।	१८८
१०. अस्वाध्याय के आठ दिन और अमा त मान्यता ।	१८९
११. मासिक धर्म के अस्वाध्याय का विवेक ।	१९१
१२. अस्वाध्याय का मर्म एव विवेक ।	१९२
दीक्षा-दीक्षित एव दीक्षा गुरु	
१३. बड़ी दीक्षा देने सम्बन्धी विधान एव प्रायश्चित्त ।	१९४
१४. दीक्षार्थी एव दीक्षा गुरु के योग्यायोग्यता ।	१९६
प्रकीर्ण परिशिष्ट	
१५. चैत्य शब्द का अर्थ ।	१९९
१६. अनेक पात्र की कल्पनीयता ।	२००
१७. साधु-साध्वी की परस्पर सेवा आलोचना ।	२०१
१८. गीतार्थ बहुश्रुत के बिना रहने का निषेध ।	२०३
१९. सम्भोग विच्छेद कब ?	२०४
२०. वृद्धावस्था का एकल विहार ।	२०५
२१. अकेले भिक्षु का उपाश्रय ।	२०६
२२. साध्वी की स्वतन्त्र गोचरी ।	२०७
२३. गोचरी गमन विवेक ।	२०८
२४. क्षमापना भाव ।	२०८
२५. चन्द्र प्रतिमाओं के विशिष्ट नियम ।	२०९
२६. ऊणोदरी तप विश्लेषण ।	२१०

स घव्यवस्था में अध्ययन – अध्यापन

प्रकरण–१ : साधु साध्वी की अध्ययन प्रणाली– दीक्षा ग्रहण करते समय वैराग्य, क्षयोपशम आदि गुणों से सम्पन्न हो तो कोई भी आत्मा स यम धारण कर सकती है। उसे आगमज्ञान या जिनवाणी का विशाल अनुभव हो या न भी हो किन्तु स यम धारण करने के बाद आगम अध्ययन करना प्रत्येक साधक के लिये आवश्यक होता है। ऐसा आगम वर्णित अनेक जीवन चारित्रों से एव आगम विधानों से स्पष्ट होता है। यदि किसी का क्षयोपशम अति म द हो तो गुरु आज्ञा अनुसार किया जा सकता है।

बड़ी दीक्षा के पहले आवश्यक अध्ययन– दीक्षा देने के बाद नव दीक्षित को दशवैकालिक सूत्र के चार अध्ययनों के द्वारा पाँच महाव्रतों का एव छः काया का सूक्ष्मतम ज्ञान, श्रद्धान एव उनकी यतना करने की विधि का ज्ञान कराया जाता है। स यम की आवश्यक दैनिक क्रियाओं की विधि का भी सम्यग् बोध कराया जाता है ।

दीक्षा के पूर्व यदि आवश्यक सूत्र का अध्ययन न किया हो तो अर्थ सहित उसका अध्ययन कराया जाता है एव चिन्तन पूर्वक प्रतिक्रमण करना सिखाया जाता है। यह कार्य किसी एक प्रवर्तक या स्थविर के सुपुर्द किया जाता है। इतने अध्ययन के पूर्ण होने के बाद ही उसे बड़ी दीक्षा दी जाती है।

बड़ी दीक्षा के बाद आवश्यक अध्ययन– प्रार भिक अध्ययन के लिये उसे किसी योग्य प्रवर्तक के अधीनस्थ रखा जाता है जहाँ वह दशवैकालिक सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र एव अन्य तत्त्व ज्ञान आदि का अध्ययन करता है एव अनेक आत्म गुणों का विकास करता है।

इस अध्ययन के बाद योग्य बने साधुओं को उपाध्याय के सानिध्य में अ गसूत्र एव छेद सूत्रों का अध्ययन कराया जाता है।

आचार्य उपाध्याय द्वारा अध्ययन– उपाध्याय उन्हें सर्व प्रथम आचारा ग सूत्र के ब्रह्मचर्य अध्ययन रुप प्रथम श्रुतस्कन्ध की वाचना देकर मूल पाठ को शुद्ध उच्चारण युक्त क ठस्थ कराते हैं एव सामान्य शब्दार्थ

भी कराते हैं। तदनन्तर सम्पूर्ण आचारा ग सूत्र एव निशीथ सूत्र का अध्ययन कराते हैं। इस अध्ययन के साथ ही आचार्य उन शिष्यों को अर्थ एव विशेषार्थ युक्त वाचना देते हैं। इसके बाद उक्त विधि से आचार्य उपाध्याय सूत्रकृता ग सूत्र की वाचना देते हैं। फिर क्रमशः तीन छेद सूत्रों की वाचना देते हैं। इसके बाद ठाणा ग सूत्र, समवाया ग सूत्र एव भगवती सूत्र की वाचना देते हैं।

आगम अध्ययन का क्रम व्यवहार सूत्र उद्देशक १० में दिया गया है। वहाँ पर ज्ञाता सूत्र आदि छः अ ग सूत्रों का उल्लेख नहीं है तथापि क्रमशः उनका अध्ययन करना समझ लेना चाहिए, क्यों कि आगम में अनेक साधु-साध्वियों के लिये ग्यारह अ ग सूत्रों के अध्ययन करने का वर्णन है।

शेष उपाँग आदि सूत्रों की रचना, व्यवहार सूत्र की रचना के बाद में हुई है। अतः इस अध्ययन क्रम में उनके अध्ययन करने का निर्देश नहीं किया गया है तथापि छेद सूत्र तक के अध्ययन कर लेने के बाद कभी भी उनका अध्ययन करना समझ लेना चाहिये।

अध्ययन का दीक्षा पर्याय से सम्बन्ध– उपरोक्त अध्ययन के समय का निर्धारण भी व्यवहार सूत्र में किया है वह इस प्रकार है–

तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय तक आचारा ग निशीथ का अध्ययन पूर्ण कर लेना चाहिए। इसी तरह चार वर्ष की दीक्षा पर्याय तक सूत्रकृता ग, पाँच वर्ष की दीक्षा पर्याय तक तीन छेद सूत्र, आठ वर्ष तक ठाणा ग-समवाया ग एव दस वर्ष तक की दीक्षा पर्याय में भगवती सूत्र का अध्ययन पूर्ण कर लेना चाहिए। ग्यारह से अठारह वर्ष की दीक्षा पर्याय तक दृष्टिवाद मे उद्धृत अनेक अध्ययनों का ज्ञान किया जाता है एव अ त में उन्नीसवें वर्ष तक दृष्टिवाद का अध्ययन पूर्ण किया जाता है और बीस वर्ष पूर्ण होने तक सर्व श्रुत का अध्ययन कार्य पूर्ण हो जाना चाहिये।

यहाँ यह भी अर्थ भ्रम होता है कि 'तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय होने के बाद ही आचारा ग निशीथ का अध्ययन प्रार भ कराना चाहिये।' किन्तु यह अर्थ आगम सम्मत नहीं है, क्यों कि अनेक भिक्षुओं के अल्प दीक्षा पर्याय में ही बारह अ गों के अध्ययन का वर्णन है। एव तीन वर्ष वाले को उपाध्याय पद देने का व्यव॰ उद्दे॰३ में विधान है

और वहाँ उसका बहुश्रुत होना आवश्यक कहा गया है तथा कम से कम आचारा ग निशीथ को क ठस्थ धारण करने वाला होना आवश्यक बताया है।

वैसे ही पाँच वर्ष वाले को आचार्य पद देने के विधान के साथ उनका बहुश्रुत होना एव कम से कम आचरा ग, निशीथ, सूत्रकृता ग और तीन छेद सूत्र को क ठस्थ धारण करने वाला होना आवश्यक कहा गया है। अतः व्यव॰ उद्दे॰१० की कही गई अध्ययन सूची के अनुसार उतने वर्ष तक तो वह अध्ययन कर ही लेना चाहिये उससे अधिक समय नहीं लगना चाहिये किन्तु कम समय में कर लेने में कोई विरोध नहीं है। ऐसा ही उन सूत्रों का आशय समझना चाहिए।

वाचना सम्बन्धी प्रायश्चित्त– यह सम्पूर्ण अध्ययन प्रणाली आचार्य उपाध्याय के द्वारा वाचना दी जाने की अपेक्षा ही कही गई है। आचार्य उपाध्याय से अदत्त वाचना को ग्रहण करने पर अर्थात् स्वतः अध्ययन करने पर निशीथ उद्दे॰१९ के अनुसार वह प्रायश्चित्त का पात्र होता है। स्वतः अध्ययन करने वाले का जो अनुमोदन करता है वह भी प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

जो आचार्य, उपाध्याय योग्य शिष्यों को यथायोग्य क्रम से प्राप्त वाचना नहीं देते हैं। तो वे पदवीधर भी निशीथ उद्देशक १९ के अनुसार प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं। निशीथ सूत्र के १९वें उद्देशक में वाचना सम्बन्धी अन्य भी कई प्रायश्चित्त विधान है। जिसकी सूची अगले प्रकरण में दी गई है। वे प्रायश्चित्त वाचना देने के लिये नियुक्त उपाध्याय या आचार्य को आते हैं।

आगम क ठस्थ प्रणाली– व्यव॰ उद्दे॰५ में कहा गया है कि स्थविर के सिवाय कोई भी साधु या साध्वी यदि प्रमाद से आचारा ग निशीथ सूत्र को भूल जाए तो उन्हें कठोर दण्ड़ आता है अर्थात् वे जीवन भर कोई भी प्रमुख पद धारण नहीं कर सकते और कोई पद या प्रमुखता कर रहे हो तो उससे भी मुक्त कर दिये जाते हैं।

साध्वी को छेद सूत्र– इस व्यव॰ उद्दे॰५ के विधान में सूत्रों को क ठस्थ रखना आवश्यक बताया गया है तथा साध्वी को भी निशीथ सूत्र क ठस्थ होना आवश्यक कहा गया है।

अतः जो विद्वान यह कहते है कि 'साध्वी' को छेद सूत्रों का

अध्ययन नहीं करना चाहिये। वे स्पष्ट ही आगम विरुद्ध कथन करने के दोष के पात्र होते हैं।

आगम विपरीत प्ररुपणा या आदेश किसी भी बड़े आचार्य का हो तो भी स्वीकार करने योग्य नहीं हो सकता है।

प्रकरण-२ : वाचना के अयोग्य(बृह०उद्दे०४, सूत्र-१०, ११)

१. अविनीत- जो विनय रहित है, आचार्य या दीक्षा ज्येष्ठ साधु आदि के आने जाने पर अभ्युत्थान, सत्कार सम्मान आदि यथोचित विनय नहीं करता है, वह 'अविनीत' कहा गया है। **२. विकृति प्रतिबद्ध-** जो दूध, दही आदि रसों में गृद्ध है, उन रसों के नहीं मिलने पर सूत्रार्थ आदि के ग्रहण करने में मन्द उद्यमी रहता है, वह 'विकृति प्रतिबद्ध' कहा गया है। **३. अव्यपशमित प्राभृत-** अल्प अपराध करने पर जो अपराधी पर प्रचण्ड़ क्रोध करता है और क्षमायाचना कर लेने पर भी बार-बार उस पर क्रोध प्रकट करता रहता है, उसे 'अव्यपशमित प्राभृत' कहते हैं।

ये तीन प्रकार के साधु सूत्रवाचना, अर्थवाचना और उभयवाचना के अयोग्य हैं, क्यों कि विनय से ही विद्या की प्राप्ति होती हैं, अविनयी शिष्य को विद्या पढ़ाना निष्फल तो जाता ही है प्रत्युत कभी-कभी दुष्फल भी देता है।

जो दूध, दही आदि विकृतियों में आसक्त है, उसके हृदय में दी गई वाचना स्थिर नहीं रह सकती है। अतः उसे भी वाचना देना अयोग्य है।

जिसके स्वभाव में उग्रता है, कि चित भी अपराध हो जाने पर जो अपराधी पर भारी रोष प्रकट करता है, क्षमा मा ग लेने पर भी बार-बार दोहराता है, ऐसे व्यक्ति को भी वाचना देना अयोग्य होता है। ऐसे व्यक्ति से लोग इस जन्म में भी स्नेह करना छोड़ देते हैं और परभव के लिए भी वह तीव्र वैरानुबन्ध करता है। इसलिए उक्त तीनों ही प्रकार के शिष्य सूत्र, अर्थ या दोनों की वाचना के लिए अयोग्य कहे गये हैं।

किन्तु जो विनय सम्पन्न है। दूध, दही आदि विगयों के सेवन में जिनकी आसक्ति नहीं है और जो क्षमाशील है, ऐसे शिष्यों को ही सूत्र की, उसके अर्थ की तथा दोनों की वाचना देना चाहिए, क्यों कि

उनको दी गई वाचना श्रुत का विस्तार करती है, ग्रहण करने वाले का इहलोक और परलोक सुधारती है और जिन शासन की प्रभावना करती है। सूत्रोक्त दोष वाला भिक्षु स यम आराधना के भी अयोग्य होता है। उसे दीक्षा भी नहीं दी जा सकती है दीक्षा देने के बाद इन अवगुणों के ज्ञात होने पर उसे वाचना के लिए उपाध्याय के पास नहीं रखना चाहिए किन्तु प्रवर्तक एव स्थविर के नेतृत्व में अन्य अध्ययन शिक्षाएँ एव आचार विधी का ज्ञान कराना चाहिए। ऐसा करने पर यदि उसे उक्त योग्यता प्राप्त हो जाए तो वाचना के लिए उपाध्याय के पास रखा जा सकता है। योग्य न बनने पर वह सदा अगीतार्थ रहता है और दूसरों के अनुशासन में रहते हुए स यम का पालन करता है।

जो गच्छ प्रमुख इस सूत्रोक्त विधी का पालन न करते हुए योग्य-अयोग्य के निर्णय किए बिना सभी को इच्छित वाचना देते हैं। उपाध्याय आदि वाचना देने वाले की नियुक्ति नहीं करते हैं अथवा उनके प्रति विनय प्रतिपत्ति आदि के पालन की व्यवस्था भी नहीं करते हैं। तो इस प्रकार वाचना सम्बन्धी सूत्र-विधानों का यथार्थ पालन नहीं करने से वे गच्छ प्रमुख निशीथ उद्दे०१९ के अनुसार प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं। वे प्रायश्चित्त इस प्रकार हैं-**१.** आगम निर्दिष्ट क्रम से वाचना न दे किन्तु स्वेच्छानुसार किसी भी सूत्र की वाचना दे या दिलवाए। **२.** आचारा ग सूत्र की वाचना दिए बिना छेद सूत्रों की वाचना दे या दिलवावे।**३.** अविनीत या अयोग्य साधुओं को कालिक श्रुत की वाचना दे।**४.** विनयवान योग्य साधुओं को यथासमय वाचना देने का ध्यान न रखे।**५.** विगयों का त्याग नहीं करने वाले एव कलह को उपशा त नहीं करने वाले को वाचना दे।**६.** सोलह वर्ष से कम उम्र वाले को कालिक श्रुत(अ ग सूत्र या छेद सूत्र) की वाचना दे। **७.** समान योग्यता वाले साधुओं में से किसी को वाचना दे, किसी को न दे।**८.** स्वगच्छ के या अन्य गच्छ के शिथिलाचारी साधु को वाचना दे।**९.** मिथ्यामत से भावित गृहस्थ को वाचना दे या उसे वाचना लेने वालों में बिठावे तो उनको लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है। गच्छ प्रमुखों को इन अध्ययन सम्बन्धी नियमों का यथार्थ रूप से पालन करना चाहिये। यदि पालन न हो तो उन्हें इनका सूत्रोक्त प्रायश्चित्त स्वतः स्वीकार करना चाहिये।

शिक्षा के अयोग्य– १. दुष्ट– जो शास्त्र की प्ररूपणा करने वाले गुरु आदि से द्वेष रखे अथवा यथार्थ प्रतिपादन किये जाने वाले तत्त्व के प्रति द्वेष रखे, उसे 'दुष्ट' कहते हैं। **२. मूढ़–** गुण अवगुण के विवेक से रहित व्यक्ति को 'मूढ़' कहते हैं। **३. व्युद्ग्राहित–** विपरीत श्रद्धा वाले अत्यन्त कदाग्रही पुरुष को 'व्युद्ग्राहित' कहते हैं।

ये तीनों ही प्रकार के साधु दुःस ज्ञाप्य हैं अर्थात् इनको समझाना बहुत कठिन है, समझाने पर भी ये नहीं समझते हैं, इन्हें शिक्षा देने या समझाने से भी कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है । अतः ये सूत्र वाचना के पूर्ण अयोग्य होते हैं।

किन्तु जो द्वेषभाव से रहित हैं, हित-अहित के विवेक से युक्त है और विपरीत श्रद्धा वाले या कदाग्रही नहीं हैं वे शिक्षा देने के योग्य होते हैं। ऐसे व्यक्तियों को ही श्रुत एव अर्थ की वाचना देनी चाहिए। क्यों कि ये प्रतिपादित तत्व को सरलता से या सुगमता से ग्रहण करते हैं।

प्रकरण–३ : योग्य अध्ययन के अभाव में चातुर्मास में विहार(उद्दे॰४, सूत्र–११, १२) विचरण या चातुर्मास करने वाले भिक्षुओं में एक कल्पाक अर्थात् सि घाड़ा प्रमुख होना आवश्यक है। जिसको उद्देशक–३, सू॰ १ में गणधारण करने वाला अर्थात् गणधर कहा गया है तथा उसे श्रुत एव दीक्षापर्याय सम्पन्न होना आवश्यक कहा गया है।

अतः तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय और आचारा ग सूत्र एव निशीथ सूत्र को अर्थ सहित कण्ठस्थ धारण करने वाला जघन्य बहुश्रुत गण धारण कर सकता है। शेष भिक्षु उसको प्रमुख मानकर उसकी आज्ञा में रहते हैं। उस प्रमुख के सिवाय उस स घाटक में अन्य भी एक या अनेक स घाड़ा प्रमुख होने के योग्य हो सकते हैं अर्थात् वे तीन वर्ष से अधिक दीक्षापर्याय वाले एव पर्याप्त श्रुत धारण करने वाले हो सकते हैं। कभी एक प्रमुख के अतिरिक्त सभी साधु अगीतार्थ या नव दीक्षित ही हो सकते हैं।

विचरण या चार्तुमास करने वाले स घाटक का प्रमुख भिक्षु यदि कालधर्म को प्राप्त हो जाय तो शेष साधुओं में से रत्नाधिक भिक्षु प्रमुख पद स्वीकार करे। यदि वह श्रुत से सम्पन्न न हो तो अन्य योग्य को प्रमुख पद पर स्थापित करे।

यदि शेष रहे साधुओं में एक भी प्रमुख होने योग्य न हो तो उन्हें चातुर्मास रहना या विचरण करना नहीं कल्पता है किन्तु जिस दिशा में अन्य योग्य साधर्मिक भिक्षु निकट हो उनके सानिध्य में पहुँच जाना चाहिये। ऐसी स्थिति में चातुर्मास में भी विहार करना आवश्यक हो जाता है तथा कहीं अधिक रुकने की स्वीकृति दे दी हो तो भी वहाँ से विहार करना आवश्यक हो जाता है।

जब तक अन्य साधर्मिक भिक्षुओं के पास न पहुँचे तब तक मार्ग में उन्हें एक दिन की विरा ति लेने के अतिरिक्त कहीं पर भी अधिक रुकना नहीं कल्पता है। किसी को कोई शारीरिक व्याधि हो जाय तो उपचार के लिए अधिक ठहरा जा सकता है। व्याधि समाप्त होने के बाद वैद्य आदि के कहने से १–२ दिन और भी ठहर सकता है। स्वस्थ होने के बाद दो दिन से अधिक ठहरने पर उसे यथा योग्य तप या छेद का प्रायश्चित्त आता है।

इन सूत्रों के प्रतिपाद्य विषय का सार यह है कि दीक्षा लेने के बाद योग्य शिष्यों को आवश्यक श्रुत ज्ञान का अध्ययन(आचार प्रकल्प आदि को) शीघ्र अर्थ सहित क ठस्थ धारण कर लेना चाहिये। क्यों कि उसके अपूर्ण रहने पर वह भिक्षुगण(स घाटक) का प्रमुख नहीं हो सकता एव प्रमुख के कालधर्म प्राप्त हो जाने पर चातुर्मास में भी उसे विहार करना आवश्यक हो जाता है। किन्तु यदि उक्त श्रुत पूर्ण कर लिया हो तो वह भिक्षु कभी भी सूत्रोक्त प्रमुख पद धारण कर सकता है। स्वत त्र विचरण एव चातुर्मास भी कर सकता है। इसलिये प्रत्येक साधु-साध्वी को दीक्षा के बाद कुछ वर्षो तक आगमोक्त क्रम से श्रुत अध्ययन कण्ठस्थ करने का प्रमुख लक्ष्य रखना चाहिए।

प्रकरण–४ :

आचारा ग-निशीथ का क ठस्थ होना अत्यावश्यक

(बृह॰ उद्दे॰-५, सूत्र-१५, १६) :– तीसरे उद्देशक के तीसरे सूत्र में तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय वाले श्रमण को 'आचारप्रकल्प' कण्ठस्थ धारण करने का कहा गया है और पाँचवे उद्देशक के इन सूत्रों में प्रत्येक श्रमण-श्रमणी को आचार प्रकल्प कण्ठस्थ रखना आवश्यक कहा गया है। साथ ही गच्छ के प्रमुख श्रमणों का यह कर्तव्य बताया गया है कि वे समय-समय पर यह जाँच भी करते रहें कि किसी श्रमण को

आचारप्रकल्प विस्मृत तो नहीं हो रहा है ? यदि विस्मृत हुआ है तो उसके कारण की जानकारी करनी चाहिए।

सूत्र में यह भी कहा गया है कि आचारप्रकल्प का भूलने वाला श्रमण या श्रमणी यदि नवदीक्षित है, बालवय या तरुणवय वाला है तो उसे सूत्रोक्त प्रायश्चित्त आता है। वह प्रायश्चित्त दो प्रकार का हैं यथा- **(१)** सकारण भूलने पर पुनः कण्ठस्थ करने तक वह किसी पदवी को धारण नहीं कर सकता है तथा सि घाड़ा प्रमुख बन कर विचरण भी नहीं कर सकता। **(२)** प्रमादवश भूल जाय तो वह जीवन पर्यन्त किसी पदवी को धारण नहीं कर सकता तथा सि घाड़ा-प्रमुख बनकर विचरण भी नहीं कर सकता।

'आचारप्रकल्प' से यहाँ आचारा ग और निशीथ सूत्र का निर्देश किया गया है। इस सम्बन्धी विस्तृत व्याख्या पहले की जा चुकी है।

उद्देशक तीन और पाँच के इन सूत्र-विधानों में आचारप्रकल्प का जो महत्व बताया गया है उसे लक्ष्य में रखकर एव अनुप्रेक्षा करके यदि उसकी रचना के विषय में निर्णय किया जाय तो सहज ही यह निर्णय हो जाता है कि इस व्यवहार सूत्र के रचयिता स्थविर प्रथम भद्रभबाहु स्वामी ने या उनके बाद के किसी स्थविर ने 'आचारप्रकल्प' की रचना नहीं की है किन्तु यह गणधर रचित है और प्रार भ से ही जिन शासन के सभी साधु-साध्वियों को आवश्यक रूप में अध्ययन कराया जाने वाला शास्त्र है। वर्तमान में यह शास्त्र आचारा ग निशीथ उभय सूत्रों का सूचक है।

दशाश्रुतस्क ध के निर्युक्तिकार ने निर्युक्ति की प्रथम गाथा में ही स्थविर श्री प्राचीन भद्रबाहु स्वामी को व दन नमस्कार करते हुए उन्हें 'तीन छेदसूत्रों (दशाश्रुत स्कन्ध, बृहत्कल्प और व्यवहार सूत्र) की रचना करने वाले' ऐसे विशेषण से विभूषित किया है और श्री भद्रबाहु स्वामीने अपने द्वारा रचित(निर्युढ़) इस व्यवहारसूत्र में सौलह बार आचार-प्रकल्प का निर्देश करते हुए अनेक प्रकार के विधान किए हैं।

इतना होते हुए भी ऐतिहासिक भ्रांतियों के कारण वर्तमान के इतिहासज्ञ इस सूत्र के रचनाकार और उनके समय के विषय में अपने स दिग्ध विचार प्रस्तुत करते हैं, यह अत्य त खेद का विषय है। इस भ्रम का कारण यह है कि हमारे चिंतक इतिहास एव ग्र थों के पृष्टों को पलटते है आगम के सूत्रों पर परामर्श नहीं करते हैं।

आचारप्रकल्प सम्बन्धी व्यवहार सूत्र के विधानों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अध्ययन व्यवस्था में आचारा ग-निशीथ सूत्र को अर्थ-परमार्थ सहित क ठस्थ करना प्रत्येक साधु-साध्वी के लिए अत्यन्त आवश्यक है तथा स्वाध्याय आदि के द्वारा उसे क ठस्थ रखना भी आवश्यक है। जो कोई भी श्रमण या श्रमणी इसके अध्ययन की योग्यता वाले नहीं होते हैं या इसका अध्ययन नहीं करते है अथवा अध्ययन करने के बाद उसका स्वाध्याय न करके विस्मृत कर देते हैं, वे श्रमण या श्रमणी जिन शासन के किसी भी पद को ग्रहण करने के या पूर्व ग्रहीत को धारण करने के अयोग्य होते हैं अर्थात् उन्हें कोई भी पद नहीं दिया जा सकता है और पहले से किसी पद पर हो तो उन्हें पद से हटा दिया जाता है। वे सि घाड़ा प्रमुख बनकर भी विचरण करने का अधिकार नहीं रखते हैं तथा किसी भी प्रकार की गण व्युत्सर्ग साधना अर्थात् एकल विहार, स भोग प्रत्याख्यान आदि साधानाएं भी वे नहीं कर सकते हैं।

आचारप्रकल्प का धारक भिक्षु ही जघन्य गीतार्थ बहुश्रुत कहा गया है। वही स्वत त्र विहार या गोचरी के योग्य होता है। अबहुश्रुत अगीतार्थ की गवेषणा से प्राप्त पदार्थों के उपयोग करने का भी भाष्य में निषेध किया गया है एव प्रायश्चित्त कहा गया है।

वर्तमान में पूर्वो का ज्ञान विच्छेद मानना तो आगमसम्मत है किन्तु अन्य सूत्रों का विच्छेद होना नहीं कहा जा सकता है।

अतः क्षेत्र या काल की ओट लेकर इन व्यवहार सूत्र कथित विधानों के आचरण का विच्छेद मानना सर्वथा अनुचित है। क्यों कि वर्तमान में दीक्षित होने वाले अनेक नवयुवक श्रमण-श्रमणियों को यदि योग्य अध्यापन कराने वाले मिले तो वे तीन वर्ष में इतना अध्ययन क ठस्थ बड़ी सरलता से कर सकते हैं। किन्तु अत्यन्त खेद के साथ यह कहना पड़ता है कि अध्ययन के क्षेत्र में उदासीनता के कारण विद्यमान लगभग दस हजार(१००००) जैन साधु-साध्वियों में से केवल दस साधु-साध्विया भी इस आचारप्रकल्प को अर्थ सहित क ठस्थ धारण करने वाले नहीं हैं। फिर भी समाज में अनेक आचार्य-उपाध्याय बने हुए हैं और अनेक उक्त पदों की प्राप्ति के लिये लालायित रहने वाले भी हैं। स घाड़ा प्रमुख बनकर विचरण करने वाले भी अनेक साधु-साध्वी

हैं और वे स्वय को आगमानुसार विचरण करने वाले भी मानते हैं। किन्तु आगमानुसार अध्ययन, विचरण तथा गच्छ के पदों की व्यवस्था किस प्रकार करनी चाहिए यह छेद सूत्रों के विवेचन से सरलता-पूर्वक जानने एव पालन करने का वे प्रयत्न नहीं करते हैं । यह आगम विधानों की उपेक्षा करना ही है ऐसा कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

अतः वर्तमान के पदवीधरों और गच्छ प्रमुखो को अवश्य ही इस ओर ध्यान देकर आगम की अध्ययन प्रणाली को अविछिन्न बनाये रखना चाहिए अर्थात् प्रत्येक नवदीक्षित युवक सन्त-सती को उचित व्यवस्था के साथ कम से कम तीन या पाँच-दस वर्ष तक आगमअध्ययन एव आत्म जागृतियुक्त स यम-पालन में पूर्ण योग्य बनाना चाहिए। यह प्रत्येक पदवीधर का, गच्छ प्रमुख का और गुरु का परम कर्तव्य है। ऐसा करने से ही वे शिष्यों के उपकारक हो सकते हैं।

दशा॰ द॰ ५ में भी आचार्यादि के लिये शिष्य के प्रति ऐसे ही कर्तव्यों का कथन करके उनके ऋण से उऋण होना कहा गया है, जिसका विवेचन वहीं पर देखें। वर्तमान में ऐसा न करने वाले ये अनेक पदवीधर क्या अपने कर्तव्यों के प्रति सजग हैं ? एव जिनशासन के प्रति कृतज्ञ है ? अथवा पदों के द्वारा केवल प्रतिष्ठा प्राप्त करके आत्म सन्तुष्ठि करने वाले हैं ? यह विचारणीय विषय है।

इस विषय में गहरा विचार करके जिन शासन के प्रति कर्तव्यनिष्ठा रखने वाले आत्मार्थी साधकों को आगमानुसार अध्ययन अध्यापन एव पद प्रदान करने की व्यवस्था करनी चाहिए एव विकृत पर परा को आगमानुसार बनाने में प्रयत्नशील होना चाहिए।

वर्तमान में यह मान्यता भी प्रचलित है कि- 'आचारा ग एव निशीथ सूत्र का यदि गुरुमुख से एक बार वाचनश्रवण कर लिया तो प्रमुख बनकर विचरण या पदवी धारण किया जा सकता है और ऐसा करने पर सूत्राज्ञा का पालन हो जाता है ।' किन्तु इन दो सूत्रों में किये गए विधानों को गहराई से समझने पर उपर्युक्त धारणा केवल स्वमतिकल्पित कल्पना मात्र सिद्ध होती है। क्यों कि इन सूत्रों में आचारप्रकल्प के विस्मृत होने आदि के विधान से प्रत्येक साधु-साध्वी को क ठस्थ धारण करना ही सिद्ध होता है।

कई आचार्यों की यह भी मान्यता है कि- 'साध्वी को निशीथ

सूत्र का अध्ययन अध्यापन आर्यरक्षित के द्वारा निषिद्ध है', यह भी आगम विपरीत कल्पना है। क्यों कि प्रस्तुत सोलहवें सूत्र में साध्वी को आचारप्रकल्प के क ठस्थ रखने का स्पष्ट विधान है। आगमविधानों से विपरीत आज्ञा देकर पर परा चलाने का अधिकार किसी भी आचार्य को नहीं होता है और साढ़े नवपूर्वी आर्य रक्षित स्वामी ऐसी आज्ञा दे भी नहीं सकते है। फिर भी इतिहास के नाम से ऐसी कई अस गत कल्पनाएँ प्रचलित हो जाती है। सूज्ञजनों को कल्पित कल्पनाओं से सावधान रहकर सूत्राज्ञा को प्रमुखता देनी चाहिए।

प्रकरण-५ : आगमों का अध्ययन क्रम

(व्यव॰ सूत्र, उद्दे॰-१०, सूत्र : २२-३७) :- सूत्रोक्त यह अध्ययन क्रम इस सूत्र के रचियता श्री भद्रबाहु स्वामी के समय उपलब्ध सूत्रों के अनुसार है। उसके बाद में रचित एव निर्यूढ़ सूत्रों का इस अध्ययन क्रम में उल्लेख नहीं है। अतः उववाई आदि १२ उपाँग सूत्र एव मूल सूत्रों के अध्ययन क्रम की यहाँ विवक्षा नहीं की गई है। फिर भी आचारशास्त्र के अध्ययन कर लेने पर अर्थात् छेद सूत्रों के अध्ययन के बाद और ठाणा ग समवाया ग भगवती सूत्र के अध्ययन के पहले या पीछे कभी भी उन शेष सूत्रों का अध्ययन करना समझ लेना चाहिए।

आवश्यक सूत्र का अध्ययन तो उपस्थापना के पूर्व ही किया जाता है तथा निशीथ उद्दे॰ १९ के भाष्य में आचारा ग व निशीथ के पूर्व दशवैकालिक और उत्तराध्ययन सूत्र के अध्ययन करने का निर्देश किया गया है।

इन सूत्रों में जो तीन वर्ष पर्याय आदि का कथन किया गया है उसका अर्थ इस प्रकार है- तीन वर्षो के दीक्षापर्याय में योग्य भिक्षु को कम से कम उन आगमों का अध्ययन कर लेना चाहिए या करा देना चाहिए। तीन वर्ष के बाद आचारा ग निशीथ पढ़ाना ऐसा अर्थ करना अस गत है क्यों कि तीन वर्ष वाले को उपाध्याय पद देने के प्रकरण में कम से कम आचारा ग निशीथ को क ठस्थ धारण करने वाला कहा गया है।

दस वर्ष की दीक्षा पर्याय के बाद में अध्ययन करने के लिए कहे गए सूत्रों में से प्रायः सभी सूत्र न दीसूत्र की रचना के समय में कालिक श्रुत में उपलब्ध थे। किन्तु वर्तमान में उनमें से कोई भी सूत्र

उपलब्ध नहीं है। केवल 'तेयनिसर्ग' नामक अध्ययन भगवती सूत्र के पन्द्रहवें शतक के रूप में उपलब्ध है।

ज्ञातासूत्र आदि अ गसूत्रों का प्रस्तुत अध्ययन क्रम में निर्देश नहीं किया गया है इसका कारण यह है कि इन सूत्रों में प्रायः धर्मकथा का वर्णन है जिनके क्रम की कोई आवश्यकता नहीं रहती है। यथावसर कभी भी इनका अध्ययन किया या कराया जा सकता है।

प्रश्न व्याकरण में उपलब्ध आश्रव-स वर का वर्णन उस प्राचीन शास्त्र का अध्ययन विशेष समझना चाहिये ।

इन सूत्रों में सूचित किये गये आगमों के नाम इस प्रकार है :– (१–२) आचरा ग सूत्र एव निशीथ सूत्र, (३) सूयगड़ांग सूत्र, (४–५–६) दशाश्रुत स्कन्ध सूत्र, बृहत्कल्प सूत्र और व्यवहार सूत्र, (७–८) ठाणा ग सूत्र, समवाया ग सूत्र, (९) भगवती सूत्र, (१०–१४) क्षुल्लिका विमान प्रविभक्ति, महल्लिका विमान प्रविभक्ति, अ गचूलिका, वर्ग चूलिका, व्याख्या चूलिका, (१५–२०) अरूणोपपात, वरुणोपपात, गरूड़ोपपात, धरणोपपात, वैश्रमणोपपात वेलन्धरोपपात, (२१–२४) उत्थानश्रुत, समुत्थानश्रुत, देवेन्द्र परियापनिका नागपरियापनिका, (२५) स्वप्न भावना अध्ययन (२६) चारण भावना अध्ययन, (२७) तेजनिसर्ग अध्ययन (२८) आशीविष भावना अध्ययन, (२९) दृष्टिविष भावना अध्ययन, (३०) दृष्टिवाद अ ग।

सूत्रांक १०–२९ तक में कहे गये आगम दृष्टिवाद नामक अ ग के ही अध्ययन थे अथवा उससे अलग निर्यूढ़ किये सूत्र थे। इन सभी का नाम न दी सूत्र में कालिक श्रुत की सूची में दिया गया है। इसमें से दस सूत्रों को ठाणा ग में स क्षेपिक दशा सूत्र के दस अध्ययन के रूप में कहा गया है। यथा- क्षुल्लिका विमान प्रविभक्ति आदि।

इन सूत्रों के अन्त में यह बताया गया है कि बीस वर्ष की दीक्षा पर्याय तक स पूर्ण श्रुत का अध्ययन कर लेना चाहिए। तदनुसार वर्तमान में भी प्रत्येक योग्य भिक्षु को उपलब्ध सभी आगमश्रुत का अध्ययन बीस वर्ष में परिपूर्ण कर लेना चाहिए। उसके बाद प्रवचन प्रभावना करनी चाहिए अथवा निवृतिमय साधना में रहकर स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग आदि में लीन रहते हुए आत्मसाधना करनी चाहिए।

उपरोक्त आगमों की वाचना, योग्य शिष्यों को ही देनी चाहिए

एव यथाक्रम से ही देनी चाहिए। इत्यादि विस्तृत वर्णन यहाँ अन्य परिशिष्ट में देखें।

प्रकरण-६ : वाचना देने के क्रम व्युत्क्रम की विचारणा (निशीथ-उद्दे॰ १९, सूत्र : १६-१७) :– आगम, श्रुतस्कन्ध, अध्ययन, उद्देशक आदि जो भी अनुक्रम से पहले वाचना देने के हैं उनकी वाचना पहले दी जाती है और जिनकी वाचना बाद में देने की है उनकी वाचना बाद में दी जाती है। यथा- (१) आचारा ग सूत्र की वाचना पहले दी जाती है और सयूगड़ांगसूत्र की वाचना बाद में दी जाती है। (२) प्रथम श्रुत स्कन्ध की वाचना पहले दी जाती है और द्वितीय श्रुतस्कन्ध की वाचना बाद में दी जाती है। (३) प्रथम अध्ययन की एव उसमें भी प्रथम उद्देशक की वाचना पहले दी जाती है और आगे के अध्ययन उद्देशकों की वाचना बाद में दी जाती है।

चूर्णिकार ने यहाँ बताया है कि दशवैकालिक की अपेक्षा आवश्यक सूत्र प्रथम वाचना सूत्र है, उत्तराध्ययन सूत्र की अपेक्षा दशवैकालिक सूत्र प्रथम वाचना सूत्र है। आवश्यक सूत्र में भी सामायिक अध्ययन प्रथम वाचना योग्य है, शेष अध्ययन क्रम से पश्चात् वाचना योग्य है।

व्यव॰ उद्दे॰ १० में कालिक सूत्रों की वाचना का क्रम दिया है तथा साथ ही दीक्षा पर्याय का सम्बन्ध भी बताया गया है। उस क्रम में उत्कालिक श्रुत एव ज्ञाता धर्म-कथा आदि अ गों का उल्लेख नहीं है। आचारशास्त्र एव स ग्रह शास्त्रों का ही क्रम दिया है। अतः कथा या तपोमय स यमी जीवन के वर्णन वाले ज्ञातादि कालिक सूत्र एव उववाई आदि उत्कालिक सूत्रों का कोई निश्चित्त क्रम नहीं है ऐसा समझना चाहिए तथा कितने ही सूत्रों की रचना-स कलना भी व्यवहार सूत्र की रचना के बाद में हुई है। जिससे उनका अध्ययन क्रम वहाँ नहीं है। अतः गीतार्थ मुनि उनकी वाचना योग्य अवसर देखकर कभी भी दे सकते हैं। प्रस्तुत सूत्रगत प्रायश्चित्त व्यवहार सूत्र में कहे गए अनुक्रम की अपेक्षा उत्क्रम करने पर समझना चाहिए।

आवश्यक सूत्र, दशवैकालिक सूत्र एव उत्तराध्ययन सूत्र का उपर्युक्त क्रम जो चूर्णिकार ने बताया है उसे आचरा ग के पूर्व का क्रम ही समझना चाहिए।

आचारा ग प्रथम श्रुतस्कन्ध के नव अध्ययनों में स यम में दृढ़ता,

वैराग्य एव श्रद्धा, परीषहजय आदि के विचारों को प्रोत्साहन देने वाले उपदेश का वर्णन है। ब्रह्मचर्य, स यम का ही एक पर्यायवाची शब्द है अथवा वह स यम का मुख्य अ ग है। इसलिए प्रथम स्कन्ध का 'नव ब भचेर' नाम प्रसिद्ध है। एक देश से सम्पूर्ण का ग्रहण हो जाता है। अतः चूर्णिकार ने कहा है–**'नव ब भचेर गहणेण सव्वो आयारो गहितो अहवा सव्वो चरणाणुओगो'** अर्थात् नव-बह्मचर्य के कथन से सम्पूर्ण आचारा ग सूत्र अथवा सम्पूर्ण चरणानुयोग(आचार शास्त्र) ग्रहण कर लेना चाहिए।

'उत्तम श्रुत' शब्द से छेदसूत्र तथा दृष्टिवाद सूत्र का निर्देश भाष्य गा. ६१८४ में किया गया है। उत्सर्ग और अपवाद के कल्पों का तथा प्रायश्चित्त एव स घ-व्यवस्था का वर्णन होने से छेद सूत्रों को 'उत्तम श्रुत' की स ज्ञा दी गई है।

चारों अनुयोगों का तथा नय और प्रमाण आदि से द्रव्यों का सूक्ष्मतम वर्णन होने तथा अत्यन्त विशाल होने से दृष्टिवाद को भी उत्तम श्रुत कहा जाता है। इस सूत्र का सार यह है कि सम्पूर्ण आचारा ग सूत्र को मूल एव अर्थ की वचाना पूर्ण किए बिना छेद सूत्रों की वाचना नहीं देना अथवा सम्पूर्ण आचार शास्त्रों की वाचना दिये बिना द्रव्यानुयोग एव दृष्टिवाद की वाचना नहीं देना चाहिए इससे यह फलित होता है कि स यम जीवन में आचार शास्त्रों के अध्ययन को प्राथमिकता देनी चाहिए।

व्युत्क्रम से वाचना देने में होने वाले दोष :– १. पूर्व के विषय को समझे बिना आगे का विषय समझ में नहीं आना, २. उत्सर्ग अपवाद का विपरीत परिणमन होना, ३. आगे का अध्ययन करने के बाद पूर्व का अध्ययन नहीं करना, ४. पूर्ण योग्यता बिना बहुश्रुत आदि कहलाना, इत्यादि। अतः आगमोक्त क्रम से ही सभी सूत्रों की वाचना देनी चाहिए।

इन सूत्रों में तथा आगे भी आने वाले सूत्रों में, वाचना देने वाले को ही प्रायश्चित्त कहा है, वाचना ग्रहण करने वाले के प्रायश्चित्त का यहाँ विधान नहीं है। इसका कारण यह है कि यह वाचना देने वाले की जिम्मेदारी का ही विषय है कि किसे क्या वाचना देना ?

सूत्रों में अर्थ का अध्ययन कराने के लिए 'वाचना' शब्द का प्रयोग किया गया है और मूल आगम का अध्ययन कराने के लिए 'उद्देश, समुद्देश' शब्दों का प्रयोग किया गया है। किन्तु यहाँ अलग-अलग

सूत्र न होने से स क्षेप में वाचना सूत्र से मूल एव अर्थ दोनों ही प्रकार की वाचना विषयक यह प्रायश्चित्त है ऐसा समझ लेना चाहिए।

इन दोनों सूत्रों से एव इनके विवेचन से वाचना का क्रम निम्न प्रकार से समझ लेना चाहिए– १. आवश्यक सूत्र, २. दशवैकालिक सूत्र, ३. उत्तराध्ययन सूत्र, ४. आचरा ग सूत्र, ५. निशीथ सूत्र, ६. सूयगड़ा ग सूत्र, ७. तीन छेद सूत्र(दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र, बृहत्कल्प सूत्र, व्यवहार सूत्र), ८. ठाणा ग सूत्र, समवाया ग सूत्र, ९. भगवती सूत्र।

शेष कालिक या उत्कालिक सूत्र इस अध्ययन क्रम के मध्य में या बाद में कहीं भी गीतार्थ बहुश्रुत मुनि की आज्ञा से अध्ययन करना या कराना चाहिए। इस क्रम से ही मूल और अर्थरूप आगम को क ठस्थ करने की आगम प्रणाली समझनी चाहिए।

प्रकरण-७ : आगम स ख्या निर्णय

(निशीथ-उद्दे.-१९, सूत्र-१९) :– उपलब्ध ३२ आगमों में ९ सूत्र उत्कालिक हैं यथा– १. उववाई सूत्र, २. रायप्पसेणिय सूत्र, ३. जीवाजीवाभिगम सूत्र, ४. प्रज्ञापना सूत्र, ५. सूर्य प्रज्ञप्ति सूत्र, ६. दशवैकालिक सूत्र, ७. नन्दी सूत्र, ८. अनुयोगद्वार सूत्र, ९. आवश्यक सूत्र। शेष ग्यारह अङ्ग आदि २३ आगम कालिक सूत्र हैं।

नन्दी सूत्र में २९ उत्कालिक सूत्रों के नाम हैं और ४२ कालिक सूत्रों के नाम हैं। आवश्यक सूत्र मिलाने से कुल ७२ सूत्र होते हैं।

आवश्यक सूत्र को अनुयोगद्वार सूत्र में उत्कालिक सूत्र कहा है। नन्दी सूत्र में १२ उपाँग सूत्रों में से ५ को उत्कालिक, सात को कालिक कहा है तथा चन्द्रप्रज्ञप्ति एव सूर्य प्रज्ञप्ति में से भी क्रमशः एक को कालिक और एक को उत्कालिक कहा है। अतः इन वर्णनों के आधार से तो कोई परिभाषा कालिक उत्कालिक की निश्चित्त नहीं की जा सकती है। फिर भी निम्न परिभाषा फलित होती है।

गणधरों द्वारा रचित आगम तो कालिक ही होते हैं और दृष्टिवाद आदि अङ्ग सूत्रों में से भाषा परिवर्तन के बिना ज्यों का त्यों उद्धृत किया गया आगम भी कालिक श्रुत कहा जाता है क्यों कि वह तो उन अङ्ग सूत्रों का मौलिक रूप ही होता है। किन्तु अन्य पूर्वधरों के द्वारा अपनी शैली में रचित आगम को उत्कालिक श्रुत समझना चाहिए। क्यों कि

उसमें अर्थ की मौलिकता रह सकती है किन्तु सूत्र की मौलिकता नहीं रहती है। आगमों की ३२ या ४५ स ख्या मानने की परम्परा भी अलग-अलग अपेक्षा से तथा किसी क्षेत्र-काल में की गई कल्पना मात्र ही समझनी चाहिए। वास्तव में नन्दी सूत्र में ७२ सूत्रों के जो नाम हैं, वह नन्दी सूत्र की रचना के समय उपलब्ध आगमों की सूची है। उसमें स्वय नन्दी सूत्र का भी नाम है जो एक पूर्वधर श्री देवर्द्धिगणी क्षमा श्रमण(देव वाचक) द्वारा रचित है तथा अन्य भी एक पूर्वधर द्वारा रचित अनेक आगमों के नाम वहाँ दिये गये हैं।

अनेक आगमों के रचनाकाल या रचनाकार का कोई प्रामाणिक इतिहास भी नहीं मिलता है। नन्दी सूत्र में कहे गए महानिशीथ आदि सूत्रों के खण्ड़ित हो जाने पर उन्हें पूरक पाठों से पूरे किए गए हैं। ग्रन्थों में आगमों की परिभाषा इस प्रकार कही गई है-

सुत्तं गणहर रइय , तह पत्तेय बुद्ध रइय च ।
सुयकेवलिणा रइय , अभिन्नदसपुव्विणा रइय ॥५४॥ बृहत्स ग्रहणी॥

इस गाथा के अनुसार प्रत्येक बुद्ध, गणधर, १४ पूर्वी तथा सम्पूर्ण दस पूर्वधरों की रचना स कलना को सूत्र या आगम कहा जा सकता है।

नन्दी सूत्र के अनुसार भी भिन्न(कुछ कम) दस पूर्वधरों का श्रुत, सम्यग् भी हो सकता है और असम्यग् भी । किन्तु १० पूर्व सम्पूर्ण धारण करने वालों का श्रुत(उपयोग युक्त होने पर) सम्यग् ही होता है।

उपलब्ध आगमों में चार छेदसूत्र दशवैकालिक सूत्र तथा प्रज्ञापना सूत्र के रचनाकार ज्ञात है जो १० पूर्वधर तथा १४ पूर्वधर माने जाते हैं। आवश्यक सूत्र एव ग्यारह अङ्ग सूत्र गणधर रचित माने जाते हैं तथापि प्रश्नव्याकरण सूत्र आदि में गणधर रचित सम्पूर्ण विषय हटाकर अन्य विषय ही रख दिये गये हैं, जिनका नन्दी सूत्र में निर्देश भी नहीं है। अन्य अनेक उपलब्ध सूत्रों के कर्ता अज्ञात हैं इस प्रकार बृहत्स ग्रहणी में उक्त आगम (सूत्र) की परिभाषा में आने वाला श्रुत बहुत ही अल्प है। वर्तमान में ३२ आगम अथवा ४५ आगम कहने की परम्परा प्रचलित है, जिसमें सूत्र की परिभाषा के अतिरिक्त अनेक आगम सम्मिलित किये जाते हैं और इनमें किसी व्याख्या ग्रन्थ को भी सूत्र गिन लिया गया है। यथा-ओघनिर्युक्ति, पिण्ड़-निर्युक्तिआदि।

दस पूर्व से कम यावत् एक पूर्व तक के ज्ञानी द्वारा रचित श्रुत भी सम्यग् हो सकता है और उसे आगम कहा जा सकता है। यह नन्दी सूत्र के उत्कालिक श्रुत एव कालिक श्रुत की सूची से स्पष्ट होता है। नन्दी सूत्र की रचना के समय उपलब्ध ७२ सूत्रों को नन्दी सूत्र के रचनाकार ने आगम रूप में स्वीकार किया है। उनमें एक पूर्वधारी बहुश्रुतों के द्वारा रचित या स कलित अनेक सूत्र हैं।

अतः इन ७२ सूत्रों में से जितने सूत्र उपलब्ध हैं और जिनमें कोई अत्यधिक परिवर्तन या क्षति नहीं हुई है उन्हें आगम न मानना केवल दुराग्रह है, एव उससे नन्दी सूत्र कर्ता की आशातना होना भी स्पष्ट है। इन ७२ सूत्रों में से उपलब्ध जिन सूत्रों में अहिंसादि मूल सिद्धा तों के विपरीत प्ररूपण कभी किसी के द्वारा प्रक्षिप्त कर दिया गया है उन्हें शुद्ध आगम मानना भी उचित नहीं है।

इन ७२ सूत्रों के सिवाय अन्य सूत्र, ग्र थ, टीका, भाष्य, निर्युक्ति, चूर्णी, निब ध, ग्र थ या समाचारी ग्र थ आदि को आगम या आगम तुल्य मानने का आग्रह करना तो सर्वथा अनुचित है।

नन्दी सूत्र की रचना के समय ७२ सूत्रों के अतिरिक्त अन्य कोई भी पूर्वधरों द्वारा रचित सूत्र, ग्र थ या व्याख्या ग्र थ उपलब्ध नहीं थे यह निश्चित्त है। यदि कुछ उपलब्ध होते तो उन्हें श्रुतसुची में अवश्य समाविष्ट किया जाता क्यों कि इस सूची में अज्ञात रचनाकारों के तथा एक पूर्वधारी बहुश्रुतों के रचित श्रुत को भी स्थान दिया गया है। तो अनेक पूर्वधारी या १४ पूर्वधारी आचार्यो द्वारा रचित और उपलब्ध श्रुत का किसी भी रूप में उल्लेख नहीं करने का कोई कारण ही नहीं हो सकता। अतः शेष सभी सूत्र, व्याख्याएँ, ग्र थ आदि नन्दी सूत्र की रचना के बाद में रचित है यह स्पष्ट है। फिर भी इतिहास स ब धी वर्णनों के दूषित हो जाने से व्याख्या ग्रन्थ भी चौदह पूर्वी आदि द्वारा रचित होने की भ्रान्त धारणाएँ प्रचलित है।

इस सम्बन्ध में विशेष ऐतिहासिक जानकारी इतिहास विषयक स्वत त्र सारा श पुष्प न . २१-२२ का अवलोकन करें।

प्रकरण-८ : स्वाध्याय की अवश्य करणीयता एव प्रायश्चित्त (निशीथ सूत्र, उद्दे.-१९, सूत्र-१३):- दिन की प्रथम व अन्तिम पोरिसी

और रात्रि की प्रथम और अन्तिम पोरिसी, ये चार पोरिसियाँ कालिक श्रुत की अपेक्षा से स्वाध्यायकाल है। इन चारों काल में स्वाध्याय नहीं करना और अन्य विकथा प्रमाद आदि में समय व्यतीत कर देना, यह ज्ञान का अतिचार हैं। यथा- ***काले न कओ सज्झाओ, सज्झाए न सज्झाइय ।- आव॰ अ॰ ४ ।*** इस अतिचार के सेवन करने पर सूत्रोक्त प्रायश्चित्त आता है। तात्पर्य यह है कि भिक्षु को आवश्यक सेवाकार्य के सिवाय चारों ही पोरिसियों में स्वाध्याय करना आवश्यक होता है।

स्वाध्याय न करने से होने वाली हानियाँ-१. स्वाध्याय नहीं करने से पूर्वग्रहीत श्रुत विस्मृत हो जाता है। २. नये श्रुत का ग्रहण एव उसकी वृद्धि नहीं होती है। ३. विकथाओं तथा अन्य प्रमादों में स यम का अमूल्य समय व्यतीत होता है। ४. स यम गुणों का नाश होता है। ५. स्वाध्याय तप और निर्जरा के लाभ से व चित होना पड़ता है। परिणामतः भव परम्परा नष्ट नहीं हो सकती है अतः स्वाध्याय करना भिक्षु का परम कर्तव्य है, ऐसा समझना चाहिए।

स्वाध्याय करने से होने वाले लाभ- १. स्वाध्याय करने से विपुल निर्जरा होती है। २. श्रुत ज्ञान स्थिर एव समृद्ध होता है। ३. श्रद्धा, वैराग्य, स यम एव तप में रूचि बढ़ती है। ४. आत्मगुणों की पुष्टि होती है। ५. मन एव इन्द्रिय निग्रह में सफलता मिलती है। ६. स्वाध्याय, धर्मध्यान का आलम्बन कहा गया है एव इससे चित्त की एकाग्रता सिद्ध होती है। फलतः इससे धर्मध्यान और शुक्लध्यान की प्राप्ति होती है।

'चारों काल में कालिक श्रुत का स्वाध्याय करना तथा अन्य प्रहरों में उत्कालिक श्रुत का स्वाध्याय करना या अर्थ ग्रहण करना अर्थात् वा चणी लेना। दिन के तीसरे पहर में भिक्षा न लाना हो तो उत्कालिक श्रुत के स्वाध्याय आदि में लगे रहना। रात्रि के दूसरे प्रहर में भी भिक्षु उक्त स्वाध्याय करे या सोए। रात्रि के तीसरे पहर में निद्रा लेकर उससे निवृत्त हो जाए और उस पहर का समय शेष हो तो उत्कालिक श्रुत आदि का स्वाध्याय करे। फिर चौथे पहर में कालिक श्रुत का स्वाध्याय करे।'

यह साधु की दिनचर्या एव रात्रिचर्या का वर्णन स्वाध्याय से ही परिपूर्ण है। उत्काल की पोरिसी में उत्कालिक सूत्रों का स्वाध्याय, सूत्रों का अर्थ, आहार, निद्रा आदि प्रवृत्ति की जा सकती है। किन्तु

चारों पोरिसी काल में केवल स्वाध्याय ही किया जाता है। उत्तरा॰ अ॰२६ के अनुसार स्वाध्याय के समय में यदि गुरु आदि कोई सेवा का कार्य कहें तो करना चाहिए और न कहे तो स्वाध्याय में ही लीन रहना चाहिए। यह स्वाध्याय कालिक श्रुत का है। इसमें नया क ठस्थ करना या उसी का पुनरावर्तन करना आदि समाविष्ट है। जब नया क ठस्थ करना पूर्ण हो जाय तब उसकी केवल पुनरावृत्ति करना ही होता है।

व्यव॰उद्दे॰४ में साधु-साध्वी को सीखे हुए ज्ञान को क ठस्थ रखना आवश्यक बताया है और भूल जाने पर कठोरतम प्रायश्चित्त कहा गया है। अर्थात् प्रमाद से भूल जाने पर उसे जीवनपर्यन्त किसी भी प्रकार की पदवी नहीं दी जाती है और पदवीधर हो तो उसे पदवी से हटा दिया जाता हैं। केवल वृद्ध स्थविरों को यह प्रायश्चित्त नहीं आता है। अतः श्रुत क ठस्थ करना और उसे स्थिर रखना, निरन्तर स्वाध्याय करते रहने से ही हो सकता है।

उत्तरा॰ अ॰२६ में स्वाध्याय को स यम का उत्तरगुण बताया है। सर्व दुखों से मुक्त करने वाला तथा सर्व भावों की शुद्धि करने वाला कहा है। इन सब आगम वर्णनों को हृदय में धारण करके भिक्षु सदा स्वाध्यायशील रहे और सूत्रोक्त प्रायश्चित्त स्थान का सेवन न करे अर्थात् स्वाध्याय के सिवाय विकथा प्रमाद आदि में समय न बितावे।

विकथा आदि में समय बिताने पर एव यथासमय आगम स्वाध्याय न करने पर प्रस्तुत सूत्रोक्त प्रायश्चित्त आता है। जिसे सरलतापूर्वक स्वतः स्वीकार करना चाहिए। एव स घ व्यवस्था में भी इसके प्रायश्चित्त देने की एव स्वीकार करने की परम्परा रखनी चाहिए।

प्रकरण-९ : स्वाध्याय की प्रमुखता में एक भ्राँति का निवारण

(व्यव॰ उद्दे॰-७, सूत्र-१५, १६) ज्ञान के अतिचारों के वर्णन से एव निशीथ उद्देशक १९ सूत्र १३ के प्रायश्चित्त विधान से तथा श्रमणसूत्र के तीसरे पाठ से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वाध्याय के समय निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थियों को अवश्य स्वाध्याय करना चाहिए।

इस स्वाध्याय विधान की पूर्ति के लिए प्रायश्चित्त से बचने के लिए किसी परम्परा में प्रतिक्रमण के साथ ही दशवैकालिक की सत्तरह गाथाओं का स्वाध्याय कर लिया जाता है, वह परम्परा अनुचित है

क्यों कि प्रतिक्रमण का समय तो अस्वाध्याय का काल होता है, अतः उसके साथ स्वाध्याय करना आगम विरुद्ध भी है तथा आचारा ग निशीथ सूत्र आदि अनेक क ठस्थ किए हुए कालिक आगमों का यथासमय स्वाध्याय करना आवश्यक होते हुए भी रह जाता है।

अतः शाम के प्रतिक्रमण के पूर्ण हो जाने पर काल का आकाश का प्रतिलेखन करने के बाद पूरे प्रहर तक स्वाध्याय करना चाहिए। उसी प्रकार सुबह के प्रतिक्रमण की आज्ञा लेने के पूर्व रात्रि के चौथे पहर में स्वाध्याय करने का आगम विधान है ऐसा समझना चाहिए किन्तु केवल दशवैकालिक सूत्र की उन्हीं १७ गाथाओं का बार-बार अस्वाध्यायकाल में स्वाध्याय करके स तोष नहीं मानना चाहिए।

चारों पहर में स्वाध्याय न करना यह ज्ञान का अतिचार है एव लघु चौमासी प्रायश्चित्त का स्थान है। ऐसा जानकर यदि कभी स्वाध्याय न हो तो उसका प्रायश्चित्त ग्रहण करना चाहिए। किन्तु सेवा या गुरु आज्ञा में कहीं समय व्यतीत हुआ हो तो चारों पहर में स्वाध्याय न करने पर भी प्रायश्चित्त नहीं आता है। इसी प्रकार रुग्णता आदि अन्य भी आपवादिक कारण समझ लेने चाहिए। अकारण स्वाध्याय की उपेक्षा कर विकथाओं में और आलस्य प्रमाद में समय व्यतीत करने पर स यम मर्यादा के विपरीत आचरण होता है एव ज्ञान के अतिचार का सेवन होता है। जिससे प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।

इन सूत्रों का आशय यह है कि विकथा वार्ताओं में या समाचार पत्रों के पढ़ने में समय व्यतीत न करके भिक्षु को सदा जैनागमों की स्वाध्याय में ही लीन रहना चाहिए।

प्रकरण-१० : अस्वाध्याय के आठ दिन और अमा त मान्यता की विचारणा

निशीथसूत्र उद्दे.१९, सूत्र-१२ में जो 'आषाढ़ी प्रतिपदा' आदि शब्द है उनका अर्थ आषाढ़ी पूनम के बाद आने वाली प्रतिपदा अर्थात् श्रावण वदी एकम ऐसा समझना ही उपयुक्त है। किन्तु 'आषाढ़ी पूनम के बाद पुनः आषाढ़ वदी एकम हो' ऐसा नहीं समझना चाहिए। इसी प्रकार शेष तीनों प्रतिपदा भी उस महोत्सव की पूनम के बाद आने वाली प्रतिपदा को ही मानना उचित है।

आगमों के अनेक स्थलों में कथित तीर्थंकर आदि के वर्णनों

में स्पष्ट रूप से प्रत्येक मास में प्रथम कृष्णपक्ष और द्वितीय शुक्ल पक्ष कहा जाता है। यथा- आचारा ग श्रु.२, अ.१५ में- ***'गिम्हाण पढ़मे मासे दोच्चे पक्खे चेत्त सुद्दे, तस्सण चेत्त सुद्दस्स तेरसी पक्खेण '***

यहाँ चैत्र सुदी तेरस का भगवान महावीर का जन्म बताते हुए ग्रीष्म ऋतु के प्रथम मास का द्वितीय पक्ष चैत्र सुदी कहा है। इसी तरह अन्यत्र भी वर्णन है। अतः पूनम के बाद अगले महीने की एकम समझना ही शास्त्र सम्मत है।

लौकिक प्रचलन में अमावस्या के लिए(३०) तीस का अ क लिखा जाता है और इसे ही मास का अन्तिम दिन माना जाता है। किन्तु यह मान्यता जैन शास्त्र सम्मत नहीं है। कई विद्वान प्रस्तुत सूत्र (१२) के आधार से भी इस लौकिक मान्यता का निर्देश मानते है किन्तु इस सूत्र से ऐसा अर्थ समझना भ्रमपूर्ण है। क्यों कि ठाणा ग टीका व निशीथ चूर्णी में वैसा अर्थ नहीं किया गया है, तथा ऊपर निर्दिष्ट आचारा ग अ.१५ के पाठ के समक्ष होते हुए भी ऐसा अर्थ करना आगम विरुद्ध है। अतः आषाढ़, आसोज, कार्तिक और चैत्र की पूनम एव श्रावण, कार्तिक, मार्गशीर्ष और वैशाख की एकम ये आठ दिन ही अस्वाध्याय के समझने चाहिए।

यद्यपि इन्द्र महोत्सव के लिए आसोज की पूनम जैनागमों की व्याख्याओं में तथा जैनेत्तर शास्त्रों में भी कही गई है तथापि भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में कुछ भिन्न-भिन्न परम्पराएँ भी कालान्तर से प्रचलित हो जाती है। यथा-लाट देश में श्रावण की पूनम को इन्द्र महोत्सव होना चूर्णिकार ने बताया है। ऐसे ही किसी कारण से भादवा की पूनम को महोत्सव का दिन मानकर अस्वाध्याय मानने की पर परा प्रचलित है। जिससे कुल १० दिन महोत्सव सम्बन्धी अस्वाध्याय के माने जाते हैं। किन्तु इसे केवल परम्परा ही समझना चाहिए क्यों कि इसके लिए मौलिक प्रमाण कुछ भी नहीं है।

प्रस्तुत सूत्र में उपर्युक्त विवेचन के अनुसार आठ दिन ही कहे गए हैं उन आठ दिनों में स्वाध्याय करने पर ही सूत्रोक्त प्रायश्चित्त आता है। भादवा की पूनम एव आसोज वदी एकम को स्वाध्याय करने से प्रस्तुत सूत्रोक्त प्रायश्चित्त नहीं आता है।

प्रकरण-११ : मासिक धर्म के अस्वाध्याय का विवेक व सत्यावबोध

(निशीथ सूत्र उद्देशक-१९, सूत्र-१५) स्वय का अस्वाध्याय दो प्रकार होता है- १. व्रण स ब धी २. ऋतुधर्म स ब धी। इसमें भिक्षु के एक प्रकार का एव भिक्षुणी के दोनों प्रकार का अस्वाध्याय होता है।

शरीर में फोड़े, फुन्सी, भग दर, मस्सा अदि से जब रक्त या पीव बाहर आता है तब उसका अस्वाध्याय होता है। उसकी शुद्धि करके १०० हाथ के बाहर परठकर स्वाध्याय किया जा सकता है। शुद्धि करने के बाद भी रक्त आदि निकलता रहे तो स्वाध्याय नहीं किया जा सकता। किन्तु उसके एक-दो या उत्कृष्ट तीन पट वस्त्र के बाँधकर परस्पर आगम वा चनी ली दी जा सकती है। तीन पट के बाहर पुनः खून दिखने लग जाए तो फिर उन्हें शुद्ध करना आवश्यक होता है।

ऋतुधर्म का अस्वाध्याय तीन दिन तक रहता है। किन्तु व्यवहार सूत्र के उद्देशक ७ सूत्र १७ में अपने अस्वाध्याय में परस्पर वा चना लेने देने का विधान किया गया है। उसकी भाष्य में विधि इस प्रकार बताई है कि रक्त आदि की शुद्धि करके आवश्यकतानुसार एक दो अथवा उत्कृष्ट सात वस्त्र पट लगाकर साधु-साध्वी परस्पर आगमों की वा चणी दे-ले सकते हैं। प्रमाण के लिये देखें- व्यव॰उद्दे॰७ भाष्य गा॰३९०-३९४ तथा निशीथ भाष्य गा॰ ६१६७-६१७० तथा अभि॰ राजेन्द्र कोश भाग-१ पृ॰ ८३३ 'असज्झाइय' शब्द।

सूत्र १४ और १५ में वर्णित सभी अस्वाध्याय आगमों के मूल पाठ के उच्चारण से ही सम्बन्धित जानने चाहिए। क्यों कि उनकी भाषा 'देव-वाणी' है और अस्वाध्याय का प्रमुख कारण देवों के उपद्रव होने से सम्बन्धित है।

अतः मासिक धर्म आदि अवस्था में आगमों के अर्थ वाचन या अनुप्रेक्षा, पृच्छा, व्याख्यान श्रवण आदि करने का निषेध नहीं है तथा गृहस्थ को सामायिक आदि स वर प्रवृत्ति एव नित्य-नियम तथा प्रभु स्तुति-स्मरण का निषेध भी नहीं है।

आगम स्वाध्याय के नियमों को यदि सामायिक प्रतिक्रमण आदि धर्म प्रवृत्तियों के लिए भी लागू किए जावे तो यह प्ररुपणा का अतिक्रमण होता है एव अकारण समस्त धर्मक्रियाओं में अ तराय होता है। एक

विषय के नियम को अन्य विषय में जोड़ना अनुचित प्रयत्न है।

व्यव॰ उद्दे॰-७ में जब स्वय आगमकार मासिक धर्म आदि के अपने अस्वाध्याय में आगम की वा चणी अथात् अर्थ लेने का भी विधान करते हैं तो फिर किसी भी आचार्य के द्वारा सामायिक, प्रतिक्रमण, प्रभु स्मरण, नमस्कार म त्र एव लोगस्स आदि के उच्चारण का निषेध किया जाना कदापि उचित नहीं कहा जा सकता है।

क्यों कि ऐसी आगम विपरीत मान्यता रखने पर स वत्सरी महा पर्व के दिन भी सामायिक, पौषध, प्रतिक्रमण, व्याख्यान श्रवण, मुनि दर्शन एव नमस्कार म त्रोच्चारण आदि सभी धार्मिक प्रवृत्तियों से व चित रहना पड़ता है। सभी प्रकार की धर्म प्रवृत्ति से व चित गृहस्थ पर्व दिनों में भी सावद्य प्रवृत्ति एव प्रमाद में ही स लग्न होते है। इसलिए ऐसी प्ररूपणा करना सर्वथा अनुचित है।

अतः स्वकीय अस्वाध्याय में श्रावक श्राविका विवेकपूर्वक सामायिक प्रतिक्रमण आदि क्रिया करें तो इसमें कोई दोष नहीं समझना चाहिए और गृह कार्यो से निवृत्ति के इन ३ दिनों में उनको स वर आदि धर्म क्रिया में ही अधिकतम समय व्यतीत करना चाहिए। साध्वियों को अन्य अध्ययन, श्रवण, सेवा, तप, आत्मचिंतन, ध्यान आदि में समय व्यतीत करना चाहिए।

प्रकरण-१२ : अस्वध्याय का मर्म एव विवेक

(निशीथसूत्र उद्दे॰१९, सूत्र-१८) अस्वाध्याय में स्वाध्याय के निषेध करने का प्रमुख कारण यह है कि भग॰ श॰५. उद्दे॰४ में देवों की अर्ध मागधी भाषा कही है और यही भाषा आगम की भी है। अतः मिथ्यात्वी एव कोतुहली देवों के द्वारा उपद्रव करने की सम्भावना बनी रहती है।

अस्वाध्याय के इन स्थानों से यह भी ज्ञात होता है कि स्पष्ट घोष के साथ उच्चारण करते हुए आगमों की पुनरावृत्ति रूप स्वाध्याय करने की पद्धति होती है। इसी अपेक्षा से ये अस्वाध्याय कहे हैं। किन्तु इसकी भाषा तरित हुए आगम का स्वाध्याय करने में अस्वाध्याय नहीं होता है। अस्वाध्याय के सम्बन्ध में विशेष विधान यह है कि आवश्यक सूत्र के पठन-पाठन में अस्वाध्याय नहीं होता है क्यों कि यह सदा उभयकाल स ध्या समय में ही अवश्य करणीय होता है।

अतः नमस्कार म त्र, 'लोगस्स' आदि आवश्यक सूत्र के पाठ भी सदा सर्वत्र पढ़े या बोले जा सकते हैं।

किसी भी अस्वाध्याय की जानकारी होने के बाद शेष रहे हुए अध्ययन या उद्देशक को पूर्ण करने के लिए स्वाध्याय करने पर प्रायश्चित्त आता है।

तिर्यंच प चेन्द्रिय या मनुष्य के रक्त आदि की जल से शुद्धि करना हो तो स्वाध्याय स्थल से ६० हाथ या १०० हाथ दूर जाकर करनी चाहिए। तेइन्द्रिय चौरेन्द्रिय के खून या कलेवर का अस्वाध्याय नहीं गिना जाता है।

औदारिक सम्बन्धी अशुचि पदार्थों के बीच में राजमार्ग हो तो अस्वाध्याय नहीं होता है। उपाश्रय में तथा उसके बाहर ६० हाथ तक अच्छी तरह प्रतिलेखन करके स्वाध्याय करने पर भी कोई औदारिक अस्वाध्याय रह जाय तो सूत्रोक्त प्रायश्चित्त नहीं आता है।

अतः भिक्षु दिन में सभी प्रकार की अस्वाध्यायों का प्रतिलेखन एव विचार करके स्वाध्याय करे और रात्रि में स्वाध्याय काल प्रतिलेखन करने योग्य भूमि अर्थात् जहाँ पर खड़े होने पर सभी दिशाएँ एव आकाश स्पष्ट दिखे, ऐसी तीन भूमियों का सूर्यास्त के पूर्व प्रतिलेखन करे। वर्षा आदि के कारण से कभी मकान में रहकर भी काल प्रतिलेखन किया जा सकता है।

बहुत बड़े श्रमण समूह में दो साधु आचार्य की आज्ञा लेकर काल प्रतिलेखन करते हैं, फिर सूचना देने पर सभी साधु स्वाध्याय करते हैं। बीच में अस्वाध्याय का कारण ज्ञात हो जाने पर उसका पूर्ण निर्णय करके स्वाध्याय ब द कर दिया जाता है।

स्वाध्याय आभ्यन्तर तप एव महान् निर्जरा का साधन होते हुए भी अस्वाध्याय में स्वाध्याय करने पर जिनाज्ञा का उल्ल घन होता है। मर्यादा भ ग आदि से कर्म ब ध होता है, कभी अपयश एव उपद्रव भी होता है। इसलिए स यम विराधना की एव प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। - ***निशीथ चूर्णि प्रस्तुत सूत्र।***

अतः स्वाध्याय प्रिय भिक्षु को अस्वाध्यायों के सम्बन्ध में भी सदा सावधानी रखने के कर्तव्यों का आवश्यक रूप से पालन करना चाहिए। स्मरण रहे कि यह कर्तव्य केवल अर्धमागधी भाषा वाले

कालिक एव उत्कालिक सूत्रों के मूल पाठ की अपेक्षा है। आवश्यक सूत्र(प्रतिक्रमण सूत्र) के लिए अस्वाध्याय सम्बन्धी कोई कर्तव्य नहीं है एव सूत्रों की व्याख्या, भाषा तर, अर्थ चिंतन, वा चन एव अन्य स वर धर्म प्रवृत्ति आदि के लिए भी अस्वाध्याय सम्बन्धी कोई नियम नहीं है।

दीक्षा-दीक्षित एव दीक्षा गुरु

प्रकरण-१३ : बड़ी दीक्षा देने सम्बन्धी विधान एव प्रायश्चित्त (व्यव॰ उद्दे॰-४, सूत्र-१५-१७) प्रथम एव अन्तिम तीर्थंकर के शासन में भिक्षुओं को सामायिक चारित्र रूप दीक्षा देने के बाद छेदोपस्थापनीय चारित्र रूप बड़ी दीक्षा दी जाती है। उसकी जघन्य काल मर्यादा सात अहोरात्रि की है अर्थात् काल की अपेक्षा नवदीक्षित भिक्षु सात रात्रि बीतने के बाद कल्पाक(बड़ी दीक्षा के योग्य) कहा जाता है।

गुण की अपेक्षा- १. आवश्यक सूत्र सम्पूर्ण अर्थ एव विधि सहित क ठस्थ कर लेने पर, २. जीवादि का एव समितियों का सामान्य ज्ञान कर लेने पर, ३. दशवैकालिक सूत्र के चार अध्ययन की अर्थ सहित वाचना लेकर क ठस्थ कर लेने पर एव ४. प्रतिलेखन आदि दैनिक क्रियाओं का कुछ अभ्यास कर लेने पर वह नवदीक्षित भिक्षु 'कल्पाक' हो जाता है।

इस प्रकार कल्पाक(बड़ी दीक्षा योग्य) होने पर एव अन्य विविध परीक्षण हो जाने पर उस नव दीक्षित भिक्षु को बड़ी दीक्षा (उपस्थान) दी जाती है। उपरोक्त योग्यता के पूर्व बड़ी दीक्षा देने पर नि॰ उद्दे॰११ सू॰ ८४ के अनुसार दीक्षा दाता को प्रायश्चित्त आता है।

उक्त योग्यता से सम्पन्न कल्पाक भिक्षु को सूत्रोक्त समय पर बड़ी दीक्षा न देने पर प्रस्तुत सूत्रों से आचार्य उपाध्याय को प्रायश्चित्त आता है। इस प्रायश्चित्त विधान से स्पष्ट होता है कि किसी को दीक्षा या बड़ी दीक्षा देने का अधिकार आचार्य उपाध्याय को ही होता है एव उसमें किसी प्रकार की त्रुटि होने पर प्रायश्चित्त भी उन्हें ही आता है।

अन्य साधु-साध्वी या प्रवर्तक प्रवर्तिनी भी आचार्य, उपाध्याय की आज्ञा से किसी को दीक्षा या बड़ी दीक्षा दे सकते हैं किन्तु उसकी योग्यता के निर्णय की मुख्य जिम्मेदारी आचार्य-उपाध्याय की ही होती है। सामान्य रूप से तो आगमानुसार प्रत्येक प्रवृत्ति करने की जिम्मेदारी सभी साधु-साध्वी की होती ही है, फिर भी गच्छ के व्यवस्था निर्देश

आचार्य-उपाध्याय के अधिकार में होते हैं। अतः तत्सम्बन्धी विपरीत आचरण होने पर प्रायश्चित्त के पात्र भी वे आचार्यादि ही होते हैं।

यहाँ इन तीन सूत्रों में बड़ी दीक्षा के निमित्त से तीन विकल्प कहे गये है- (१) विस्मरण से मर्यादा उल्ल घन, (२) स्मृति होते हुए मर्यादा उल्ल घन (३) विस्मरण या अविस्मरण से विशेष मर्यादा उल्ल घन।

काल से एव गुण से कल्पाक बन जाने के बाद उस भिक्षु को चार या पाँच रात्रि के भीतर अर्थात् चार रात्रि और पाँचवे दिन तक बड़ी दीक्षा दी जा सकती है। यह सूत्र में आये ***'चउराय प चरायाओ'*** शब्द का अर्थ है। इस छूट में विहार, शुभ दिन, स्त्री के मासिक धर्म की अस्वाध्याय, रूग्णता आदि अनेक कारण निहित है।

अतः दीक्षा के सात दिन बाद आठवें, नवें, दसवें, ग्यारहवें या बाहरवें दिन तक कभी भी बड़ी दीक्षा दी जा सकती है और उसका कोई प्रायश्चित्त नहीं आता है। बाहरवीं रात्रि का उल्ल घन करने पर सूत्र १५-१६ के अनुसार यथायोग्य तप या दीक्षा छेद रूप प्रायश्चित्त आता है। जिसका भाष्य में जघन्य प्रायश्चित्त पाँच रात्रि का कहा गया है। दीक्षा की सत्तरहवीं रात्रि का उल्ल घन करने पर यथायोग्य तप या छेद प्रायश्चित्त के अतिरिक्त एक वर्ष तक उसे प्रायश्चित्त रूप में आचार्य पद में मुक्त कर दिया जाता है।

यहाँ बड़ी दीक्षा के विधान एव प्रायश्चित्त में एक छूट और भी कही गई है वह यह है कि उस नवदीक्षित भिक्षु के माता-पिता आदि कोई भी माननीय या उपकारी पुरुष दीक्षित हो रहे हों और उनके कल्पाक होने में देर हो तो उनके निमित्त से उसको बड़ी दीक्षा देने में छह मास तक की भी प्रतीक्षा की जा सकती है तथा उसका कोई प्रायश्चित्त भी नहीं आता है।

ठाणा ग आदि आगमों में सात रात्रि का जघन्य शैक्षकाल कहा गया है। अतः योग्य हो तो भी सात रात्रि पूर्ण होने से पूर्व बड़ी दीक्षा नहीं दी जा सकती है क्यों कि उस समय तक वह शैक्ष एव अकल्पाक कहा गया है।

छह मास का 'उत्कृष्ट शैक्षकाल' कहा गया है। अतः माननीय पुरुषों के लिए बड़ी दीक्षा रोकने पर भी छह मास का उल्ल घन नहीं करना चाहिए।

इन सूत्रों में स्मृति रहते हुए एव विस्मरण से ४-५ दिन की मर्यादा उल्ल घन का प्रायश्चित्त समान कहा गया है।

चार-पाँच दिन की छूट में शुभ दिन या विहार आदि कारण के अतिरिक्त ऋतुधर्म आदि अस्वाध्याय का भी जो कारण निहित है उसका निवारण ४-५ दिन की छूट में सरलता से हो सकता है।

प्रकरण-१४ : दीक्षार्थी एव दीक्षा गुरु के योग्यायोग्य का स्पष्टीकरण

(नि॰ उद्दे॰११, सूत्र-८३, ८४) प्रथम सूत्र में जानते हुए भी अयोग्य को दीक्षा देने का प्रायश्चित्त कहा है और द्वितीय सूत्र में अनजान में दीक्षा दिये बाद अयोग्य मालूम होने पर भी बड़ी दीक्षा देने का प्रायश्चित्त कहा है। इससे यह ध्वनित होता है कि दीक्षा देने के बाद अयोग्यता की जानकारी होने पर बड़ी दीक्षा नहीं देनी चाहिए।

अयोग्यता की जानकारी न होने के दो कारण हो सकते हैं। यथा- १. दीक्षार्थी द्वारा अपनी अयोग्यता को छिपा लेना। २. दीक्षा दाता के द्वारा छानबीन करके पूर्ण जानकारी न करना।

दूसरे कारण में दीक्षादाता का प्रमाद है । अतः वह सूत्रोक्त प्रयाश्चित्त को प्राप्त करता है। उपस्थापित करने के बाद उसे छोड़ना या न छोड़ना यह गीतार्थ के निर्णय पर निर्भर है। प्रवज्या के अयोग्य व्यक्ति निम्नलिखित है- **(१)** बाल- आठ वर्ष से कम उम्र वाला, **(२)** वृद्ध-सत्तर (७०) वर्ष से अधिक उम्र वाला **(३)** नपु सक- जन्म नपु सक, कृतनपु सक, स्त्रीनपु सक तथा पुरुषनपु सक आदि। **(४)** जड़- शरीर से अशक्त, बुद्धिहीन व मूक **(५)** क्लीब- स्त्री के शब्द, रूप, निमन्त्रण आदि के निमित्त से उदित मोह-वेद को निष्फल करने में असमर्थ **(६)** रोगी १६ प्रकार के रोग और आठ प्रकार की व्याधि में से किसी भी रोग या व्याधि से युक्त। शीघ्रघाती व्याधि कहलाती है और चिर घाती रोग कहलाते है- भाष्य गाथा ३६४७। **(७)** चोर- रात्रि में घर-घर प्रवेश कर चोरी करने वाला, जेब काटने वाला इत्यादि अनेक प्रकार के चोर ड़ाकू लुटेरे **(८)** राज्य का अपराधी-किसी प्रकार का राज्य विरुद्ध कार्य करने पर अपराधी घोषित किया हुआ **(९)** उन्मत्त यक्षाविष्ट या पागल **(१०)** चक्षुहीन-जन्मान्ध हो या बाद में किसी एक या दोनों आँखो की ज्योति चली गई हो **(११)** दास- किसी का खरीदा

हुआ या अन्य किसी कारण से दासत्व को प्राप्त **(१२)** दुष्ट- कषाय दुष्ट(अति क्रोधी), विषयदुष्ट(विषयासक्त) **(१३)** मूर्ख- द्रव्यमूढ़ आदि अनेक प्रकार के मूर्ख, भ्रमित बुद्धि वाले **(१४)** कर्जदार- अन्य की सम्पत्ति उधार लेकर न देने वाला **(१५)** जुंगित(हीन)- जाति से, कर्म से, शिल्प से हीन और शरीर से हीना ग(जिसके नाक, कान, पैर, हाथ आदि कटे हुए हों) **(१६)** बद्ध- कर्म, शिल्प, विद्या, म त्र आदि सीखने या सिखाने के निमित्त किसी के साथ प्रतिज्ञा बद्ध हो **(१७)** भृतक- दिवसभृतक, यात्राभृतक आदि **(१८)** अपहृत- माता-पिता आदि की आज्ञा बिना अदत्त लाया हुआ बालक आदि, **(१९)** गर्भवती स्त्री **(२०)** बालवत्सा- दूध मुहे बच्चे वाली स्त्री । भाष्य में इनके अनेक भेद-प्रभेद किए है तथा इन्हें दीक्षा देने से होने वाले दोषों और उनके प्रायश्चित्तों के अनेक विकल्प कहे हैं ।

आगमविहारी, अतिशयज्ञानी इन भाष्यवर्णित सभी को यथा अवसर दीक्षा दे सकते हैं। 'बालवय' वाले को कारणवश गीतार्थ दीक्षा दे सकते हैं, ऐसा ठाणा ग सूत्र अ॰ ५, सूत्र १०८ से फलित होता है।

भाष्य-गाथा ३७३८ में, बीस प्रकार के अयोग्यों में से कुछ को यथावसर दीक्षा दी भी जा सकती है, ऐसा बताया है किन्तु गीतार्थ भिक्षु को यह अधिकार भी अन्य गीतार्थ की सलाह से ही होता है। अन्यथा उसे भी प्रायश्चित्त आता है।

दीक्षा के योग्य व्यक्ति – १. आर्यक्षेत्रोत्पन्न, २. जातिकुल सम्पन्न, ३. लघुकर्मी, ४. निर्मल बुद्धि, ५. स सार समुद्र में मनुष्य भव की दुर्लभता, जन्म-मरण के दु:ख, लक्ष्मी की च चलता, विषयों के दु:ख, इष्ट पदार्थो के स योग-वियोग, आयु की क्षणभ गुरता, मरण पश्चात् परभव का अति रौद्र विपाक और स सार की असारता आदि भावों को जानने वाला, ६. स सार से विरक्त, ७. अल्पकषायी, ८. अल्पहास्यादि(कुतहलवृत्ति से रहित), ९. सुकृतज्ञ, १०. विनयवान, ११. राज्य-अपराध रहित, १२. सुड़ोल शरीर, १३. श्रद्धावान, १४. स्थिर चित्त वाला एव १५. सम्यग् उपसम्पन्न(शिक्षा ग्रहण)।

इन गुणों से सम्पन्न को दीक्षा देनी चाहिए अथवा इनमें से एक दो गुण न भी हो तो बहुगुण सम्पन्न को दीक्षा दी जा सकती है। -***अभि. राजेन्द्र कोष 'पवज्जा' पृ. ७३९ ।***

दीक्षादाता के लक्षण- उपर्युक्त पन्द्रह गुण सम्पन्न तथा १६. विधि-पूर्वक प्रव्रजित १७. सम्यक् प्रकार से गुरुकुलवास सेवी, १८. प्रव्रज्या ग्रहण काल से सतत अखण्ड़ शीलवाला १९. परद्रोह रहित, २०. यथोक्त विधि से ग्रहीत सूत्र वाला २१. सूत्रों एव अध्ययनों आदि के पूर्वापर सम्बन्धों के ज्ञान में निष्णात २२. तत्त्वज्ञ २३. उपशा त २४. प्रवचनवात्सल्ययुक्त २५. प्राणियों के हित में रत २६. आदेय वचन वाला २७. भावों की अनुकूलता से शिष्यों की परिपालना करने वाला २८. गम्भीर(उदारमना) २९. परीषह आदि आने पर दीनता न दिखाने वाला ३०. उपशमलब्धि सम्पन्न(उपशा त करने में चतुर) उपकरण लब्धि सम्पन्न, स्थिरहस्त लब्धि सम्पन्न, ३१. सूत्रार्थवक्ता ३२. स्वगुरुअनुज्ञात गुरुपद वाला। ऐसे गुण वाले विशिष्ट साधक को गुरु बनाना चाहिए। - ***अभि. राजेन्द्र कोष 'प्रवज्जा' पृ. ७३४***

दीक्षार्थी के प्रति दीक्षादाता का कर्तव्य- (१) दीक्षार्थी से पूछना चाहिए कि 'तुम कौन हो ?' क्यों दीक्षा लेते हो ? तुम्हें वैराग्य उत्पन्न कैसे हुआ ? इस प्रकार पूछने पर योग्य प्रतीत हो तथा अन्य किसी प्रकार से अयोग्य ज्ञात न हो तो दीक्षा देना कल्पता है।

(२) दीक्षा के योग्य जानकर उसे यह साध्वाचार कहना चाहिए यथा- १. प्रतिदिन भिक्षा के लिये जाना, २. भिक्षा में अचित्त पदार्थ लेना, ३. वह भी एषणा आदि दोषों से रहित शुद्ध ग्रहण करना, ४. लाने के बाद बाल-वृद्ध आदि को देकर समविभाग से खाना, ५. स्वाध्याय में सदा लीन रहना, ६. आजीवन स्नान नहीं करना, ७. भूमि पर या पाट पर शयन करना, ९. लोच आदि के कष्टों को सहन करना आदि । यदि वह यह सब सहर्ष स्वीकार कर ले तो उसे दीक्षा देनी चाहिए। - ***नि. चूर्णि पृ. २७८ ।***

नवदीक्षित भिक्षु के प्रति दीक्षादाता का कर्तव्य- १. 'शस्त्रपरिज्ञा' का अध्ययन कराना अथवा 'छज्जीवनिका' का अध्ययन कराना । **२.** उसका अर्थ-परमार्थ समझाना कि ये पृथ्वी आदि जीव है, धूप छाया पुद्गल आदि अजीव है तथा पुण्य-पाप, आश्रव-स वर, निर्जरा, ब ध, मोक्ष, नव पदार्थ, कर्मब ध के हेतु व उनके भेद, परिणाम इत्यादि का परिज्ञान कराना। **३.** इन्हीं तत्वों को पुनः समझाकर उसे धारण कराना, श्रद्धा कराना। **४.** तत्पश्चात्त जीवों की यतना का विवेक सिखाना।

५. सिखाने के बाद श्रद्धा एव विवेक की परीक्षा करना, यथा- खड़े रहने, बैठने, सोने या परठने के लिये सचित्त भूमि बताकर कहना कि 'यहाँ खड़े रहो, परठो इत्यादि। सचित्त स्थल देखकर वह चिंतित होता है या नहीं, इसकी परीक्षा करना।' इसी तरह तालाब आदि की गीली भूमि में चलने, दीपक सरकाने, गर्मी में हवा करने तथा वनस्पति व त्रस युक्त मार्ग में चलने का कहकर परीक्षा करना। एषणा दोष युक्त भिक्षा ग्रहण करने का कहकर परीक्षा करना।

इस प्रकार अध्ययन, अर्थज्ञान, श्रद्धान, विवेक तथा परीक्षा में योग्य हो उसे उपस्थापित करना चाहिए।

उल्लिखित विधि से जो योग्य न बना हो उसे उपस्थापित करने पर प्रायश्चित्त आता है।- ***निशीथ चूर्णि पृ. २८०*** ।

प्रकीर्ण-परिशिष्ट

प्रकरण-१५ : चैत्य शब्द का अर्थ

(व्य॰ उद्दे॰१, सूत्र-३३) सूत्र में 'सम्म भावियाई' शब्द का प्रयोग किया गया है टीकाकार ने उसका अर्थ करते हुए 'जिन वचनों से भावित अन्तःकरण वाला' ऐसा अर्थ किया है।

'चैइय' शब्द के अनेक अर्थ शब्दकोश में बताये गए है उसमें ज्ञानवान और भिक्षु आदि अर्थ भी 'चेइय' शब्द के किये हैं । अनेक सूत्रों में तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी के लिए 'चेइय' शब्द का प्रयोग किया गया है वहाँ उस शब्द से भगवान को 'ज्ञानवान' कहा है।

उपासकदशा अ॰१ में श्रमणोपासक की समकित सम्बन्धी प्रतिज्ञा का पाठ है। उसमें अन्य तीर्थिक से ग्रहण किये चैत्य को अर्थात् साधु को वन्दन नमस्कार एव आलाप-स लाप करने का तथा आहार-पानी देने का निषेध है। वहाँ स्पष्ट रूप से 'चेइय' शब्द का भिक्षु अर्थ में प्रयोग किया गया है। वहाँ चैत्य से आलाप स लाप करने का आगम कथन विशेष मननीय है । क्यों कि मूर्ति से आलाप स लाप नहीं हो सकता।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'चेइय' शब्द का अर्थ मूर्तिपूजक समुदाय वाले 'अरिह त भगवान की मूर्ति' भी कहते हैं किन्तु वह टीकाकार के अर्थ से विपरीत है तथा पूर्वापर सूत्रों से विरुद्ध भी है । क्यों कि टीकाकार ने यहाँ अ तःकरण शब्द का प्रयोग किया है वह मूर्ति में नहीं हो

सकता। सूत्र में सम्यक् भावित चैत्य का अभाव होने पर अरिह त सिद्ध की साक्षी के लिए गाँव आदि के बाहर जाने का कहा है। यदि अरिह त चैत्य का अर्थ मन्दिर होता है तो मन्दिर में ही अरिह त सिद्ध की साक्षी से आलोचना करने का कथन होता, गाँव के बाहर जाने के अलग विकल्प देने की आवश्यकता ही नहीं होती।

अतः 'चेइय' शब्द का प्रस्तुत प्रकरण में 'ज्ञानी' सम्यग् दृष्टि अथवा समझदार पुरुष ऐसा अर्थ करना ही उपयुक्त है।

समवाया ग सूत्र में तीर्थंकरों को जिस वृक्ष के नीचे केवलज्ञान उत्पन्न होता है उसे 'चैत्य वृक्ष'अर्थात् ज्ञानोत्पति स्थल का वृक्ष कहा है। तात्पर्य है कि मौलिक गणधर रचित आगमों में एव विशाल शब्द कोशों में भी 'चैत्य' शब्द का अर्थ 'ज्ञान' सूचित्त किया गया है। प्रस्तुत प्रकरण में भी 'ज्ञानी' सम्यग् दृष्टि अर्थ ही अपेक्षित हैं एव उचित है।

प्रकरण-१६ : अनेक पात्र की कल्पनीयता

(व्यव॰उद्दे॰२, सूत्र-२९) सूत्र में आहार करने के साधन रूप में पात्रों के लिए इन शब्दों का प्रयोग किया गया है- १. स्वय के (आहार लेने के) पात्र में। २. स्वय के 'पलाशक' (मात्रक) में। ३. स्वय के कम ड़लु (पानी लेने के पात्र) में। ४. स्वय के खोबे में अर्थात् दोनों हाथों से बनी अ जलि में। ५. स्वय के हाथ में अर्थात् एक हाथ की पसली में।

यहाँ स्वय के पलाशक का अर्थ टीकाकार ने 'ढ़ाक के पत्तों से बना दोना' ऐसा किया है।

सूत्र में 'सय सि' पद प्रत्येक शब्द के साथ है। साधु के स्वय का पात्र वही होता है जो सदा उसके पास रहता हो एव जो आगमोक्त हो। पलास के पत्तों का दोना रखना आगम में निषिद्ध है और वह अधिक समय धारण करने योग्य भी नहीं होता है। अतः 'स्वय का पलाशक' यह कथन 'मात्रक' के लिए समझना उपयुक्त है एव मात्रक रखना आगम सम्मत भी है।-***दशा॰ द॰८ ।***

सूत्र के विधान से ही ऐसा ज्ञात होता है कि वे भिक्षु यदि पात्र की उनोदरी करने वाले हों तो स्वय के मात्रक में, हाथ में या खोबे (अ जली) में लेकर भी खा सकते हैं।

चौदह पूर्वी श्री भद्रबाहु स्वामी द्वारा रचित इस व्यवहार सूत्र में पात्र की दृष्टि से तीन नाम कहे गये हैं। इससे यह फलित होता है कि भिक्षु सामान्यतया भी अनेक पात्र रख सकता है। अतः एक पात्र ही रखने की एका तिक परम्परा का ऐतिहासिक कथन आगम सम्मत नहीं कहा जा सकता। अर्थात् कई गतानुगतिक इतिहासज्ञ प ड़ित कह देते हैं कि पहले जैन साधु सभी एक पात्र ही रखते थे अनेक पात्र रखने की परम्परा शिथिलाचार से प्रार भ हुई। किन्तु ऐसे कथन की प्रस्तुत सूत्र से कसौटी की जाय तो वह निरर्थक, निराधार एव एका तिक प्ररूपण ही प्रतीत होगा। यदि ऐसा कहा जाय कि पहले जैन साधु अकेले भी रहते थे अचेल भी रहते थे। वे क्रमिक साधना करते थे। एक पात्र रखने वाले भी तपस्वी भिक्षु होते थे। तो यह अनैका तिक प्ररूपण होगा एव आगम सम्मत होगा।

प्रकरण-१७ : साधु-साध्वी की परस्पर सेवा आलोचना

(व्यव. उद्दे.-५, सूत्र : १९, २०) बृहत्कल्पसूत्र के चौथे उद्देशक में बारह सा भोगिक व्यवहारों का वर्णन करते हुए औत्सर्गिक विधि से साध्वियों के साथ साधु को छः सा भोगिक व्यवहार रखना कहा गया है। तदनुसार साध्वियों के साथ एक मा ड़लिक आहार का व्यवहार नहीं होता है तथा आगाढ़ कारण के बिना उनके साथ आहारादि का लेन-देन भी नहीं होता है तो भी वे साधु-साध्वी एक आचार्य की आज्ञा में होने से और एक गच्छ वाले होने से सा भोगिक कहे जाते हैं।

ऐसे सा भोगिक साधु-साध्वियों के लिए भी आलोचना, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त आदि परस्पर में करना निषिद्ध है अर्थात् साधु अपने दोषों की आलोचना प्रायश्चित्त आचार्य उपाध्याय, स्थविर आदि के पास ही करे और साध्विया अपनी आलोचना प्रायश्चित्त प्रवर्तिनी, स्थविरा आदि योग्य श्रमणियों के पास ही करे, यह विधि मार्ग या उत्सर्ग मार्ग है।

अपवादमार्ग के अनुसार किसी गण में साधु या साध्वियों में कभी आलोचना-श्रवण के योग्य न हो या प्रायश्चित्त देने योग्य न हो तब परिस्थितिवश साधु स्वगच्छीय साध्वी के पास आलोचना प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त कर सकता है और साध्वी स्वगच्छीय साधु के पास आलोचना आदि कर सकती है।

इस विधान से यह स्पष्ट है कि सामान्यतया एक गच्छ के

साधु-साध्वियों को भी परस्पर आलोचना प्रायश्चित्त नहीं करना चाहिए।

परस्पर आलोचना का दुष्फल बताते हुए भाष्य में कहा गया है कि साधु या साध्वी को कभी चतुर्थ व्रत भ ग सम्बन्धी आलोचना करनी हो और आलोचना सुनने वाला साधु या साध्वी भी काम वासना से पराभूत हो तो ऐसे समय में उसे अपने भाव प्रकट करने का अवसर मिल सकता है और वह कह सकता है कि 'तुम्हें प्रायश्चित्त तो लेना ही है तो एक बार मेरी इच्छा भी पूर्ण कर दो, फिर एक साथ प्रायश्चित्त हो जायेगा।' इस प्रकार परस्पर आलोचना के कारण एक दूसरे का अधिकाधिक पतन होने की सम्भावना रहती है। इसके अतिरिक्त अन्य दोषों की आलोचना करते समय भी एकान्त में पुनः पुनः साधु-साध्वी का सम्पर्क होने से ऐसे दोषों के उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है।

ऐसे ही कारणों से स्वाध्याय या वाचना आदि के सिवाय आगमों में साधु-साध्वी का परस्पर सभी प्रकार का सम्पर्क वर्जित है। इसलिए उन्हें एक-दूसरे के उपाश्रय में सामान्य वार्तालाप हेतु या केवल दर्शन करने हेतु अथवा परम्परा पालन के लिये नहीं जाना चाहिए।

स्थाना गसूत्र निर्दिष्ट सेवा आदि परिस्थितियों से जाना तो आगम सम्मत है। साधु-साध्वियों के परस्पर सम्पर्क निषेध का विशेष वर्णन बृह. उ. ३ सूत्र एक के विवेचन में देखें। उस सूत्र में परस्पर एक दूसरे के उपाश्रय में बैठने-खड़े रहने आदि अनेक कार्यों का निषेध है।

साधु-साध्वी के शरीर सम्बन्धी और उपकरण सम्बन्धी जो भी आवश्यक कार्य हो वह प्रथम तो स्वय ही करना चाहिए और कभी कोई कार्य साधु अन्य साधुओं से और साध्वियाँ अन्य साध्वियों से भी करवा सकती है, यह **विधि मार्ग** है। रोग आदि कारणों से या किसी आवश्यक कार्य में व्यस्त होने के कारण, असमर्थ होने से परिस्थितिवश विवेकपूर्वक साधु-साध्वी परस्पर भी अपना कार्य करवा सकते हैं, यह **अपवाद मार्ग** है। अतः विशेष परिस्थिति के बिना साधु-साध्वी को परस्पर कोई भी कार्य नहीं करवाना चाहिए। इन सूत्रों में पारस्परिक व्यवहारों के निषेध का मुख्य कारण यह है कि इन प्रवृत्तियों से अति सम्पर्क, मोहवृद्धि होने से कभी ब्रह्मचर्य में असमाधि उत्पन्न हो सकती है और इस प्रकार के परस्पर अनावश्यक अति सम्पर्क को देखकर जन साधारण में कई प्रकार की कुश काएँ उत्पन्न हो सकती है।

अतः सूत्रोक्त विधान के अनुसार ही साधु-साध्वियों को आचरण करना चाहिए एव परस्पर सेवा या आलोचना आदि नहीं करना या नहीं करवाना चाहिए।

परस्पर किये जाने वाले सेवा-कार्य :– (१) आहार-पानी लाकर देना या लेना अथवा निमन्त्रण करना। (२) वस्त्र, पात्र आदि उपकरणों की याचना करके लाकर देना या स्वय के याचित उपकरण देना। (३) उपकरणों का परिकर्म कार्य-सीना, जोड़ना, रोगानादि लगाना। (४) वस्त्र, रजोहरण आदि धोना। (५) रजोहरण आदि उपकरण बनाकर देना। (६) प्रतिलेखन आदि कर देना।

इत्यादि अनेक कार्य यथासम्भव समझ लेने चाहिए, जिन्हें आगाढ़ परिस्थितियों के बिना परस्पर करना-करवाना साधु-साध्वियों को नहीं कल्पता है एव करने-करवाने पर गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

आचार्य आदि पदवीधरों के भी प्रतिलेखना आदि सेवा कार्य केवल भक्ति प्रदर्शित करने के लिये साध्विया नहीं कर सकती है। यदि आचार्य आदि इस तरह साध्वियों से अपना कार्य अकारण करवावें तो वे भी गुरु चौमासी प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं।

तात्पर्य यह है कि साथ में रहने वाले साधु जो सेवा कार्य कर सकते हों तो साध्वियों से नहीं कराना चाहिए उसी प्रकार साध्वियों को भी जब तक अन्य साध्विया करने वाली हों तब तक साधुओं से अपना कोई भी कार्य नहीं करवाना चाहिए।

प्रकरण-१८ : गीतार्थ बहुश्रुत के बिना रहने का निषेध

(व्यव॰ उद्दे॰-६, सूत्र-४, ५) इन सूत्रों में आचारा ग एव निशीथ सूत्र अर्थ सहित क ठस्थ धारण नहीं करने वाले अबहुश्रुत भिक्षुओं को 'अगड़सुय' अकृतसूत्र कहा गया है अर्थात् प्रमुख बनकर विचरण करने की योग्यता प्राप्ति के लिए आवश्यक, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आचारा ग और निशीथ सूत्र का अध्ययन एव क ठस्थ धारण नहीं करने वाला भिक्षु आगमिक शब्दों में **'अगड़सुया'** कहा गया है। ऐसे एक या अनेक भिक्षुओं के विचरण करने का निषेध उद्देशक तीन के प्रथम सूत्र में किया गया है। प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि किसी ग्रामादि में ऐसे अकृतसूत्री भिक्षुओं को छोड़कर बहुश्रुत भिक्षु अन्यत्र चला जाय तो वे अगीतार्थ श्रमण वहाँ रह भी नहीं सकते।

इसी विषय को उपाश्रय की अवस्थिति के विकल्पों से सूत्र में स्पष्ट किया गया है– यदि उपाश्रय में निकलने का तथा उसमें प्रवेश करने का मार्ग एक ही हो तो वहाँ 'अगड़सुयों' (अगीतार्थों) को एक दिन भी रहना नहीं कल्पता है।

यदि उस उपाश्रय में जाने के अनेक मार्ग हो तो अगीतार्थों को एक या दो दिन रहना कल्पता है। तीसरे दिन रहने पर उन्हें प्रायश्चित्त आता है।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक योग्य भिक्षु को यथासमय बहुश्रुत होने योग्य श्रुत का अध्ययन कर एव उन्हें क ठस्थ धारण कर पूर्ण योग्यता सम्पन्न हो जाना चाहिए, जिससे यथावसर विचरण एव गणधारण आदि किये जा सके। क्यों कि इन सूत्रों में अनेक अबहुश्रुतों को साथ में रहने एव विचरण करने का स्पष्टतः निषेध किया गया है और साथ ही इस मर्यादा को भ ग करने वालों को प्रायश्चित्त का पात्र कहा गया है।

अतः प्रत्येक नवदीक्षित योग्य भिक्षु का एव उनके गण प्रमुख आचार्य, उपाध्याय आदि का यह आवश्यक कर्तव्य है कि वे अन्य रुचियों एव प्रवृत्तियों को प्रमुखता न देकर आगमोक्त अध्ययन अध्यापन को प्रमुखता देवे एव स यमविधियों में पूर्ण कुशल बनने व बनाने का ध्यान रखें। आचार कुशल एव श्रुतसम्पन्न बने बिना किसी भी भिक्षु को अलग विचरने में या अन्य कार्यो में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए।

अध्ययन सम्बन्धी आगम सम्मत अनेक प्रकार की जानकारी इसी पुष्प के प्रार भ में दी गई है। उसका ध्यानपूर्वक अध्ययन मनन कर आगमानुसार शास्त्र अध्ययन करने एव करवाने का प्रमुख लक्ष्य बनाना चाहिए। ऐसा करने पर जिनाज्ञा का यथोक्त पालन हो सकता है तथा साधक आत्माओं का एव जिनशासन का सर्वतोमुखी विकास हो सकता है।

प्रकरण-१९ : सम्भोग विच्छेद कब

(व्यव॰ उद्दे॰-७, सूत्र-३,४) ठाणा ग सूत्र अ॰ ३ तथा अ॰ ९ में सम्भोग विच्छेद करने के कारण कहे गये हैं और भाष्य में भी ऐसे अनेक कारण कहे हैं। उनका सरा श यह है कि– १. महाव्रत, समिति, गुप्ति एव गण समाचारी में उपेक्षापूर्वक चौथी बार दोष लगाने पर, २. पार्श्वस्थ आदि के साथ बार-बार स सर्ग करने पर तथा, ३. गुरु आदि के प्रति

विरोधभाव रखने पर उस साधु-साध्वी के साथ सम्बन्ध विच्छेद कर दिया जाता है।

प्रकरण-२० : वृद्धावस्था का एकल विहार

(व्यव॰ उद्दे॰-८, सूत्र-५) इस सूत्र में ऐसे एकाकी विचरण करने वाले भिक्षु का वर्णन है जो कि आचारा ग श्रु॰१, अ॰६, उ॰२; सुय॰ श्रु॰१, अ॰१०; उत्तरा॰ अ॰३२, गा॰ ५ तथा दशवै॰ चू॰ २, गा॰ १० में निर्दिष्ट सपरिस्थितिक एकल विहारी है। साथ ही शरीर की अपेक्षा वृद्ध या अतिवृद्ध है, स्थविरकल्पी सामान्य भिक्षु है और कर्म स योग से वृद्धावस्था तक भी वह अकेला रहकर यथाशक्ति स यम पालन कर रहा है।

शारीरिक कारणों से उसे अनेक औपग्रहिक उपकरण रखने पड़ रहे हैं, उन सभी उपकरणों को साथ लेकर गोचरी आदि के लिए वह नहीं जा सकता है। उसे असुरक्षित स्थान रहने को मिला हो तो वहाँ उन उपकरणों को छोड़कर जाने पर बच्चे या कुत्ते उन्हें तोड़-फोड़ दे या लेकर चले जाएं अथवा चोर चुरा ले इत्यादि कारणों से सूत्र में यह विधान किया गया है कि वह वृद्ध भिक्षु अपने उपकरणों की सुरक्षा के लिए किसी को नियुक्त करके जाए या पास में ही कोई बैठा हो तो उसे सूचित करके जाए और पुनः आने पर उसे सूचित कर दें कि 'मैं आ गया हूँ' उसके बाद ही उन उपकरणों को ग्रहण करे।

शारीरिक स्थितियों से विवश अकेले वृद्ध भिक्षु के लिए भी इस सूत्र में जो अपवादों का विधान किया गया है इससे यह स्पष्ट होता है कि सूत्रकार की या जिनशासन की अत्यन्त उदार एव अनेका त दृष्टि है किन्तु आजकल के जिनमतानुयायी ऐसी आत्माओं के प्रति निर्दयवृत्ति एव घृणा की भावना रखते हैं यह अफसोस की बात है।

सूत्रोक्त वृद्ध भिक्षु चलते समय सहारे के लिए द ड़ या लाठी रखता है, गर्मी आदि से रक्षा के लिए छत्र रखता है। मल-मूत्र कफ आदि विकारों के कारण अनेक मात्रक रखता है, मिट्टी के घड़े आदि भाँड़ भी रखता है, अतिरिक्त वस्त्र-पात्र रखता है, मच्छर आदि के कारण मच्छरदानी भी रखता है, बैठने में सहारे के लिए भृसिकाकाष्ट आसन रखता है, चर्मख ड़, चर्मकोष(जूता आदि) एव चर्मछेदक भी रखता है अर्थात् अपने आवश्यक उपयोगी कोई भी उपकरण रखता

है, उनमें से जिन उपकरणों की गोचरी जाने के समय आवश्यकता न हो, उनके लिए सूत्र में यह विधान किया गया है।

विशिष्ट साधना वाले पड़िमाधारी या जिनकल्पी भिक्षु इन औपग्रहिक उपकरण रखने आदि के अपवादों का सेवन नहीं करते हैं और गच्छगत भिक्षु की ऐसी सूत्रोक्त परिस्थिति होना स भव भी नहीं है। क्यों कि गच्छ में अनेक वैयावृत्य करने वाले होते हैं।

अतः परिस्थितिवश सामान्य बहुश्रुत भिक्षु भी जीवन पर्यन्त एकाकी रहकर यथाशक्ति स यम मर्यादा का पालन करते हुए विचरण कर सकता है, यह इस सूत्र से स्पष्ट होता है।

प्रकरण-२१ : अकेले भिक्षु का उपाश्रय

(व्यव॰ उद्दे॰-६, सूत्र-६, ७) पूर्व सूत्रद्विक में अकृतसूत्री-अगीतार्थ भिक्षुओं के निवास से सम्बन्धित कथन किया गया है और प्रस्तुत सूत्रद्धिक में बहुश्रुत-गीतार्थ अकेले भिक्षु को ग्रामादि में किस प्रकार के उपाश्रय में किस प्रकार से रहना या नहीं रहना, यह विधान किया गया है।

भाष्य में अगीतार्थ से सम्बन्धित सूत्रों का और इन एकाकी भिक्षुओं से सम्बन्धित सूत्रों का स्पष्टीकरण करते हुए इन्हें गच्छ की निश्रागत होना कहा है और 'एगवगड़ा' आदि विशेषणों को उपाश्रय से सम्बन्धित करके विस्तृत विवेचन किया गया है। किन्तु उपलब्ध प्रतियों में 'उवस्सय' शब्द लिपि दोष से छूट गया है ऐसा प्रतीत होता है। इसीलिए यहाँ 'उवस्सय' शब्द को रखते हुए अर्थ एव विवेचन किया है।

प्रस्तुत सूत्रद्धिक से यह फलित होता है कि-१. बहुश्रुत एकाकी विचरण करने वाले भिक्षु को अनेक द्वार एव अनेक मार्ग वाले उपाश्रय में निवास नहीं करना चाहिए। २. किन्तु एक द्वार एक मार्ग वाले उपाश्रय में बहुश्रुत एकाकी भिक्षु रह सकता है। ३. एकलविहारी भिक्षु को उभयकाल(सोते और उठते समय अथवा दिन में और रात्रि में) वैराग्य एव स यमगुणों को पुष्ट करने वाली धर्म-जागरणा से धर्म-भावना की वृद्धि करते हुए रहना चाहिए। ४. अल्पश्रुत अल्प आगमज्ञ-अगीतार्थ भिक्षु को किसी भी प्रकार के उपाश्रय में अकेला नहीं रहना चाहिए।

गीतार्थ बहुश्रुत भिक्षु को अकेला रहना तो इस सूत्र से या अन्य आगम विधानों से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है, तथापि किस उपाश्रय में निवास करना या न करना अथवा किस तरह जागरूक रहना, यह विधान करना इन सूत्रों का आशय है।

विभिन्न प्रकार के उपाश्रयों में गीतार्थ भिक्षु के अकेले रहने पर अथवा अनेक अगीतार्थों के रहने पर किन-किन दोषों की सम्भावना रहती है, यह समझने के लिए जिज्ञासुओं को भाष्य का अवलोकन करना चाहिए। उसी आशय का कुछ स्पष्टीकरण आगे के सूत्रों में स्वय आगमकार ने किया है।

व्यव॰ भाष्य में इस उद्देशक का सार **'मुनि माणेक'** ने गुजराती भाषा में दिया है, उसमें भी इन चारों सूत्रों का अर्थ उपाश्रय से सम्बन्धित किया है।

प्रकरण-२२ : साध्वी की स्वतन्त्र गोचरी

(व्यव॰ उद्दे॰-९, सूत्र-४०) इन सूत्रों में चार प्रतिमाओं का वर्णन किया गया है जिनकी आराधना साधु-साध्वी दोनों ही कर सकते हैं।

अ तगड़सूत्र के आठवें वर्ग में सुकृष्णा आर्या द्वारा इन भिक्षु प्रतिमाओं की आराधना करने का वर्णन है। इन प्रतिमाओं में साध्वी भी स्वय अपनी गोचरी लाती है। जिसमें निधारित दिनों तक भिक्षा दत्ति की मर्यादा का पालन किया जाता है। इन प्रतिमाओं में निर्धारित दत्तियों से कम दत्तिया ग्रहण की जा सकती है या अनशन रूप तपस्या भी की जा सकत है। किन्तु किसी भी कारण से मर्यादा से अधिक दत्ति ग्रहण नहीं की जा सकती है। इन प्रतिमाओं में उपवास आदि तप करना आवश्यक नहीं होता है, स्वाभाविक ही प्रायः सदा उणोदरी तप हो जाता है।

बृहत्कल्प उ. ५ में साध्वी को अकेले गोचरी जाने का भी निषेध किया है। अतः इन प्रतिमाओं में स्वतन्त्र गोचरी लाने वाली साध्वी के साथ अन्य साध्वियों को रहना आवश्यक है, किन्तु गोचरी तो वह स्वय ही अपनी अकेली की करती है।

इन प्रतिमाओं को भी सूत्र में **'भिक्षु प्रतिमा'** शब्द से ही सूचित किया गया है। फिर भी इनको धारण करने में बारह भिक्षु प्रतिमाओं के समान विशिष्ट योग्यता की आवश्यकता नहीं होती है।

जब साध्वी भी गच्छ में रहते हुए स्वतन्त्र गोचरी एव अभिग्रह आदि कर सकती है तब गच्छ में रहते हुए साधुओं का स्वतन्त्र गोचरी एव अभिग्रह आदि करना स्वतः सिद्ध हो जाता है। अनेक आगमों में साधुओं के स्वतन्त्र गोचरी जाने के वर्णन भी मिलते हैं। अतः आज्ञा पूर्वक स्वतन्त्र गोचरी करना दूषण नहीं है अपितु विशिष्ट स यम उन्नति का गुण ही है, ऐसा समझना चाहिए। आजकल अलग गोचरी को एका त अवगुण की दृष्टि से देखा जाता है वह उचित नहीं है।

प्रकरण-२३ : गोचरी गमन विवेक

(व्यव॰ उद्दे॰-६, सूत्र-१) इस सूत्रा श में यह बताया गया है कि पारिवारिक लोगों के घर में गोचरी के लिए प्रवेश करने के बाद कोई भी खाद्य-पदार्थ निष्पादित हो या चूल्हे पर से चावल-दाल या रोटी, दूध आदि कोई भी खाद्य पदार्थ हटाया जाए तो उसे नहीं लेना चाहिए। उस पदार्थ के हटाने में साधु का निमत्त हो या न हो, ज्ञात कुल में ऐसे पदार्थ अगाह्य हैं। वहाँ घर में प्रवेश करने के पहले ही जो पदार्थ निष्पन्न हो या चूल्हे पर से उतरा हुआ हो वही लेना चाहिए।

अपरिचित या अल्पपरिचित घरों में उक्त पदार्थ लेने का सूत्र में निषेध नहीं है। इसका कारण यह है कि अनुरागी ज्ञातिजन आदि भक्तिवश कभी साधु के निमित्त भी यह प्रवृत्ति कर सकते हैं जिससे अग्निकाय की विराधना होना स भव है किन्तु अल्पपरिचित या अल्प अनुरागी घरों में उक्त दोष की स भावना नहीं रहती है। अतः उन कुलों में उक्त नियम की उपयोगिता नहीं है। इसीलिए यह विधान आगमों में अनेक स्थलों में केवल ज्ञातिजनों के कुल के साथ ही जोड़ा गया है। स्वतन्त्र रूप से नहीं कहा गया है।

प्रकरण-२४ : क्षमापना भाव

(व्यव॰ उद्दे॰-७, सूत्र-११, १२) क्षमापना का धार्मिक जीवन में इतना अधिक महत्व है कि यदि किसी के साथ क्षमापना भाव न आए और ऐसे भावों में काल धर्म प्राप्त हो जाय तो वह विराधक हो जाता है।

यह क्षमापना, द्रव्य एव भाव के भेद से दो प्रकार का है-(१) द्रव्य से- यदि किसी के प्रति नाराजगी का भाव या रोषभाव हो तो उसे प्रत्यक्ष में कहना कि- 'मैं आपको क्षमा करता हूँ और आपके प्रति

प्रसन्न-भाव धारण करता हूँ।' यदि कोई व्यक्ति किसी भी भूल के कारण रूष्ट हो तो उससे कहना कि- 'मेरी गलती हुई आप क्षमा करें, पुनः ऐसा व्यवहार नहीं करूँगा।'(२) भाव से- शान्ति सरलता एव नम्रता से अपने हृदय को पूर्ण पवित्र बना लेना चाहिए।

इस प्रकार भावों की शुद्धि एव हृदय की पवित्रता के साथ व्यवहार से क्षमा करना और क्षमा मा गना यह पूर्ण क्षमापना विधि है। परिस्थितिवश ऐसा सम्भव न हो तो बृह॰ उ॰-१, सू॰-३४ के अनुसार स्वय को पूर्ण उपशा त कर लेने से भी आराधना हो सकती है, किन्तु यदि अ तर हृदय में शान्ति, शुद्धि न हुई हो तो बाह्य विधि से स लेखना, १५ दिन का स थारा और क्षमापना कर लेने पर भी आराधना नहीं हो सकती है, ऐसा भगवती सूत्र श॰-१३, उ॰-६ में आये अभीचिकुमार के वर्णन से स्पष्ट होता है। अतः स्वय के अ तर हृदय की शुद्धि, उपशा ति एव कषाय कलुष भावों की या नाराजी के भावों की पूर्ण निवृत्ति होना परमावश्यक है। ऐसा होने पर ही द्रव्य भाव से परिपूर्ण क्षमापना हो सकती है।

प्रकरण-२५ : च द्र प्रतिमाओं के विशिष्ट नियम

(व्यव॰ उद्दे॰-१०, सूत्र-१, २) ये दोनों च द्र प्रतिमाएँ विशिष्ट योग्यता वाला भिक्षु ही धारण कर सकता है। इन प्रतिमाओं में आहार पानी की दत्तियाँ सूत्रानुसार क्रमशः घटाते-बढ़ाते हुए ग्रहण की जाती है। आहार पानी की दत्तियों की स ख्या के साथ-साथ इन प्रतिमाओं को धारण करने वाले भिक्षु को निम्नलिखित नियमों का पालन करना जरूरी होता है-(१) शारीरिक ममत्व का त्याग करना अर्थात् नियमित परिमित आहार के अतिरिक्त औषध भेषज के सेवन का और सभी प्रकार के शरीर परिकर्म का त्याग करना। (२) देव मनुष्य या तिर्यंच द्वारा किए गए उपसर्गो का प्रतिकार न करना और न उनसे बचने का प्रयत्न करना। (३) किसी के व दन या आदर सत्कार किये जाने पर प्रसन्न न होना अपितु समभाव में लीन रहना। (४) जिस मार्ग में या जिस घर के बाहर पशु या पक्षी हों तो पशुओं के चारा चर लेने के बाद और पक्षियों के चुग्गा चुग लेने के बाद पड़िमाधारी को आहार लेने के लिए घर में प्रवेश करना। (५) पड़िमाधारी के आने की सूचना या जानकारी न हो या उनकी कोई प्रतीक्षा न करता हो ऐसे अज्ञात घरों से आहार ग्रहण करना।

(६) ऊँछ-विगयरहित रूक्ष आहार ग्रहण करना। (७) शुद्धोपहृत-लेप रहित आहारादि ग्रहण करना। (८) अन्य भिक्षु, श्रमणादि जहाँ पर खड़े हो वहाँ भिक्षा के लिये न जाना। (९) एक व्यक्ति का आहार हो उसमें से लेना अधिक व्यक्तियों के आहार में से नहीं लेना। (१०) किसी भी गर्भवती स्त्री से भिक्षा न लेना। (११) जो छोटे बच्चे को लिए हुए हो उससे भिक्षा न लेना। (१२) जो स्त्री बच्चे को दूध पिला रही हो उससे भिक्षा न लेना। (१३) घर की देहली के अतिरिक्त अन्य कहीं पर भी खड़े हुए से भिक्षा नहीं लेना। (१४) देहली के एक पाँव अ दर और एक पाँव बाहर रखकर बैठे हुए या खड़े हुए दाता से भिक्षा ग्रहण करना।

एषणा के ४२ दोष एव अन्य आगमोक्त सभी विधियों का पालन करना तो इन प्रतिमाधारी के लिए भी आवश्यक ही समझना चाहिये। इन दोनों चन्द्र प्रतिमाओं की आराधना एक-एक मास में की जाती है।

प्रकरण-२६ : उणोदरी तप विश्लेषण

(व्यव॰ उद्दे॰-८, सूत्र-१७) भगवती सूत्र श॰-७ तथा श॰-२५ एव उववाई सूत्र में भी ऊनोदरी तप के विषय में वर्णन है। 'आहार ऊणोदरी' के स्वरूप के साथ ही वहाँ उपकरण ऊणोदरी आदि भेदों का भी वर्णन किया गया है।

उत्तरा॰ अ॰-३० के तप वर्णन में आहार ऊणोदरी का ही कथन किया गया है। उपकरण ऊणोदरी आदि भेदों की विवक्षा वहाँ नहीं की है। वहाँ पर आहार ऊणोदरी के ५ भेद कहे हैं- (१) द्रव्य (२) क्षेत्र (३) काल (४) भाव और (५) पर्याय।

(१) द्रव्य से- अपनी पूर्ण खुराक से कम खाना, (२) क्षेत्र से- ग्रामादि क्षेत्र सम्बन्धी अभिग्रह करना अथवा भिक्षाचारी में भ्रमण करने के मार्ग का पेटी आदि छः आकार में अभिग्रह करना। (३) काल से- गोचरी लाने व खाने का पहर, घंटा आदि रूप में अभिग्रह करना। (४) भाव से- घर में रहे पदार्थो से या स्त्री पुरुषों के वर्ण, वस्त्र, भाव आदि से अभिग्रह करना। (५) पर्याय से- उपरोक्त द्रव्यादि चार प्रकारों में से एक-एक का अभिग्रहण करना उन-उन भेदों में समाविष्ट है और इन चार में से अनेक अभिग्रह एक साथ करना 'पर्याय ऊणोदरी' है।

प्रस्तुत सूत्र में इन पाँचों में से केवल प्रथम द्रव्य उणोदरी का निम्न पाँच भेदों द्वारा वर्णन किया गया है।

(१) अल्पाहार- एक कवल, दो कवल यावत् आठ कवल प्रमाण आहार करने पर अल्पाहार ऊणोदरी होती है।

(२) अपार्ध ऊणोदरी- नौ से लेकर बारह कवल अथवा पन्द्रह कवल प्रमाण आहार करने पर आधी खुराक से कम आहार किया जाता है। उसे 'अपार्द्ध ऊणोदरी' कहते हैं अर्थात् पहली अल्पाहार रूप ऊणोदरी है और दूसरी आधी खुराक से कम आहार करने रूप ऊणोदरी है।

(३) द्विभाग प्राप्त ऊणोदरी(अर्द्ध ऊणोदरी)- १६ कवल प्रमाण आहार करने पर अर्द्ध खुराक का आहार किया जाता है जो पूर्ण खुराक के चार भाग विवक्षित करने पर दो भाग रूप होती है। अतः इसे सूत्र में द्विभाग प्राप्त 'ऊणोदरी कहा है और दो भाग की ऊणोदरी होने से इसे' 'अर्द्ध ऊणोदरी' भी कह सकते हैं।

(४) त्रिभाग प्राप्त-अ शिका ऊणोदरी- २४ कवल(२७ से ३० कवल) प्रमाण आहार करने पर त्रिभाग का आहार होता है और एक भाग आहार की ऊणोदरी होती है। इसके लिए सूत्र में 'अ शिका ऊणोदरी' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसमें आहार के चार भाग में से तीन भाग का आहार किया जाता है। अतः यह त्रिभाग प्राप्त आहार रूप ऊणोदरी है। अथवा इसे 'पाव ऊणोदरी' भी कह सकते हैं। इस स्थल पर लिपि दोष से प्रतियों में पाठ भेद हो गये हैं। अतः यहाँ अन्य आगमों से पाठ सुधारा गया है। प्रतियों में **'ओमोयरिए' 'पत्तोमोयरिए'** ऐसे पाठ उपलब्ध होते हैं।

(५) कि चित् ऊणोदरी- ३१ कवल प्रमाण आहार करने पर एक कवल की ही ऊणोदरी होती है जो ३२ कवल आहार की अपेक्षा अल्प होने से इसे 'कि चित् ऊणोदरी' कहा गया है।

सूत्र के अ तिम अ श से यह स्पष्ट किया गया है कि इन पाँच में से किसी भी प्रकार की ऊणोदरी करने वाला भिक्षु 'प्रकामभोजी' (भरपेट खाने वाला) नहीं होता। ३२ कवल रूप पूर्ण आहार करने वाला 'प्रमाण प्राप्त भोजी' कहा गया है। उसके कि चित् भी ऊणोदरी नहीं होती है।

भिक्षु को इन्द्रिय स यम एव ब्रह्मचर्य समाधि के लिए सदा ऊणोदरी तप करना आवश्यक है अर्थात् उसे कभी भरपेट आहार नहीं करना चाहिए।

आचा॰ श्रु॰-१, अ॰-९, उ॰-४ में भगवान महावीर स्वामी के आहार-विहार का वर्णन करते हुए कहा गया है कि भगवान स्वस्थ अवस्था में भी सदा ऊणोदरी तप युक्त आहार करते थे। यथा- **'ओमोयरिय चाएइ, अपुट्ठे वि भगव रोगेहिं।'** नीति में भी कहा गया है कि-

स त सती ने सूरमा, चौथी विधवा नार।
एता तो भूखा भला, धाया करे बिगाड़॥

प्रस्तुत सूत्र में कवल प्रमाण को स्पष्ट करने के लिए 'कुक्कुटि-अ ड़कप्रमाण' ऐसा विशेषण लगाया गया है। इस विषय में व्याख्या ग्रन्थों में इस प्रकार स्पष्टीकरण किये गये हैं-

(१) निजकस्याहारस्य सदा यो द्वात्रिंशत्तमो भागो तत् कुक्कुटी प्रमाणे- अपनी आहार की मात्रा का जो सदा बत्तीसवा भाग होता है वह कुक्कुटी अ ड़क प्रमाण अर्थात् उस दिन का कवल कहा जाता है। **(२)** कुत्सिता कुटी-कुक्कुटी शरीरमित्यर्थः। तस्याः शरीर रूपायाः कुक्कुट्या अ ड़कमिव अ ड़क-मुख।=अशुचि मय यह शरीर ही कुक्कुटी है, उसका जो मुख है वह कुक्कुटी का अ ड़क कहा गया है। **(३)** यावतप्रमाणमात्रैण मुखे प्रक्षिप्यमाणेन मुख न विकृत भवति तत्स्थल कुक्कुट अ ड़क-प्रमाणम्।=जितना बड़ा कवल मुख में रखने पर मुख विकृत न दिखे उतने प्रमाण का एक कवल समझना चाहिए। उस कवल के समावेश के लिए जो मुख का भीतरी आकार बनता है। उसे कुक्कुटी अ ड़क प्रमाण समझना चाहिए। **(४)** अयमन्यः विकल्पः कुक्कुट अ ड़कोपमे कवः=अथवा कुक्कुड़ी के अण्ड़े के प्रमाण जितना कवल, यह भी अर्थ का एक विकल्प है। 'ऊणोयरिया'- ***अभि॰ रा॰ कोष भाग-२, पृ॰-११३२।***

उपर्युक्त तीन व्याख्यास्थलों पर विचार करने से यह ज्ञात होता है कि 'कुक्कुड़िअड़ ग' इतना शब्द न होने पर भी सूत्राशय स्पष्ट हो जाता है और यह शब्द भ्रमोत्पादक भी है।

अतः यह शब्द कभी किसी के द्वारा प्रक्षिप्त किया गया हो व्याख्याकारों ने इसे मौलिक पाठ समझ कर ज्यों-त्यों करके स गति करने की कोशिश की हो।

व्याख्या में यह भी कहा गया है कि एक दिन पूर्ण आहार करने वाला 'प्रकामभोजी' है अनेक दिन पूर्ण आहार करने वाला 'निकामभोजी' है और ३२ कवल से भी अधिक खाने वाला 'अतिभोजी' है।

श का- यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है बत्तीस कवल के आहार से जो यह सम्पूर्ण माप कहा गया है वह प्रत्येक बार के भोजन की अपेक्षा से है या अनेक बार के भोजन की अपेक्षा से ? तथा दूध छाछ आदि पेय पदार्थो का समावेश इन ३२ कवल में किस प्रकार होता है।

समाधान- आचारशास्त्रों के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि दिन में एक बार भोजन करना ही भिक्षु का शुद्ध उत्सर्ग आचार है। आगमों में अनेक जगह अन्य समय में आहार करने का जो विधान है उसे आपवादिक विधान समझना चाहिए। आपवादिक आचरण को सदा के लिए प्रवृत्ति रूप में स्वीकार कर लेना शिथिलाचार है। अतः कारणवश अनेक बार या सुबह-शाम आहार करना ही अपवाद मार्ग है। उत्सर्ग मार्ग तो एक बार खाने का ही है। अतः आगमोक्त एक बार के औत्सर्गिक आहार करने की अपेक्षा यह विधान है।

जितने आहार से पेट पूर्ण भर जाय, पूर्ण तृप्ति हो जाय अथवा जिससे भूख रहने का या और कुछ खाने का मन न हो, ऐसी सम्पूर्ण मात्रा कवल में विभाजित कर लेना चाहिए। इसमें दूध, रोटी, फल आदि सभी को समाविष्ट समझना चाहिए। अनुमान से जितने-जितने कवल प्रमाण भूख रखी जाय उतनी-उतनी उणोदरी समझनी चाहिए।

सामान्यतया उत्सर्ग मार्ग से भिक्षु का आहार विगय रहित होता है। अतः रोटी आदि की अपेक्षा ३२ कवल समझना और भी सरल हो जाता है।

इसी के आधार से यह फलित होता है कि कारण से अनेक बार किए जाने वाले आहार का कुल योग ३२ कवल होना चाहिए। अतः अनेक बार आहार करना हो तो ३२ कवलों को विभाजित करके समझ लेना चाहिए।

अनेक दिनों तक एक वक्त विगय रहित सामान्य आहार करके कुल खुराक का माप रोटी की स ख्या में कायम किया जा सकता है। फिर उसे योग्य अनुमान के द्वारा अन्य आहार में विभाजित कर लेना चाहिए। छाछ और पानी को आहार में नहीं गिनना चाहिए।

✲ ✲ छेद सूत्र परिशिष्ट ख ड़ एक स पूर्ण ✲ ✲

छेदसूत्र परिशिष्ट, ख ड-२ : विषय सूची

प्रकरण	पृष्ट
१. प्रतिलेखन के समय का परिज्ञान	२१५
२. पात्र प्रतिलेखन दो बार (सप्रमाण)	२१७
३. रजोहरण गोच्छग की प्रतिलेखना विवेक	२२२
४. सूई आदि उत्तरकरण के सूत्रों का मर्म	२२३
५. धातु के उपकरण ग्रहण धारण स वाद	२२४
६. धोवण पानी और गर्म पानी का ज्ञान विज्ञान	२२९
७. मकान एव पाट की शुद्ध गवेषणा सीखो	२३७
८. ऊपर की म जिल में ठहरना एव ड़ोरी पर कपड़ा सुखाना	२४१
९. अकल्पनीय शय्या उपाश्रय	२४३
१०. निवास स ब धी कल्प मर्यादा और अपवाद विचार	२४४
११. भिक्षु का नौका विहार एव वाहन उपयोग	२४६
१२. स्त्री परिषद में रात्रि व्याख्यान विचारणा	२४८
१३. पात्र के ब धन सूत्रों का वास्तविक आशय	२५०
१४. पुस्तक रखने स ब धी सत्य हकीकत	२५१
१५. अनुकम्पा में दोष के भ्रम का निवारण	२५३
१६. स भोग प्रत्ययिक क्रिया का अस्तित्व	२५५
१७. अनुमोदन क्रिया का स्पष्टीकरण	२५६
१८. सचित्त धान्य खाने का प्रायश्चित्त	२५६
१९. अचित्त नमक और आहार-अणाहार, रात्रि भोजन परिज्ञान	२५८
(विड़लवण और उद्भिज लवण का वास्तविक अर्थ)	
२०. गृहस्थ के बर्तन में खाना और वस्त्र धोना	२५९
२१. सरीखे ५४ सूत्रों का स कलनात्मक परिचय	२६०
२२. द त म जन सम्बन्धी उत्सर्ग अपवाद और विवेक ज्ञान	२६२
२३. मैल परीषह जीतने के उत्सर्ग अपवाद का विवेक ज्ञान	२६३
२४. विभूषा वृत्ति सम्बन्धी ज्ञान विज्ञान	२६४
२५. मस्तक ढ़ा कने का प्रायश्चित्त विधान	२६६
२६. साधु साध्वियों के भ ड़ोपकरणों का ज्ञान विज्ञान	२६७
(१६ उपकरणों का चर्चा प्रमाण सहित व्याख्यान)	
२७. गुरू आदि की सूत्रोक्त आशातनाओं में अपवाद	२८६
२८. पूर्व ज्ञान के बिना एकलविहार (आगम प्रमाण)	२८६

चार छेद सूत्र : परिशिष्ट ख ड़-२

[नोट-इस परिशिष्ट में सभी प्रकरण निशीथ सूत्र स ब धित है।]

प्रकरण-१ : प्रतिलेखन के समय का परिज्ञान

दोनों समय प्रतिलेखन (निशीथ उद्दे॰२, सूत्र-५७) : साधु को अपने सभी उपकरणों की उभयकाल प्रतिलेखना करना आवश्यक है। छोटे से उपकरण की प्रतिलेखना में भी यदि उपेक्षा करे तो उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

चूर्णिकार ने प्रतिलेखन नहीं करने से जीवों की विराधना एव बिच्छु आदि से आत्मविराधना आदि अनेक दोष कहे हैं। अ त में उपस हार करते हुए कहा है कि- **जम्हा एते दोसा तम्हा सव्वोवहि दुस झ पड़िलेहियव्वो।- *नि. भा. गा. १४३६ । अर्थ-*** जब इतने दोष है तो भिक्षु को सभी उपकरणों की दोनों समय प्रतिलेखना अवश्य करनी चाहिए।

प्रतिलेखन प्रार भ का समय- भाष्यकार ने प्रतिलेखन का समय जिनकल्पी के लिये सूर्योदय के बाद का ही कहा है किन्तु स्थविरकल्पी सूर्योदय के कुछ समय पूर्व भी प्रतिलेखना कर सकते हैं, ऐसा कहा है।

गाथा-१४२५ में कहा गया है कि सूर्योदय से पूर्व निम्नोक्त दस प्रकार की उपधियों का प्रतिलेखन किया जा सकता है-

मुहपत्तिय रयहरणे, कप्पतिग णिसेज्ज चोलपट्टे य ।
स थारुत्तरपट्टे य, पेक्खिते जहुग्गमे सूरे ॥

मुँहपत्ति, रजोहरण, तीन चद्दर, दो निषद्या, चोलपट्टक, स थारा व उत्तरपट्ट, इन दस की प्रतिलेखना होने पर सूर्योदय हो। चूर्णि में 'अण्णे भणति' ऐसा कहकर ग्यारहवाँ 'द ड़' भी कहा गया है।

सम्भव है कि यह गाथा तेरहवीं शताब्दी के बाद रचे गये धर्मप्रज्ञप्ति आदि किसी ग्रन्थ से यहाँ ली गई हो। क्यों कि उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २६ गा. ८ व २१ में सूर्योदय होने पर प्रतिलेखन करने का स्पष्ट विधान है तथा उपरोक्त गाथा १४२५ के पूर्व स्वय भाष्यकार

ने दो गाथाओं में कहा है कि रात्रि में प्रतिलेखना नहीं हो सकती है। वे गाथाएँ ये हैं-

पड़िलेहण पप्फोड़ण, पमज्जणा चेव दिवसओ होंति ।
पप्फोड़णापमज्जण, रत्तिंपड़िलेहणाणत्थि ॥१४२२॥

पड़िलेहणा पमज्जण, पायादीवाण दिवसओ होइ ॥
रत्तिंपमज्जणापुण, भणियापड़िलेहणाणत्थि ॥१४२३॥

चूर्णि-राओ व पप्फोड़ण, पमज्जणा य दो स भव ति, पड़िलेहणा न सम्भवति, अचक्खुविसयाओ ।

यहाँ अत्यधिक स्पष्ट किया गया है कि प्रतिलेखना दिन में ही होती है, रात्रि में नहीं। अतः सूर्योदय पूर्व १० प्रकार की उपधि की प्रतिलेखना का उपरोक्त भाष्य गा॰ १४२५ का निर्देश स देहास्पद है। अर्थात् अन्य ग्रन्थों से प्रक्षिप्त है या अपवाद परिस्थिति को उत्सर्ग रूप दे दिया गया है।

इस प्रमाण में रात्रि प्रतिक्रमण आदि के समय वार वार मुँहपति की प्रतिलेखना करना भी उचित नहीं है। अतः वैसी प्रवृति तो प्रतिलेखना की विड़ बना करना ही है एव निरर्थक का प्रमाद रूप नाटक मात्र है।

उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन २६ गाथा २३ में मु हपत्ति-प्रतिलेखना के बाद गोच्छग की प्रतिलेखना करने का स्पष्ट निर्देश है, जबकि इस १० उपधि में गोच्छग का कथन ही नहीं किया गया है किन्तु उसे पोन पोरसी बाद पात्र के प्रतिलेखन के साथ रखा है । इस कारण से भी उत्तराध्ययनसूत्र के मूल पाठ से गाथा १४२५ के कथन की स गति नहीं होती है।

उत्तराध्ययन अ॰ २६ व भाष्य गाथा १४२६ में बताया है कि पात्र प्रतिलेखना दिन की प्रथम पोरसी के चतुर्थ भाग के अवशेष रहने पर करना चाहिए और चरम पोरसी के प्रार भ में ही पात्र प्रतिलेखन करके बाँध कर रख देना चाहिए। उसके बाद शेष उपकरणों की भी प्रतिलेखना करके फिर स्वाध्याय करना चाहिए। **एस पढ़म-चरमपोरिसीसु कालो, तव्विरीओ अकालो पड़िलेहणाए ॥**

इस तरह दिन की प्रथम और चतुर्थ पोरिषी प्रतिलेखन का काल है और शेष ६ पोरिषी (४ रात्रि की व दो दिन की) प्रतिलेखना

के लिए अकाल है। इस व्याख्या से भी सूर्योदय के पूर्व रात्रि की अ तिम पोरिषी का समय प्रतिलेखन का अकाल सिद्ध होता है।

सार–सूर्योदय के पहले प्रतिलेखन की पर परा जिन गच्छों में प्रचलित है वह आगम सम्मत्त नहीं है।

प्रकरण-२ : पात्र-प्रतिलेखन दो बार

जिन शासन आगमों के आधार पर ही सुरक्षित चल रहा है । हमारे लिए भी आज आगम ही सर्वोपरी प्रमाण भूत है। अपने आपको विद्वान समझने वाले कई लोग अपने मान्य धारणा प्रवृत्ति के मोह-दुराग्रह में आगम प्रमाणों की उपेक्षा करके धारणा, परम्परा और प्रवृत्ति को इतना आधिक महत्त्व दे देते हैं कि उनसे स्वतः आगमों की घोर आशातना हो जाती है एव सिद्धा तों के विपरीत प्ररूपणा का महापाप करते हुए भी वे अपने परम्परा और खोटी पकड़ के मोह दुराग्रह में सामान्य सा सरल विषय को भी समझ ही नहीं पाते हैं। यह भी जीव की अपनी मान कषाय के कारण होने वाली एक दुर्दशा ही है।

प्रतिलेखन साधु समाचारी का एक प्रमुख आचार है। जिसके लिए मौलिक आगम और उनकी व्याख्याओं में स्पष्ट रूप से सुबह शाम दो बार करने का विधान है। भिक्षु को अपने सभी भ ड़ोपकरणों की सुबह शाम दोनों समय प्रतिलेखना करना आवश्यक होता है।

तदनुसार पात्र भी भिक्षु के आवश्यक उपकरण है उनकी भी दोनों समय प्रतिलेखना करनी चाहिए, इसमें कोई विवाद को स्थान ही नहीं है। साथ ही साधु को जो भी उपकरण अपनी निश्राय में(पास में) रखना हो, वह उसका भण्ड़ोपकरण ही कलाएगा ओर जो भी भण्ड़ोपकरण साधु रखता है, वह शरीर स यम के उपयोग के लिए ही रखता है, उसकी प्रतिलेखना भी उसे दोनों समय करना आवश्यक समझना चाहिए क्यों कि किसी भी आगम में या उसकी व्याख्या में 'एक बार प्रतिलेखना करना' ऐसा विधान नहीं किया गया है।

कई आगम विपरीत प्रवृतिएँ तो शिथिलाचार एव प्रमाद से प्रार भ हो जाती है और कई अपवाद रूप परिस्थिति से प्रार भ होकर फिर काला तर से पर परा बन जाती है। जिसे कभी भेड़ चाल की वृति वाले दुराग्रह में ड़ालकर सिद्धा त बना देते हैं।

फिर भी न्याय का स्थान रूप हमारे प्रमाण भूत आगम मौजूद है। अतः कभी अव्यवस्था एव उतावल से छूटी हुई शाम की पात्र प्रतिलेखना के लिए प्रमाण दिये जा रहे हैं। तटस्थ विद्वान इन प्रमाणों से सही मूल्या कन करेंगे।

प्रमाणोल्लेख :–

(१) आवश्यक सूत्र– श्रमण सूत्र की तीसरी पाटी और उसकी टीका में पात्र का उल्लेख दो बार प्रतिलेखन में है।

मूल– 'उभओकाल भ ड़ोवगरणस्स अपड़िलेहणाए.....।'

टीका– तथा उभय काल =प्रथम पश्चिम पोरिषी लक्षण , भण्ड़ोपकरणस्य = पात्र-वस्त्रादे अप्रत्युप्रेक्षणया दुप्रत्युप्रेक्षणया। तत्र अप्रत्युप्रेक्षणया = मूलत एव चक्षुसा अनिरक्षणीया.... इत्यादि।

यहाँ सभी भण्ड़ोपकरणों की दो बार प्रतिलेखना करना, यह विधान किया गया है इसमें पात्र भी है और उनके वस्त्रादि भी है। अतः वस्त्र और पात्र की विधि समान समझना।

आवश्यक सूत्र उभयकाल साधुओं को छः आवश्यक सहित करना आवश्यक होता है। उसके चौथे अध्याय के उक्त मूलपाठ में दो बार प्रतिलेखन का स्पष्ट कथन है और इसकी व्याख्या में आचार्य मलयगिरि ने प्रमुख उपकरणों में वस्त्र-पात्र स्पष्ट कहे हैं। अतः पात्र की प्रतिलेखना भी दोनों समय करना यह स्पष्ट है। इसके लिए विवाद को तनिक भी स्थान हीं है। ***–आव.टीका आचार्य मलयगिरी ।***

(२) व्यवहार सूत्र– उद्देशा-८ में अधिक पात्र दूर क्षेत्र से लाने का विधान है। उसके भाष्य में एव टीका में उन पात्रों को भी दो बार प्रतिलेखन करने का कहा है। भाष्य गाथा–

ओम थणमादीण , गहणे उवहिं तहिं पउ ज ति ।
गहिए व पगास मुहे, करेंति पड़िलेह दो काले ॥२४४॥

टीका–अवम थन = अधोमुख कृत्वा प्राणादीन, खोटनेन भूमौ यतनया पातयति। अमु विधि तत्र ग्रहणे प्रयु जति। गृहिते च तानि पात्राणि प्रकाश मुखानि करोति तथा द्वौ कालौ-प्रातः अपरान्हे च प्रत्युप्रेक्षति । अ तिम वाक्य में स्पष्ट कहा कि उन पात्रों को दोनों काल सुबह शाम प्रतिलेखन करते हैं। ***–राजेन्द्र कोष 'पत्त' ४१३५ ।***

यह विधान मर्यादा से अधिक पात्र के लिये है जो काम में नहीं आ रहे हैं, केवल पड़े रहते हैं। इनकी भी दोनों समय प्रतिलेखन करने का स्पष्ट कथन है। एक बार करने का लेश मात्र भी स केत नहीं है। तो उपयोग में आने वाले पात्र के लिए एक बार की प्रतिलेखना का आग्रह और प्ररूपणा मनगढ़ त और शिथिलाचार मूलक है, इसमें कोई स देह नहीं है।

(३) निशीथ सूत्र– उद्देशा-१४ सूत्र-५ की भाष्य गाथा और चूर्णी टीका में भी स्पष्ट लिखा है कि अधिक ग्रहण किये पात्र भिक्षु रास्ते में ले जा रहा हो, उस समय काम में नहीं लेते हुए जाता है फिर भी दो बार प्रतिलेखन करे। ***-गाथा ४५५७ व चूर्णी ।***

इसमें यह कहा गया है कि जिस तरह अपने उपकरणों का दो बार प्रतिलेखन किया जाता है उसी तरह दूसरों के लिये ले जाये जाने वाले इन बाँध कर रखे हुए पात्रों की भी दो बार प्रतिलेखन करे।- ***निशीथ चूर्णी पृ. ४५५ ।***

इतने स्पष्ट १००० वर्ष प्राचीन प्रमाण के आगे अपने काम में आने वाले पात्र की भी एक बार प्रतिलेखन की प्रवृत्ति किसी प्रकार उचित नहीं हो सकती।

(४) निशीथ सूत्र– उद्देशा २ सूत्र ५९ भाष्य गाथा १४२६ के विवेचन में पात्र प्रतिलेखन के काल का वर्णन करते हुए बताया है कि- ''चरम पोरिसीएसु ओगाह तीए चेव पड़िलेहेउ निक्खिव ति। ततो सेसोवकरण , ततो सज्झाय पट्ठवेंति। आगे गाथा १४३६ के विवेचन में 'जम्हा एते दोषा तम्हा सव्वोवही दुस झ पड़िलेहियव्वो। ''

भावार्थ– चौथी पोरिषी लगते ही पात्रों का प्रतिलेखन करके बा ध कर रखना। फिर शेष उपकरणों की प्रतिलेखन करना। फिर सज्झाय करना। आगे गाथा १४३६ के विवेचन में कहा है कि जब इतने दोष स भव रहते हैं तो अवश्य ही सभी उपधि की दोनों वक्त प्रतिलेखना करनी चाहिए ***॥निशीथ चूर्णि॥***

(५) उत्तराध्ययन सूत्र- अध्ययन-२६ गाथा-३७ : चउत्थीए पोरिसीए णिक्खिवित्ताण भायण ।

टीका– चतुर्थ्यां पोरूष्या निक्षिप्य = प्रत्युप्रेक्षणा पूर्वक बध्वा, भाजन = पात्र , तत: स्वाध्याय कुर्यात्।

भावार्थ– चौथी पौरिषी लगने पर भाजनों को पात्रों को प्रतिलेखन करके बाँध कर रखे फिर स्वाध्याय करे।

नोट– ये पाँचों प्रमाण लोकाशाह से भी सेकड़ों वर्षो पूर्व के हैं।

(६) आत्मारामजी म. सा. ने भी उत्तराध्ययन सूत्र अ०२६ गा०३७ में चौथे प्रहर में पात्र प्रतिलेखन करने का लिखा है।

(७) घासीलालजी म. सा. ने भी उत्तराध्ययन सूत्र में शाम को पात्र प्रतिलेखन करने का लिखा है।

(८) कवि अमरचन्दजी म. सा. ने भी श्रमण सूत्र (विवेचन) में पृ. ९५, ९७, १०३ पर तीन जगह पात्र प्रतिलेखन दो बार करने का लिखा है।

(९) ज्ञान गच्छ के आदिकर्ता पूज्य ज्ञानचन्दजी म० सा० की समाचारी न . ३६ में पात्र प्रतिलेखन दो बार करने का लिखा है।

(१०) उन्हीं की निश्रागत पूज्यनीया श्री न दकु वर जी म. सा. की समाचारी धारणा और रिवाज प्राय: दो बार पात्र प्रतिलेखन का है।

(११) हस्तीमलजी म०सा० के स तो की धारणा दो बार पात्र प्रतिलेखन की है।

(१२) श्रमण स घ- के ''सादड़ी सम्मेलन का विधान'' - प्रस्ताव १६ में पात्र प्रतिलेखन दो बार करने का लिखा है। यह छपी हुई पुस्तक में है। पूना सम्मेलन में भी यही निर्णय हुआ है।

(१३) समर्थ स स्मरण (पृ. २८९) - पूज्य बहुश्रुत समर्थमल जी म. सा. ने सादड़ी सम्मेलन के प्रस्ताव न . १६ पर टिप्पणी लिखी वह घीसूलालजी ने समर्थ स स्मरण पृ. २८९ में छपाई है वह इस प्रकार है - प्रस्ताव १६ ''वस्त्र पात्र की दो वक्त प्रतिलेखन करना'' इस प्रस्ताव में सिर्फ वस्त्र-पात्र की प्रतिलेखना करना बताया परन्तु अन्य वस्तुओं की नहीं। अन्य वस्तुओं की प्रतिलेखना नहीं करना शास्त्र विरुद्ध है। अत: वस्त्र-पात्र के साथ ''पाट बाजोट'' शब्द और जुड़ना चाहिए था तथा दो वक्त के आगे ''पुस्तक पानों की व स्थड़िल भूमि की एक वक्त'' यह होना जरूरी था। इस समीक्षा में बहुश्रुत जी म०सा० ने वस्त्र पात्र, पाट-बाजोट की दो वक्त प्रतिलेखन करने की अपनी मान्यता स्पष्ट की है। अत: उनके नाम

से पात्रों की एक वक्त प्रतिलेखन करना कदापि उचित नहीं हो सकता। साथ ही आगम में भ ड़ोपकरण की प्रतिलेखना दो बार करने का ही विधान है एक बार का कोई उल्लेख है ही नहीं। अतः साधु को अपने सभी निजी उपकरणों की दो वक्त ही प्रतिलेखना करनी चाहिए। एक बार प्रतिलेखना को शिथिलाचार एव उत्सूत्र प्ररुपणा समझना चाहिए।

(१४) श्वे॰ मूर्ति पूजक एव श्वे॰ तेरापथी साधु समाज भी पात्र प्रतिलेखन दो बार करने के सिद्धा त को मान्य करता है।

इस प्रकार एक बार पात्र प्रतिलेखन करने का वास्तव में कोई सिद्धा त नहीं है, प्रमाण भी नहीं है। अतः यह व्यक्तिगत शिथिलाचार का आग्रह मात्र हैं।

श का समाधान– पात्र रात में काम नहीं आते हैं अतः शाम को प्रतिलेखन नहीं करना चाहिए?

उत्तर– किसी भी शास्त्र में, टीका में, भाष्य में चूर्णी में, विवेचन में, किसी भी आचार्य ने ऐसा लिखा नहीं है कि शाम को पात्र प्रतिलेखन नहीं करना किन्तु पूवाचार्यं तो प्रमाण न .२ व ३ में इसके विपरीत ही लिख रहे हैं कि बिल्कुल काम नहीं आने वाले पात्रों को भी दो वक्त प्रतिलेखन करते हुए ले जाना चाहिए और प्रमाण न .४ निशीथ में बताया कि चौथा प्रहर लगने पर पहले पात्रों की प्रतिलेखना करना, फिर शेष उपकरणों की प्रतिलेखना करके सज्झाय करना। इस तरह के ठोस प्रमाणों के समक्ष ऐसे तर्क का कोई महत्व नहीं है।

प्रवृत्ति की दृष्टि से भी यह तर्क स गत नहीं लगता है– कई साधु अनेक वस्त्र रात को काम में नहीं लेते, बाँध कर रख देते हैं। क बल भी करीब आठ महीना २४ ही घण्टे बाँधकर रखी जाती है। कई स्थिरवास स्थविरों के या बीमार साधुओं के रजोहरण पूँजणी आदि कुछ काम में नहीं आते। 'जमीन-पोंछना' रात को काम नहीं आता। इन सब के दो बार प्रतिलेखन की प्रवृत्ति और प्ररूपणा चालू है। मु हपति रात में प्रायः एक ही काम आती है शेष २-३ आदि अलग रख दी जाती है तो भी इन सबका एक बार प्रतिलेखन नहीं किया जाता है।

टिप्पण– श्री अ.भा. सुधर्म श्रावक समिति के माननीय अध्यक्ष बम्बई निवासी श्री जशव तभाइ शाह दो बार प्रतिलेखन के प्रमाणों को उचित कहते हैं।

सार– साधु को अपने सभी भ ड़ोपकरणों की सुबह शाम दो बार प्रतिलेखना करनी चाहिए। नहीं करने पर या एक बार करने पर सूत्रोक्त प्रायश्चित्त आता है। परठने की भूमि में तो दिन को देख कर ही परठा जाता है और रात्रि में परठने के लिए शाम को स ध्या समय प्रतिलेखन करने का विधान है। शयन स्थान आदि के उपयोग में आने वाले उपाश्रय के विभाग का दोनों समय प्रमार्जन प्रतिलेखन करना चाहिए।

पुनश्च– (१) शाम को चतुर्थ प्रहर में पात्र प्रतिलेखन करना और (२) पात्र की दो वक्त प्रतिलेखन करना ऐसा अनेक जगह का लिखित प्रमाण है। किन्तु पात्र प्रतिलेखन एक बार करना या शाम को पात्र प्रतिलेखन नहीं करना अथवा अविधि से स क्षेप में ही शाम को पात्र प्रतिलेखन करना, ऐसा कहीं भी नहीं लिखा है अर्थात् इसका कोई लिखित प्रमाण नहीं है।

अतः भूल सुधार कर सही निर्णय करना चाहिए। शाम को पात्र प्रतिलेखन नहीं करने को और अविधि से करने को भगवदाज्ञा का उल्ल घन समझ कर प्रायश्चित्त लेना चाहिए। तथा ऐसी प्ररूपणा करने को आगम विपरीत प्ररूपण का महादोष मानना चाहिए।

प्रतिलेखन सम्बन्धी ज्ञातव्य बातें– (१) सूर्योदय होने पर प्रतिलेखन प्रार भ करना। (२) सर्वप्रथम मुखवस्त्रिका प्रमार्जनिका(गोच्छग) की प्रतिलेखना करना फिर शेष सभी उपधि की प्रतिलेखना करना, (३) पात्र की प्रतिलेखना पौन पोरिषी आने के बाद करना। किन्तु नवकारसी में गोचरी जाना हो तो सुबह ही करना। (४) चौथा प्रहर लगते ही पात्र प्रतिलेखन कर बाँध देना। किन्तु शाम को खाना पीना हो तो उसकी व्यवस्था से करना। (५) सुबह शाम अपने खाने के स्थान की प्रतिलेखना प्रमार्जना करना। (६) शाम को सूर्यास्त के पूर्व परठने की भूमि की प्रतिलेखना करना। (७) प्रतिलेखना मौन पूर्वक एकाग्रचित से करना। शा ति से शास्त्रोक्त विधिपूर्वक ही प्रतिलेखन करना।

प्रकरण-३ : रजोहरण और गोच्छग की प्रतिलेखना का विवेक

आगम एव उनकी व्याख्या में वस्त्र पात्र की प्रतिलेखना सम्बन्धी विधि कई जगह बताई गई है किन्तु रजोहरण और गोच्छग(पूँजणी) की प्रतिलेखना किस तरह करना इसका कहीं भी वर्णन नहीं मिलता है। आजकल परम्परा से इन व्यवस्थित बँधे हुए दोनों उपकरणों को सुबह

शाम स पूर्ण खोलकर के प्रतिलेखना की जाती है। जब कि इनमें केवल फलिए बँधी हुई होती है उसे बिना खोले ही उन फलियों की प्रतिलेखना अच्छी तरह से हो सकती है। इससे प्रमार्जन भी आगे के शिरों से किया जाता है। बँधी हुई जगह में किसी भी जीवों के जाने की सम्भावना नहीं रहती। निशीथिया भी व्यवस्थित बँधा हुआ होता है।

किसी भी व्यवस्थित बँधन को खोलना भी अयतना होने से प्रमाद हैं एव प्रायश्चित्त का कारण भी है। क्यों कि निशीथ उद्देशक- २, सूत्र-८ में बँधे हुए 'पायपु छण' को खोलने का प्रायश्चित्त कहा गया है। उस सूत्र से ही अन्य व्यवस्थित बँधे उपकरणों को खोलने का भी प्रायश्चित्त समझ लेना चाहिए। उस सूत्र में 'विसुयावेई' क्रिया खोलने के अर्थ में प्रयुक्त है जिसका सही अर्थ विष्वक्करण, पृथक्करण होता है।

उस शब्द के अन्य विभिन्न अर्थो की कल्पना भी की जाती है किन्तु यहाँ उन अर्थो की बराबर स गति नहीं हो सकती है।

सार- रजोहरण पूँजणी को बिना खोले ही अच्छी तरह विवेक पूर्वक प्रतिलेखना करनी चाहिए।

प्रकरण-४ : सूई आदि के उत्तरकरण के सूत्रों का मर्म

(उद्दे०-१, सूत्र : १५ से १८) यद्यपि साधु के लिए अत्यल्प उपधि रखने का विधान है, फिर भी क्षेत्र काल के अनुसार या परिवर्तित शारीरिक स्थितियों के अनुसार कब, कहाँ, किन उपकरणों की आवश्यकता हो जाय और उस समय कदाचित् वहाँ वे उपकरण न मिलें, इस आशय से का टा निकालने के उपकरण या द तशोधनक आदि अन्य उपकरण वर्तमान में भी साथ में रखे जाते हैं।

निशीथ भाष्य गाथा-१४१३-१४१६ तथा बृहत्कल्पभाष्य गा०-४०९६-४०९९ तक आपवादिक परिस्थिति में रखे जाने वाले अनेक औपग्रहिक उपकरण सूचित किये हैं वे गाथाएँ अर्थ सहित उद्देशक १६ सूत्र ३९ के विवेचन में हैं एव इसी पुष्प में देखे। उन उपकरणों में सूई, कतरणी आदि भी है, चर्म-छत्र द ड़ भी है एव पुस्तकें आदि भी कही गई है। जो आपवादिक परिस्थिति में रखे जा सकते हैं।

ये उत्तरकरण के सूत्र भी परिस्थिति से साथ में रखे हुए औपग्रहिक उपकरण रूप सूई आदि से ही सम्बन्धित है क्यों कि एक दिन के

लिये प्रत्यर्पणीय उपकरण तो देखकर और उपयोगी होने पर ही लाया जाता है। कदाचित् भूल हो भी जाय तो उसे लौटाकर अन्य भी लाया जा सकता है। इस प्रकार की प्रत्यर्पणीय सूई, कैंची आदि की नोंक या धार गृहस्थ से करवाना और गुरूमासिक प्रायश्चित्त का पात्र बनाना, ऐसी प्रवृत्ति किसी भी भिक्षु के द्वारा करने की स भावना ही नहीं की जा सकती।

जो उपकरण सदा पास में रहते हैं, वे काम लेते-लेते जब खराब हो जाते हैं, तब उनका ही परिष्कार या सुधार स्वय करना अथवा कभी अन्य से करवाना, आवश्यक हो जाता है, उस समय ही सूत्रोक्त गृहस्थ से उत्तरकरण करवाने रूप परिस्थिति की सम्भावना उत्पन्न होती है। अतः सूत्रनिर्दिष्ट, 'उत्तरकरण' क्षेत्र-काल आदि की अपेक्षा से पास में रखे गये सूई, कैंची, नखछेदनक एव कर्णशोधनक सम्बन्धी ही समझने चाहिए।

आगमों में केवल पात्र के प्रस ग में ही तीन जाति के सिवाय अन्य अनेक जाति के पात्र ग्रहण करने का निषेध है। उसमें केवल धातु के ही निषेध का वर्णन नहीं है किन्तु पत्थर, का च, दा त, सींग, चर्म, वस्त्र, श ख आदि अनेक जाति का निषेध है, जो केवल पात्र के लिए समझना ही उपर्युक्त है। सभी उपकणों के लिए यह विधान उपर्युक्त नहीं हो सकता। अन्यथा वर्तमान में रखे जाने वाले का च, दाँत, आदि के अनेक उपकरणों का निषेध हो जाएगा।

अतः कभी शरीरोपयोगी औपग्रहिक उपधि या अध्ययन में सहायक सामग्री पेन आदि धातु(लोहे आदि) की भी रखी जा सकती है। यह इन उत्तरकरण सूत्रों और अन्य आगम स्थलों की विचारणा से स्पष्ट होता है। इस विषय को अत्य त स्पष्ट समझने के लिय एक स वाद प्रस्तुत किया जाता है।

प्रकरण-५ : धातु के उपकरण ग्रहण-धारण स वाद

प्रश्न-१ : क्या साधु को धातु की वस्तु ग्रहण करना कल्पता है ?

उत्तर- हाँ पाट पुस्तक आदि कई चीजों में धातु रहती है और सूई, कैंची भी साधु ले सकता है।

प्रश्न-२ : क्या धातुकी चीज रात में रख सकते है ? उत्तर- हाँ

पुस्तकें, पाट, अलमारी, लोहे के बाजोट आदि रात में भी रखे जाते हैं।

प्रश्न-३ : क्या गोदरेज की अलमारी साधु उपयोग में लेते हैं ?

उत्तर- हाँ अच्छी तरह से प्रतिलेखन हो सके तो उपयोग में ले सकते हैं। ज्ञान गच्छ के बहुश्रुत समर्थमलजी म॰ सा॰ के इन्दौर चातुर्मास में साधुओं ने भी दो गोदरेज की बड़ी अलमारिया रखी थी।

प्रश्न-४ : धातु की चीज रात में रखना परिग्रह है ? विहार में रखना परिग्रह है ?

उत्तर- कोई भी धातु की चीज दिन में रखे तो परिग्रह नहीं और रात में रखे तो परिग्रह है, ऐसा सिद्धा त नहीं बन सकता तथा गाँव में रखे तो परिग्रह नहीं और विहार में रखे तो परिग्रह है ऐसा भी सिद्धा त नहीं बनता। क्यों कि ऐसा हो तो फिर सोने-चाँदी के उपकरण आदि भी दिन में और गाँव में रखना सिद्ध होगा जिसका कि उपरोक्त सूत्र पाठों में रखना स्पष्ट निषिद्ध है।

प्रश्न-५ : धातु की चीजे रखेगा तो साधु परिग्रही हो जायेगा ?

उत्तर- कितनी ही धातु की वस्तु वर्तमान में रखी जाना उपर बताया जा चुका है अतः बिना ममत्व मूर्च्छा भाव के शरीर एव स यमोपयोगी अत्यावश्यक उपकरण रखना परिग्रह नहीं हैं । वे उपकरण आवश्यक होने पर ही लिए जाते हैं आवश्यक होने पर ही दिन को, रात को या विहार में रखे जाते हैं बिना आवश्यकता के ममत्व मूर्छा से रखने पर वे सभी उपकरण परिग्रह कहलाएंगे और तभी वह साधु परिग्रही कहलाएगा।

प्रश्न-६ : निशीथ उद्दे॰ ११ में धातु रखने का प्रायश्चित्त है न ?

उत्तर- नहीं। वहाँ धातु या बिना धातु के अनेक तरह के पात्र रखने का प्रायश्चित्त कहा है। पात्र साधु की औघिक उपधि है उसके लिए अनेक शास्त्रों में तीन जाति का होना स्पष्ट कर दिया गया है। अतः तीन के सिवाय धातु या बिना धातु किसी भी तरह का पात्र साधु को नहीं कल्पता है, ऐसा आचारा ग सूत्र में बताया है, उसी का यहाँ प्रायश्चित्त कहा है। यहाँ पर का च, दा त, सींग, श ख, पत्थर, चमड़ा आदि अनेक जाति का निषेध है इसे केवल पात्र के लिए ही समझा

जाता है। इसीलिए हाथी-दा त, प्लास्टिक, का च, रबर, कागज, पुट्ठे आदि की अन्य वस्तुएं रखी जाती है।

प्रश्न-७ : निशीथ उद्दे॰ ७ एव १७ में भी धातु का स ग्रह का निषेध है न ?

उत्तर- वहाँ पर भी कुतुहल और मैथुन भाव के निषेध है जिसमें धातु, अधातु, वस्त्र आदि अनेक चीजों का निषेध है। फिर भी वे चीजें तो रखी ही जाती है। जैसे वहाँ मैथुन प्रस ग से लेख लिखने का प्रायश्चित्त है तो अन्य कार्यो के लिए लिखना ब द नहीं होगा। जैसे विभूषा के लिए वस्त्र रखना या धोना प्रायश्चित्त कहा है तो क्या सर्वथा वस्त्र रखना, धोना निषिद्ध माना जायेगा ? नहीं। अर्थात् जितना जिस विषय का निषेध है उतना ही मानना चाहिए।

प्रश्न-८ : निशीथ उद्दे॰ १ में सुई कैंची पड़िहारी कही है ?

उत्तर- साधु के उपकरण दो तरह के होते हैं (१) औघिक और (२) औपग्रहिक। सूई कैंची आदि उसके औपग्रहिक उपकरण में कहे गये हैं, ये आवश्यक होने पर ही लिये जाते हैं और आवश्यकता समाप्त होने पर लौटा दिए जाते हैं। आवश्यकता क्षणिक है तो पड़िहारे लिए जाते हैं और आवश्यकता दीर्घकालीन है तो अपड़िहारे लिए जाते हैं। ऐसे अपड़िहारे लिए गये उपकरणों का ही उत्तरकरण होता है। पड़िहारे २-४ घण्टों के लिए लाए गये उपकरणों का उत्तरकरण गृस्थ से कराना नहीं होता है। अतः यहाँ पड़िहारे अपड़िहारे दोनों तरह के सूत्रों के सूत्र चतुष्क दिये गये हैं। इसी कारण यहाँ कहे गये दो उपकरण साधु रखते भी है। (१) दा त शोधनक (२) कान शोधनक। तथा का टे चिंपिए भी रखते हैं। इसलिए सूई, कैंची, कान शोधनक और दा त शोधनक पड़िहारे ही होते हैं ऐसा एका त नहीं हैं। धातु-अधातु का समाधान तो ऊपर किया जा चुका है। निशीथ उद्दे॰ ५ में पादप्रोंछन एव द ड़ के पड़िहारा विशेषण लगाया हैं तो भी द ड़, लाठी आदि को एव पादप्रोंछन को साधु अपने पास रखते भी है।

प्रश्न-९ : साधु तो अल्प परिग्रही होता है उसे धातु की चीजें रखने का प्रश्न ही क्यों ?

उत्तर- साधु का अनावश्यक तो वस्त्र पात्र आदि रखना भी परिग्रह

है और शरीर, स यम व ज्ञान के उपयोगी आवश्यक उपकरण वह औघिक और औपग्रहिक दोनों तरह के रख सकता है। वे उपकरण ममत्व मूर्छा न रखते हुए धातु-अधातु किसी के भी हो बिना मूर्छाभाव के रख सकता हैं क्यों कि शास्त्र में समस्त धातु के उपकरण लेने रखने का निषेध नहीं है अपितु विधान किए गये हैं जिनका ऊपर वर्णन कर दिया गया है और प्रवृत्ति में रखे भी जाते हैं। हाँ सोना-चा दी और सिक्के साधु के लिए पूर्ण रूप से निषिद्ध है।

प्रश्न-१० : धातु की वस्तु तो श्रावक के भी ९ प्रकार के परिग्र ह में बताई गई है ?

उत्तर- श्रावक के नव प्रकार के परिग्रह में तो स सार की समस्त वस्तुओं का समावेश कर दिया है फिर भी साधु उनस मकान, पाट, वस्त्र, पात्र, आहार, शिष्य आदि की याचना कर ग्रहण करता ही है । साधु के लिए तो आवश्यकता और अमूर्छाभाव की शर्त है उसका पालन होतो परिग्रह नहीं होगा।

प्रश्न-११ : तो फिर साधु धातु की क्या-क्या चीजे रख सकेगा ?

उत्तर- जिनका रखना शरीर स यम एव ज्ञान वृद्धि के लिए आवश्यक हो जाय तो वे ही चीजें अमूर्च्छा भाव से साधु रख सकता है और आवश्यकता समाप्त हो जाने पर उनका त्याग कर देना चाहिए। उसका अन्तिम लक्ष्य तो यही होना चाहिए कि अल्प उपधि वाला और अल्प आवश्यकता 'इच्छा' वाला बनूँ। वह अकारण औपग्रहिक उपकरण बढ़ावे ही नहीं। कारण से रखे उपकरणों को भी भार भूत प्रमाद रूप समझे एव अपनी शक्ति का विकास कर उपधि पच्चक्खाण और उपधि उणोदरी की श्रेष्ठ साधना को स्वीकार करे।

प्रश्न-१२ : धातु की एक मेख रखे तो भी साधुपणा नहीं रहता है ?

उत्तर- ऊपर बताए अनुसार गोदरेज की अलमारी महीनों और ठाणापति की अपेक्षा वर्षो ही रख ले तो साधुपणा रह सकता है तो एक मेख की बात हो हास्यास्पद ही है। इसमें भी समझना यह है कि अनावश्यक और मूर्च्छा से एक मेख भी रखना परिग्रह हो सकता है और परिग्रह है तो साधुपणा नहीं है। आलमारी आदि वस्तुएँ सामाजिक होती है, साधु उसका उपयोग मात्र करता है ।

प्रश्न-१३ : तो फिर बिना धातु के चश्में आधाकर्मी, क्रीत, अभिहड़, स्थापना आदि दोषों के क्यों लिए जाते है और लिखने की सामग्री के लिए होल्ड़र, स्याही, दवात, पेंसिलें आदि अनेक उपकरण क्यों रखे जाते हैं और पेन के निब आदि चीजें लाना-देना, स्याही बनाना-सुखाना आदि रोज का इतना प्रमाद क्यों बढ़ाया जाता है ? सीधे ही जो बाजार में धातु के चश्मे मिले वे बिना दोष के जांच लेने चाहिए और सीधे ही एक दो पेन लेकर रख लेने चाहिए। निरर्थक के अनेक दोष, क्रियाएँ और प्रमाद क्यों बढ़ाना चाहिए ?

उत्तर- यह तो समय-समय की उपलब्धि, रिवाज और व्यक्तिगत विवेक पर निर्भर है। हाँ साधक को आगम आज्ञा और हानि-लाभ मिलाकर ही प्रत्येक प्रवृत्ति क्षेत्रकाल अनुसार करनी चाहिए। क्यों कि किसी समय कोई प्रवृत्ति स यम के लिए लाभकारी होती है और काला तर में वही अधिक नुकसान वाली हो जाती है, जबकि दूसरी प्रवृत्ति कम दोष और कम प्रमाद वाली बन जाती है। अतः समय-समय पर हानि-लाभ की विवेक बुद्धि का उपयोग तो रखना ही चाहिए। हाँ इस विवेक निर्णय में आगम आज्ञाओं का पूर्ण समन्वय करना आवश्यक समझना चाहिए अर्थात् परम्परा प्रवृतिएं परिवर्तन की जा सकती है किन्तु आगम विधान विपरीत कुछ भी परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। आगम विधान के विपरीत आचरण क्षणिक और परिस्थितिक आपवादिक हो तो उसका प्रायश्चित्त किया जाता है किन्तु उसे परम्परा नहीं बनाई जा सकती। अपेक्षाकृत ज्यादा नुकसान वाली प्रवृत्ति चलाना या जो परिस्थितिक प्रवृत्ति हो उसका रिवाज चलाना ये दोनों ही अविवेक जन्य अपराध है और उसका आग्रह या प्ररूपण करना महा अपराध है। जैसे कि भण्ड़ोप-करणों के दो बार के प्रतिलेखन के विधान में पात्र के लिए एक बार की परम्परा चलाना और फिर काला तर से एक बार ही करना ऐसी प्ररूपणा करना यह भी महा अपराध है।

सार- (१) पड़िहारे कहे गये द त शोधनक, कर्ण शोधनक भी साधु अपने पास रखते हैं। **(२)** बाजोट, अलमारी आदि भी धातु की रखते हैं। **(३)** उत्तरकरण (सुधार कार्य) अपने पास में रखे जाने वाले उपकरणों का ही होता है। क्षणिक लाए उपकरण का सुधार करवाने गृहस्थ के पास नहीं जाना पड़ता है और उसके लिए गुरुमासिक प्रायश्चित्त नहीं

किया जाता हैं क्यों कि इतना करे जब तक तो नई सूई आदि जाँच कर लाई जा सकती है। **(४)** साधु को अल्प उपधि वाला होना चाहिए आवश्यक होने पर ही विवेक पूर्वक उपकरण लेने एव रखने चाहिए। **(५)** अनावश्यक उपकरण रखना नहीं और किसी भी उपकरण में ममत्व मूर्छा भाव रखना नहीं। **(६)** कोई भी प्रवृत्ति करने में आगम के मौलिक आधार का एव हानि-लाभ का विवेक अवश्य रखना चाहिए। **(७)** स यम में सादगी की प्रमुखता होने से लकड़ी आदि के उपकरण सामान्य रूप से रखे जा सकते हैं और धातु, दा त, का च आदि के उपकरण तो विशेष परिस्थिति में ही रखे जा सकते हैं। एका त निषेध का आग्रह नहीं समझना चाहिए। **(८)** यों तो सभी औपग्रहिक उपकरण लाना एव रखना भी अपवाद मार्ग रूप ही है। ध्रुव और उत्सर्ग मार्ग से तो औघिक उपधि ही रखनी चाहिए और उसमें भी उणोदरी करते हुए सर्वथा त्यागने की शक्ति का विकास करना चाहिए।

प्रकरण-६ : धोवण पानी और गर्म पानी का ज्ञान-विज्ञान

(उद्दे०-१७, सूत्र-१५३) आगमों में अनेक जगह अचित्त शीतल जल अर्थात् धोवण पानी के नामों का कथन है। उनमें ग्राह्य पानी ग्यारह ही हैं जो इस सूत्र में कहे गये हैं इससे अधिक नाम जो भी आगमों में उपलब्ध है वे सब अग्राह्य कहे गये हैं।

ग्राह्य धोवण पानी बनने के बाद तुर त ग्राह्य नहीं होता है। करीब आधा घण्टा या मुहूर्त के बाद ग्राह्य होता है। चूर्णीकार ने समय निर्धारण न करते हुए अपनी बुद्धि से ही समय निर्णय करने को कहा है क्यों कि धोवण पानी बनने के शस्त्रों में विभिन्नता होती है। फिर भी तत्काल लेने पर तो प्रस्तुत सूत्रानुसार प्रायश्चित्त आता है।

लेने योग्य पानी के आगम पाठ में और न लेने योग्य पानी के आगम पाठ में निश्चित्त स ख्या सूचित नहीं है, किन्तु वहाँ अन्य भी ऐसे अचित्त पानी लेने का विधान है तथा न लेने योग्य पानी के आगम पाठ में भी अन्य ऐसे न लेने योग्य पानी लेने का निषेध है। अतः कल्पनीय अकल्पनीय पानी अन्य अनेकों हो सकते है, यह स्पष्ट है। स ख्या निश्चित्त करना आगम सम्मत नहीं है।

पानी शस्त्र-परिणमन होने पर भी तत्काल अचित नहीं होता है। अतः वह उसी समय लेने योग्य नहीं होता है। वही पानी कुछ समय

बाद अचित्त होने पर लेने योग्य हो जाता है। इसका कारण यह है कि पानी के कण-कण में अस ख्य जीव है उन तक परम्परा से शस्त्र के पहुँचने में समय लगता है अतः पूर्ण अचित्त होने में भी समय लगता है।

फल आदि धोए हुए अचित्त पानी में यदि बीज गुठली आदि हो तो ऐसा पानी छाण करके दे तो भी वह लेने योग्य नहीं है।

धोवण पानी सूचक आगम स्थल इस प्रकार है- **(१)** दशवैकालिक अ०-५, उ०-१ में तीन प्रकार के धोवण पानी लेने योग्य कहे हैं। इनमें दो प्रकार के धोवण पानी आचारा ग श्रु०-२, अ०-१, उ०-७ के अनुसार ही कहे गए हैं और 'वार धोयण' अधिक है। **(२)** उत्तराध्ययन सूत्र अ०-१५, गा०-१३ में तीन प्रकार के धोवण कहे गए हैं इन तीनों का कथन आ० श्रु०-२, अ०-१, उ०-७ में हैं। **(३)** आचारा ग श्रु०-२, अ०-१, उ०-७ में अल्पकाल का धोवण लेने का निषेध है अधिक काल का बना हुआ धोवण लेने का विधान है तथा गृहस्थ के कहने पर स्वतः लेने का भी विधान है। **(४)** आ० सु०-२, अ०-१, उ०-८, सू०-३७३ में अनेक प्रकार के धोवण पानी का कथन है। इसमें बीज, गुठली आदि हो तो ऐसे पानी को छान करके देने पर भी लेने का निषेध किया है। **(५)** ठाणा ग अ०-३, उ०-३, सु०-१८८ में उपवास, बेले, तेले, के तप में ३-३ प्रकार के ग्राह्य पानी का विधान है। **(६)** दशवैकालिक अ०-८, गा०-६ में उष्णोदक ग्रहण करने का विधान है।

आचरा ग व निशीथ में वर्णित 'सुद्ध वियड़' उष्णोदक से भिन्न है क्यों कि वहाँ तत्काल बने 'सुद्ध वियड़' के ग्रहण करने का निषेध एव प्रायश्चित्त कहा गया है अतः उसे अचित्त शुद्ध शीतल जल ही समझना चाहिए। आगमों में वर्णित ग्राह्य धोवण पानी के स क्षिप्त अर्थ इस प्रकार है-

ग्यारह प्रकार के ग्राह्य धोवण पानी और उनके अर्थ-

१. उत्स्वेदिम = आटे से लिप्त हाथ या बर्तन का धोवन,
२. स स्वेदिम = उबाले हुए तिल, पत्र-शाक आदि का धोया हुआ जल,
३. तन्दुलोदक = चावलों का धोवण,
४. तिलोदक = तिलों का धोवण,
५. तुषोदक = तुष युक्त धान्यों के तुष निकालने में बना धोवण।

६. जवोदक = जौ का धोवण ।
७. आयम = अवश्रावण-उबाले हुए पदार्थो का पानी ।
८. सोवीर = का जी का जल, गर्म लोहा-लकड़ी आदि डुबाया हुआ पानी ।
९. शुद्ध विकट = हरड़, बहेड़ा, राख, लोंग आदि पदार्थो से अचित्त बनाया गया जल ।
१०. वारोदक = गुड़ आदि किसी भी खाद्य पदार्थो के घड़े(बर्तन) का धोया जल ।
११. आम्लका जिक = खट्ठे पदार्थो का धोवण या छाछ की आछ ।

बारह प्रकार के अग्राह्य धोवण पानी-

१. आम्रोदक = आम्र धोया हुआ पानी,
२. अम्बाड़ोदक = आम्रातक (फल विशेष) धोया हुआ पानी,
३. कापित्थोदक = केथ या कवीठ का धोया हुआ पानी,
४. बीजपूरोदक = बिजोरे का धोया हुआ पानी
५. द्राक्षोदक = दाख का धोया हुआ पानी,
६. दाड़िमोदक = अनार का धोया हुआ पानी,
७. खर्जूरोदक = खजूर का धोया हुआ पानी,
८. नालिकेरोदक = नारियल का धोया हुआ पानी,
९. करीरोदक = केरों का धोया हुआ पानी,
१०. बदिरोदक = बेरों का धोया हुआ पानी,
११. आमलोदक = आवलों का धोया हुआ पानी,
१२. चिंचोदक = इमली का धोया हुआ पानी,

फलों का धोया हुआ पानी भी अचित्त हो सकता है क्यों कि पानी में कुछ देर रहने या धोने पर कुछ फलों का रस तथा उन पर लगे अन्य पदार्थो का स्पर्श पानी को अचित्त कर देता है किन्तु बीज गुठली या फल रह जाने के कारण इन जलों का निषेध है अतः जिसमें जब बीज गुठली फल आदि न हो तो इन्हें ग्राह्य समझना चाहिए।

इनके सिवाय गर्म जल भी ग्राह्य कहा गया है जो एक ही प्रकार का होता है। पानी के अग्नि पर पूर्ण उबल जाने पर वह अचित्त हो जाता है। अर्थात् गर्म पानी में हाथ न रखा जा सके इतना गर्म हो जाना चाहिए। इससे कम गर्म होने पर पूर्ण अचित्त एव कल्पनीय नही होता है। टीका आदि में तो तीन उकाले आने पर अचित्त होने का उल्लेख मिलता है

किन्तु साधु के लिए ऐसी गवेषणा करना दुःशक्य है। उक्त आगम स्थलों से स्पष्ट है कि धोवण पानी अर्थात् अचित्त शीतल जल अनेक प्रकार का हो सकता है। आगमोक्त नाम तो उदाहरण रूप में है। आटा, चावल आदि किसी खाद्य पदार्थ को धोया हुआ पानी या खाद्य पदार्थ के बर्तन धोया हुआ पानी अथवा अन्य किसी प्रकार के पदार्थों से पूर्ण अचित्त बना हुआ कोई भी पी सकने योग्य पानी भिक्षु को लेना कल्पता है।

दशवैकालिक अ०-५, उ०-१, गा० : ७६-८७ के कथनानुसार अचित्त पानी को ग्रहण करने के साथ यह विवेक रखना भी बताया है कि भिक्षु यह सोचे कि क्या यह पानी पिया जा सकेगा ? इससे प्यास बुझेगी या नहीं ? इसका निर्णय करने के लिए कभी वहाँ पर ही पानी को चखा जा सकता है। कदाचित् नहीं पीने योग्य पानी ग्रहण कर लिया गया हो तो उसे अनुपयोगी जानकर एकान्त निर्जीव भूमि में परठ देना चाहिए।

सौवीर ओर आम्लका जिक की चर्चा- निशीथ सूत्र में 'सोवीर' और आम्लका जिक दोनों शब्दों का प्रयोग है जबकि अन्य आगमों में एक **सोवीर** शब्द ही कहा गया है। इसका अर्थ टीका आदि में का जी का पानी, आरनाल का पानी आदि किया गया है। हिन्दी शब्द कोश में का जी के पानी का स्पष्टीकरण करते हुए-नमक जीरा आदि पदार्थो से बनाया गया स्वादिष्ट एव पाचक खट्टा पानी कहा है। इससे यह अनुमान होता है कि सोवीर शब्द का पर्यायवाची 'आम्लका जिक' शब्द है जो कभी पर्यायवाची रूप में यहाँ जोड़ा गया हो और बाद में स्वत त्र शब्द बन गया हो। क्यों कि अन्य आगमों में यह शब्द नहीं हैं एव इस सूत्र की चूर्णि में भी इसकी व्याख्या नहीं है। दोनों शब्दों का पृथक अस्तित्व स्वीकार करने पर 'सौवीर' का अर्थ का जी का पानी और 'अ बक जिय' का अर्थ छाछ का आछ आदि, ऐसा किया जाता है ।

आगम पाठ के विषयों का विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि 'सौवीर' का टीका एव कोश आदि में किया गया अर्थ प्रस ग स गत नहीं हैं क्यों कि सूत्र में कहे गए अचित्त चल तृषा शा त करने के पेय जल है और इन्हें तेले तक तपस्या में पीने का विधान है जबकि का जी का पानी तो स्वादिष्ट बनाया गया पेय पदार्थ है, जो आयम्बिल में भी पीना नहीं कल्पता है। उसे उपवास, बेला एव तेला की तपस्या

में पीना तो सर्वथा अनुचित्त होता है। आंवला, इमली आदि खट्टे पदार्थो के धोवण पानी का भी उल्लेख आचा॰ श्रु॰-२, अ॰-१, उ॰-८ में पृथक किया गया है अतः यहाँ एक सौवीर शब्द मानकर उसका 'छाछ के ऊपर की आछ' अर्थ मानना प्रस ग स गत हो सकता है। दोनों शब्द स्वीकार करना हो तो सौवीर शब्द से लोहे आदि गर्म पदार्थो को जिस पानी में डुबाकर ठंड़ा किया गया हो वह पानी एव 'अम्लाका जिक' शब्द से छाछ के ऊपर का नितरा हुआ आछ ऐसा अर्थ करने पर भी सूत्रगत दोनों शब्दों की स गति हो सकती है।

शुद्धोदक- प्रस्तुत सूत्र में 'शुद्धोदक' शब्द का भ्रान्ति से गर्म पानी अर्थ भी किया जाता है, किन्तु गर्म पानी के लिये आगमों में उष्णोदक शब्द का प्रयोग किया गया है। यहाँ तत्काल के धोवण(अचित्त जल) का विषय है तथा आचा॰ श्रु॰-२, अ॰-१, उ॰-७ में भी ऐसे ही धोवण पानी के वर्णन में शुद्धोदक(शुद्ध अचित्त जल) का कथन हैं।

अन्न के अ श से रहित तथा अनेक अमनोज्ञ रसों वाले धोवण पानी के अतिरिक्त अचित बने या बनाये गये शीतल जल को शुद्धोदक समझना चाहिए। इसमें लौंग, कालीमिर्च, त्रिफला, राख आदि मिलाये हुए पानी का समावेश हो जाता हैं किन्तु शुद्धोदक का गर्म पानी अर्थ करना अनुचित ही है क्यों कि उसका सूत्रोक्त प्रायश्चित्त से कोई सम्बन्ध नहीं है अर्थात् तत्काल धोया या चिरकाल का धोया इस विषय से गर्म पानी का सम्बन्ध नहीं जुड़ सकता। अतः शुद्धोदक का गर्म पानी अर्थ करना गलत है।

आचा॰ श्रु॰-२, अ॰-१, उ॰-७ में अचित्त पानी भिक्षु को स्वय ग्रहण करने का भी कहा है। इसका कारण यह है कि भिक्षु के लिये निर्दोष अचित्त पानी मिलना कुछ कठिन है तथा पानी के बिना निर्वाह होना भी कठिन है। अतः अचित्त निर्दोष पानी उपलब्ध हो जाने पर कभी पानी देने वाला व्यक्ति वजन उठाने में असमर्थ हो या पानी देने वाली बहन गर्भवती या ऋतुमति हो अथवा उनके आने के मार्ग में सचित्त पदार्थ पड़े हों या उनके आने से जीव विराधना होने की स भावना हो, इत्यादि कारणो से भिक्षु गृहस्थ के आज्ञा देने पर या स्वय उससे आज्ञा प्राप्त करके अचित्त जल ग्रहण कर सकता है। यदि पानी का परिमाण अधिक हो, बर्तन उठाकर नहीं लिया जा सकता हो

तो भिक्षु स्वय के पात्र से या गृहस्थ के लोटे आदि से भी पानी ले सकता है ऐसा सूत्र में विधान है। किन्तु आहार के लिये इस प्रकार का कोई विधान आगम में नहीं है एव इस प्रकार से आहार के स्वय लेने की पर परा भी नहीं है।

अचित्त रहने का काल- एक बार अचित्त बना हुआ पानी पुनः कालान्तर से सचित्त भी हो सकता है क्यों कि एकेन्द्रिय से लेकर अस ज्ञी प चेन्द्रिय तक के जीव पुनः उसी काय के उसी शरीर में उत्पन्न हो सकते हैं- ***सूय॰ श्रु॰-२, अ॰-३ ।***

दशवैकालिक के पाँचवे अध्ययन की चूर्णि में कहा गया है कि गर्मी में एक अहोरात्र से एव सर्दी और वर्षाकाल में पूर्वान्ह(सुबह) में गर्म किये जल के अपरान्ह (साय काल) में सचित्त होने की सम्भावना रहती है। यथा- गिम्हे अहोरत्तेण सच्चिती भवति, हेम ते वासासु पुवण्हे कत अवरहण्हे सचित्ती भवति। ***-दश॰ चूर्णी पृष्ठ : ६१, ११४***

भ्रा त धारणा एव समाधान- धोवण पानी के विषय में कुछ समय से ऐसी भ्रांत धारणा प्रचलित हुई है कि इसके अचित्त रहने का काल नहीं बताया गया है अथवा इसमें शीघ्र जीवोत्पत्ति हो जाती है अतः वह साधु को अकल्पनीय है केवल गर्म पानी ही लेना चाहिए।

इस प्रकार का कथन करना आगम प्रमाणों से भी उचित्त नहीं है क्यों कि आगमों में अनेक प्रकार के धोवण पानी लेने का विधान है, साथ ही तत्काल का बना हुआ धोवण पानी लेने का निषेध है एव उसके लेने का प्रायश्चित्त भी कहा गया है। उसी धोवण पानी को कुछ देर के बाद लेना कल्पनीय कहा गया है। अतः धोवण पानी का ग्राह्य होना स्पष्ट है।

कल्पसूत्र की कल्पात र वाच्य टीका में अनेक प्रकार के धोवण पानी की चर्चा करके उन्हें साधु के लिये तेले तक की तपस्या में लेना कल्पनीय कहा है और निषेध करने वालों को धर्म एव आगम निरपेक्ष और दुर्गति से नहीं ड़रने वाले कहा है। ***-कल्प समर्थन पृ॰-५० ।***

यहाँ उल्लेखनीय यह है कि इस व्याख्या के करने वाले तपागच्छ के आचार्य हैं उन्होंने अवस्त्रावण आदि का निषेध करने वाले खरतरगच्छ वालों को लक्ष्य करके बहुत कुछ कहा है -***कल्प समर्थन प्रस्तावना ।***

इसके प्रत्युत्तर में खरतरगच्छीय आचार्य जिनप्रभसूरि ने आधाकर्मी गर्म पानी लेने का खण्ड़न एव अचित्त शीतल जल लेने का म ड़न करने वाला 'तपोट मत कुट्टन' श्लोकबद्ध प्रकरण लिखकर तपागच्छ के आचार्यों को आक्रोश की भाषा में बहुत लिखा है। ***-प्रब ध पारिजात पृ.- १४५, १४६ ।***

आचारा ग श्रु.-१, अ.-१, उ.-३ की शीला काचार्य कृत टीका में धोवण पानी के अचित होने का एव साधु के लिये कल्पनीय होने का वर्णन है वहाँ पानी को अचित्त करने वाले अनेक प्रकार के पदार्थो का वर्णन भी है।

प्रवचन सारोद्धार १३६ गाथा-८८१ में प्रासुक अचित्त शीतल जल के ग्राह्य होने का कथन है तथा गाथा ८८२ में उष्ण जल एव प्रासुक शीतल जल दोनों के अचित्त रहने का काल भी कहा है। उसकी टीका में स्पष्ट किया गया है कि उष्ण पानी के जितना ही चावल आदि के धोवण का भी अचित्त रहने का काल है।

उसिणोदग तिद डुक्कालिय , फासुयजलाति जइ कप्प ।
नवरि गिलाणाइ कए, पहरतिगोवरि वि धरियव्व ॥

यहाँ गर्म ओर धोवण दोनों को कारण से अधिक समय तक रखना बताया है।

टीका- त्रिर्भिदण्ड़े-उत्कालैरुत्कालित आवृत यदुष्णोदक तथा यत्प्रासुक - स्वकाय परकाय शस्त्रोपहतत्वेन अचित्त-भूत जल तदेव यतीना कल्प्य , गृहीतमुचित ।

जायई सचित्तय से गिम्ह मि पहर प चगसुवरिं ।
चउपहरोवरि सिसिरे वासासु पुणो तिपहरुपरि ॥८८२॥

टीका- यदूध्र्वमपि ध्रियते तदा क्षारः प्रक्षेपणीयो, येन भूयः सचित्त न भवतीति ।

लघु प्रवचन सारोद्धार की मूल गाथा ८५ में भी गर्म और धोवण दोनों प्रकार के अचित्त पानी का काल समान कहा है। यथा-

खाइमि तले विवच्चासे, ति-चउ-पण जाम उसिण नीरस्स ।
वासाइसु तयाण , फासुय जलस्स वि एमेव ॥८५॥

इस प्रकार टीका-ग्र थों में दोनों प्रकार के प्रासुक जलों को ग्रहण

करने का विधान है ही अतः पूर्वोक्त प्रचलित धारणा भ्रा त है और वह आगम सम्मत नहीं है, किन्तु आगम विपरीत प्ररूपणा है।

तपस्या में धोवण- स्थाना ग सूत्र के तीसरे स्थान में उपवास आदि तपस्या में भी धोवण पानी पीने का विधान किया गया है तथा कल्पसूत्र के समाचारी प्रकरण में चातुर्मास में किये जाने वाले उपवास, बेला, तेला में चावल, आटे, तिल आदि के धोवण पानी का तथा ओसामण या का जी आदि कुल ९ प्रकार के पानी का उल्लेख करके समस्त प्रकार के अचित्त जलों को लेने का विधान किया गया है । इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि धोवण पानी को अकल्पनीय या श कित मानना या ऐसा प्रचार करना उचित्त नहीं है।

सारा श यह है कि एषणा दोषों से रहित आगम सम्मत किसी भी अचित्त जल को ग्राह्य समझना चाहिए एव उसका निषेध नहीं करना चाहिए। साथ ही उन्हें ग्रहण करने में वह पानी अचित्त हुआ है या नहीं इसकी परीक्षा करने का तथा मौसम के अनुसार उसके चलित रस होने का एव पुनः सचित्त होने के समय का विवेक अवश्य रखना चाहिए।

पुनश्च :- **(१)** धोवण पानी का एका त निषेध करना आगम विपरीत प्ररूपणा है। **(२)** धोवण एव शुद्धोदक और गर्म पानी गवेषणा करके लेना कल्पता है। **(३)** मुख्य गवेषणा- १. आधाकर्मी- साधु के निमित्त बना न हो २. पानी की मात्रा के उचित्त अनुपान से ही उसमें शस्त्र पड़ा हो। ३. तत्काल का न हो और कल का न हो ४ रस चलित न हुआ हो। **(४)** तेले तक भी सभी धोवण कल्पते हैं। **(५)** आधाकर्मी गर्म पानी लेने का रिवाज अनुचित्त है।

अचित्त धोवण की परीक्षा- बने हुए धोवण को हिलाने पर बर्तन की दिवारें और तला नहीं दिखना चाहिए और उसमें से शस्त्र के पदार्थ को निकाल कर फेंक दिया हो तो गर्म पानी जैसा साफ नहीं दिखना चाहिए एव स्वाद में सचित्त जल से कुछ भी भिन्नता होनी चाहिए।

रस चलित की परीक्षा- धोवण पानी में लार बनने लगे या सड़ी सी ग ध आने लगे या धोवण का स्वाभाविक स्वाद पलट कर खट्टा-मीठा सा आने लगे तो वह रस चलित धोवण अग्राह्य है । ऐसा अधिकतम गर्मी के दिनों में हो सकता है। खाद्य पदार्थ के रस चलित होने की परीक्षा भी इसी तरह से करनी चाहिए।

प्रकरण-७ : मकान एव पाट की शुद्ध गवेषणा सीखो

(उद्दे०-५, सूत्र : ३६-३८) (१) केवल जैन साधु के उद्देश्य से अथवा जैन साधु युक्त अनेक प्रकार के साधुओं या पथिकों के उद्देश्य से बनायी गयी धर्मशाला आदि 'उद्देशिक-शय्या' है।

(२) गृहस्थ के अपने लिये बनाये जाने वाले मकान का या परिकर्म के कार्य का निर्धारित समय साधु के निमित्त से आगे-पीछे करने पर या शीघ्रता से करने पर अर्थात् अनेक दिन का कार्य एक दिन में करने पर, वह गृहस्थ का व्यक्तिगत मकान भी 'सपाहुड़ शय्या' हो जाती है।

(३) मकान गृहस्थ के लिये बना हुआ है। उसमें साधु के लिये परिकर्म कार्य करने पर गृहस्थ के उपयोग में आने के पूर्व कुछ काल तक वह मकान 'सपरिकर्म शय्या' है।

इन तीन प्रकार के दोषयुक्त शय्या में प्रवेश करने का अथवा रहने का लघुमासिक प्रायश्चित्त कहा गया है।

दूसरे व तीसरे दोष वाली शय्या का मौलिक निर्माण गृहस्थ के स्वप्रयोजन से होता है और प्रथम दोष वाली शय्या में बनाने वालों का स्वप्रयोजन नहीं होकर केवल पर-प्रयोजन से उसका निर्माण किया जाता है, यह अन्तर ध्यान में रखना चाहिए।

वर्तमान में उपलब्ध उपाश्रयों की कल्प्याकल्प्यता :-

साधु-साध्वी के ठहरने के स्थान को आगम में 'शय्या, वसति एव उपाश्रय' कहा जाता है।

(१) कल्प्य- दोष रहित, पूर्ण शुद्ध, साधु-साध्वी के ठहरने योग्य।

(२) अकल्प्य- दोष युक्त, साधु-साध्वी के ठहरने के अयोग्य।

(३) कल्प्याकल्प- दोष युक्त होते हुए भी कालान्तर से या पुरुषान्तरकृत होने पर ठहरने योग्य।

(१) कल्प्य उपाश्रय- (१) अपने लिये या सामाजिक उपयोग के लिये अथवा धार्मिक क्रियाओं की सामूहिक आराधना के लिये नये मकान का निर्माण करवाया जाता है। **(२)** अपना अतिरिक्त मकान धार्मिक आराधना के लिये अथवा साधु-साध्वियों के ठहरने के लिये स घ को समर्पित कर दिया जाता है। (३) बड़े-बड़े क्षेत्रों के समाज या स घ में मतभेद होने पर विभिन्न पक्षों के द्वारा भिन्न-भिन्न मकानों का

निर्माण करवाया जाता है। (४) एक उपाश्रय होते हुए भी चातुर्मास आदि में भाई एव बहिनों के स्वतन्त्र पोषध, प्रतिक्रमण आदि करने के लिये दूसरे उपाश्रय की आवश्यकता प्रतीत होने पर नये मकान का निर्माण करवाया जाता है। (५) धार्मिक क्रियाओं की आराधना के लिये किसी का बना हुआ मकान खरीद लिया जाता है।

इन मकानों में साधु-साध्वियों के निमित्त निर्माण कार्य आदि न होने से ये पूर्ण निर्दोष होते हैं।

(२) अकल्प्य उपाश्रय- (१) कई ऐसे गाँव होते हैं जिनमें जैन गृहस्थों के केवल एक-दो घर होते हैं या एक भी घर नहीं होता है, वहाँ साधु-साध्वियों के ठहरने के लिये नये मकान का निर्माण किसी एक व्यक्ति द्वारा या कुछ सम्मिलित व्यक्तियों द्वारा करवाया जाता है एव उस मकान का कुछ भी नाम रख दिया जाता है। (२) सन्त-सतियों के ठहरने के स्थान अलग-अलग होने चाहिए, ऐसा अनुभव होने पर दूसरे मकान का निर्माण करवाया जाता है। (३) नये बसे गाँव या उपनगर में अथवा पुराने गाँव में धर्म भावना या प्रवृत्ति बढ़ने पर गृहस्थों की धार्मिक आराधनाओं के लिये और साधु-साध्वियों के ठहरने के लिये नये मकान का निर्माण करवाया जाता है। (४) सतियों के ठहरने के लिये और बहिनों की धार्मिक प्रवृत्तियों के लिये भी नये मकान का निर्माण करवाया जाता है।

इन मकानों के बनवाने में प्रमुख उद्देश्य साधु-साध्वियों का होने से औद्देशिक एव मौलिक निर्माण में मिश्रजात दोष होने के कारण ये पूर्णतः अकल्पनीय होते हैं।

(३) कल्प्याकल्प्य उपाश्रय- (१) बड़े-बड़े स घों में अपने आयोजनों प्रयोजनों को लेकर नये मकान का निर्माण करवाया जाता है, साथ ही में स त-सतियों की अनुकूलता को भी लक्ष्य में रखा जाता है। (२) साधु-साध्वियों के लिये मकान खरीद लिया जाता है। (३) गृहस्थों एव साधु-साध्वियों के स युक्त उपयोग के लिये भी कहीं-कहीं मकान खरीद लिया जाता है। (४) निर्दोष मकान में भी साधु-साध्वियों के उद्देश्य से कई प्रकार के सुधार करवाये जाते हैं। (५) चातुर्मास के अवसर पर श्रोताओं की सुविधा के लिये, स घ की शोभा के लिये अथवा साधुओं के आवश्यक उपयोगों के निमित्त कुछ सुधार करवाये जाते है। (६) साधु-साध्वियों के उद्देश्य से सचित्त पदार्थ या अधिक

वजन वाले अचित्त उपकरण स्थानान्तरित किये जाते हैं अथवा मकान की सफाई कर दी जाती है।

इन मकानों में सूक्ष्म उद्देश्य या अल्प आर भ अथवा परिकर्म कार्य होने से ये गृहस्थों के उपयोग में आने के बाद या कालान्तर से कल्पनीय हो जाते हैं।

आचा॰ श्रु॰-२, अ॰-५ एव ६ में साधु के लिये खरीदे गये वस्त्र-पात्र को गृहस्थ के उपयोग में आने के बाद या कालान्तर से कल्पनीय कहा गया है और अ॰-२, उ॰-१ में साधु के लिये किये गये अनेक प्रकार के आर भ एव परिकर्म युक्त मकान भी गृहस्थ के उपयोग में आने के बाद कल्पनीय कहे हैं, इत्यादि आगम प्रमाणों के आधार से ही यहाँ उक्त मकानों को कालान्तर से कल्पनीय होना बताया गया है।

सार-(१) जिन मकानों के निर्माण एव परिकर्म में साधु-साध्वी का कि चित् भी निमित्त नहीं है, वे पूर्ण कल्पनीय होते हैं। (२) जिन मकानों के निर्माण का मुख्य उद्देश्य साधु-साध्वी का होता हैं, वे पूर्ण अकल्पनीय होते हैं। (३) जिन मकानों के निर्माण में साधु-साध्वियों का मुख्य लक्ष्य न होकर उनकी अनुकूलताओं का लक्ष्य रखा गया हो या उनके निमित्त सामान्य या विशेष परिकर्म(सुधार) आदि किये गये हो तो वे मकान अकल्पनीय होते हुए भी कालान्तर से या गृहस्थ के उपयोग में आ जाने से कल्पनीय हो जाते हैं। ***-आचा॰ श्रु॰-२, अ॰-२, उ॰-१।***

पाट की गवेषणा

सदोष एव निर्दोष उपाश्रय के विकल्पों की जानकारी होने के साथ पाट सम्बन्धी विकल्पों की जानकारी होना भी आवश्यक है क्यों कि कई उपाश्रयों में सोने बैठने के लिये पाट भी रहते हैं। उन पाटों के सम्बन्ध में भी तीन विकल्प होते हैं - १. निर्दोष, २. सदोष, ३. अव्यक्तदोष।

निर्दोष पाट- (१) कई प्रान्तों में प्रचलित परिपाटी के अनुसार गृहस्थों के घरों में, सामाजिक कार्यो के मकानों में, पाठशालाओं में तथा पुस्तकालयों आदि में आवश्यकतानुसार पाट बनाये जाते हैं। व घरों में रखे हो अथवा उपाश्रय में भेंट दे दिये हों। **(२)** कई गाँवो में मकोड़े, बिच्छु आदि जीवों के उपद्रव के कारण श्रावक श्राविकाओं

के दया, स वर, पोषध, आदि करते समय उपयोग में लेने के लिये कई पाट बनवाये जाते हैं। ये उक्त दोनों तरह के पाट पूर्ण शुद्ध है।

सदोष पाट- (१) सन्त-सतियों के बैठने या शयन करने के लिये अथवा व्याख्यान वाचते समये बैठने के लिये छोटे-बड़े पाट बनवाये जाते हैं। (२) कई जगह साधु और गृहस्थ दोनों के उपयोग में लेने के लिये पाट बनवाये जाते हैं। (३) बने हुए पाट साधु-साध्वियों के उद्देश्य से खरीदकर उपाश्रय में भेंट किये जाते हैं। ये तीनों साधु के उद्देश्य से खरीदे या बनाये गये पाट है, अतः सदोष है।

अव्यक्त दोष वाले पाट- (१) विवाह आदि के विशेष अवसरों पर पाट बनवाकर भेंट दिये जाते हैं, उस समय उपाश्रय में आवश्यक है या नहीं इसका कोई विचार नहीं किया जाता है। (२) मेरा नाम उपाश्रयों में रहे इसके लिए पाट ही देना विशेष उपयुक्त है, ऐसे विचार से भी उपाश्रयों में पाट भेंट किये जाते हैं। ये निरुद्देश्य या अव्यक्त उद्देश्य से बनाये गये पाट है।

पाट आदि स स्तारकों के सम्बन्ध में औद्देशिकादि गुरुतर दोषों का कथन करने वाले आगम पाठ नहीं मिलते हैं तथा किस दोष वाला पाट कब तक अकल्प्य रहता है और कब कल्प्य हो जाता है, इस प्रकार के स्पष्ट कथन करने वाले पाठ भी उपलब्ध नहीं होते हैं।

आचा॰ श्रु॰-२, अ॰-२, उ॰-३ में पाट से सम्बन्धित जो पाठ है उसका सार यह है कि साधु-साध्वी पाट ग्रहण करना चाहे तो उन्हें यह ध्यान रखना आवश्यक है- **१.** उसमें कहीं जीव-जन्तु तो नहीं है। **२.** गृहस्थ उसे पुनः स्वीकार कर लेगा या नहीं। **३.** अधिक भारी तो नहीं है। **४.** जीर्ण या अनुपयोगी तो नहीं है।

यदि वह पाट जीवरहित, प्रतिहारिक, हल्का एव स्थिर (मजबूत) है तो ग्रहण करना चाहिये, अन्यथा नहीं लेना चाहिए।

इसके अतिरिक्त पाट से सम्बन्धित दोषों का कथन आगमों में उपलब्ध नहीं है। पाट आदि के निर्माण में केवल परिकर्म कार्य ही किये जाते हैं। जो मकान के पुरुषान्तरकृत कल्पनीय दोषों से अत्यल्प ही होते हैं अर्थात् इनके बनने में अग्नि, पृथ्वी आदि की विराधना नहीं होती है। अप्काय की विराधना भी प्रायः नहीं होती है। अतः आधाकर्मादि दोषों की इसमें सम्भावना नहीं है। इसलिए इनके बनाने में केवल परिकर्म

दोष या क्रीतदोष ही होता है। क्रीत मकान या परिकर्म दोष युक्त मकान के कल्पनीय होने के समान ही इन उक्त दोनों विभाग के दोषों वाले पाटों को भी कालान्तर से अथवा गृहस्थ के उपयोग में आ जाने के बाद कल्पनीय समझ लेना चाहिए।

जैन साधुओं के १. दिगम्बर २. श्वेताम्बर म दिरमार्गी ३. स्थानक वासी ४. तेरहप थी आदि रूप जो भेद है, उनमें से एक स घ के साधुओं के उद्देश्य से बना हुआ आहार या मकान दूसरे स घ के साधुओं के लिये औद्देशिक दोषयुक्त नहीं है। इस विषय का कथन मूल आगमों में नहीं है किन्तु प्राचीन व्याख्या ग्र थों में है। उसका आशय यह है कि जिनके सिद्धान्त और वेश समान हों वे प्रवचन एव लि ग(उभय) से साधार्मिक कहे जाते हैं। इस प्रकार के साधर्मिक साधु के लिये बना आहार मकान आदि दूसरे साधर्मिकों के लिये भी कल्पनीय नहीं होता है ।

उपर्युक्त चारों जैन विभागों के वेश और सिद्धा तों में भेद पड़ गये हैं और प्रत्येक स घ ने एक दूसरे से सर्वथा भिन्न व स्वतन्त्र रूप धारण कर लिया है। अतः उक्त एक जैन स घ का औद्देशिक मकान आदि दूसरे स घ वालों के लिये औद्देशिक नहीं है।

छोटे क्षेत्र के छोटे श्रावक समाज में सभी जैन स घों के मिश्रित भाव से निर्मित औद्देशिक शय्या आदि सभी स घों के साधुओं के लिये औद्देशिक दोषयुक्त ही समझना चाहिए।

प्रकरण-८ : ऊपर की म जिल में साधु का ठहरना

(उद्दे०-१३, सूत्र-११) अ तरिक्षजात- म च, माल, मकान की छत आदि स्थलों की ऊँचाई तो उनके नाम से ही स्पष्ट हो जाती है, अतः अ तरिक्षजात का 'ऊँचे स्थान' ऐसा अर्थ नहीं करना चाहिए, किन्तु 'आकाशीय अनावृतस्थल' ऐसा अर्थ करना चाहिए अर्थात् सूत्र कथित ऊँचे स्थलों के चौतरफा भित्ति आदि न होकर खुला आकाश हो तो वे ऊँचे स्थल अ तरिक्षजात विशेषण वाले कहे जाते हैं। यही अर्थ आचा० श्रु०-२, अ०-२, उ०-१ के इस विषयक विस्तृत पाठ से भी स्पष्ट होता है क्यों कि सूत्रगत ऊँचे स्थल यदि भित्ति आदि से चौतरफ आवृत्त हों तो गिरने आदि की आचारा ग में कही गई सम्भावनाएँ स गत नही हो सकती है। अनावृत्त ऊँचे स्थानों में ही सुखाए गये वस्त्र पात्र

आदि के उड़ कर गिर जाने की सम्भावना रहती है एव उससे अयतना और प्रमाद की वृद्धि होती है। इसीलिए आगम में ऊँचे और अनावृत स्थान अनेक क्रियाएँ करने के लिए निषिद्ध है किन्तु आवृत स्थान में ऊँचे-नीचे किसी भी स्थान का विवेक पूर्वक उपयोग किया जा सकता है। उसमें सूत्रोक्त कोई भी दोष नहीं लगते हैं। क्यों कि पदार्थो का उड़ना, गिरना, पड़ना, भित्ति से अनावृत स्थानों में ही सम्भव हो सकता है। चौतरफ से आवृत या उपर से ढ़के अथवा ऊपर की म जिल के ब द कमरों में ऐसे कोई दोष स भव नहीं है। अतः सूत्र का सही आशय समझ कर ही प्ररूपणा एव प्रवृत्ति करनी चाहिए ।

प्रस्तुत सूत्र कथित प्रायश्चित्त भी ऊँचे और अनावृत(चौतरफ से बिना भित्ति वाले) स्थान पर सूत्र निर्दिष्ट कार्य करने पर ही आता है, ऐसा समझना चाहिए।

रस्सी पर कपड़े सुखाना- प्रस्तुत सूत्र में एव अन्य सूत्रों से चौतरफ से बिना ढ़के हुए छत आदि पर बैठने, रहने, पात्र वस्त्र आदि सुखाने का जो निषेध है, उसकी उचितता स्पष्ट है कि वहाँ से गिरने, पड़ने, दूर उड़ जाने की प्रायः सम्भावना रहती है। ऐसे ही ऊँचे स्थानों में रस्सी पर कपड़े सुखाना भी सूत्रोक्त दोषों से युक्त होता है किन्तु नीचे या ऊँचे चौतरफ से घिरे हुए अथवा सुरक्षित स्थान में रस्सी पर कपड़े सुखाने पर सूत्रोक्त दोषों की सम्भावना नहीं रहती है।

प्रश्न हो सकता है कि रस्सी पर कपड़े हवा से हिलते रहने से एव गिरने से वायुकाय की अयतना होती है।

समाधान यह है कि रस्सी पर नहीं सुखाकर भूमि पर ही वस्त्र सुखाया जाय तो भी हवा से वह भी हिलता रहता है चारों तरफ पत्थर रख भी दिए जाय तो भी बीच में हिलता रहता है। अधिक हवा होने पर भूमि पर सुखाए कपड़े भी इधर-उधर उड़ते रहते हैं। कम हवा हो तो ड़ोरी पर भी ज्यादा नहीं हिलते हैं।

समझना यह है कि साधु का पहिना हुवा चद्दर, चोलपट्टा आदि वस्त्र चलने से स्वाभाविक जितना हिलता है काम करने एव बोलने से स्वाभाविक जो अ ग-उपाँग हिलते हैं इस प्रकार के हिलने को वायु काय की अकल्पनीय अयतना नहीं कहा जा सकता है।

अतः वस्त्र भूमि पर हो या रस्सी पर म द हवा से म द हिलना अकल्पनीय अयतना नहीं है और अधिक हवा से अधिक हिलता है तो ऐसे समय और ऐसी हवा की जगह भूमि पर और रस्सी पर कहीं भी वस्त्र सुखाना ही अविवेक है। उस समय वस्त्र के वेग पूर्वक फटाफट करने की जो प्रवृत्ति होती है वह भूमि पर और रस्सी पर दोनों ही जगह सम्भावित है।

कभी कभी भूमि पर अति रज हो तो उसे पूँज कर साफ करने में जितनी क्रिया करनी पड़ती है उतनी रस्सी में नहीं होती है तथा उस धूल से कपड़ा जितना जल्दी अधिक मैला होगा उतना ही जल्दी धोने का प्रमाद खड़ा होगा। वस्त्र धोने में भी हाथ और पानी का अत्यधिक हिलना और मन्थन होता है उसके सामने रस्सी पर सामान्यतया कपड़े का हिलना नगण्य(अल्प) है। अतः विवेक पूर्वक रस्सी पर कपड़ा सूखाना अकल्पनीय नहीं कहा जा सकता और अविवेक है तो भूमि पर सुखाना भी दोषप्रद होगा।

सार– विवेक एव अनुभव तथा हानि लाभ के चिंतन युक्त निर्णय से ही कोई भी प्रवृत्ति करना चाहिए। व्यवहारिक प्रवृत्ति में एका तिक आग्रह हो तो वह अविवेक है।

प्रकरण-९ : अकल्पनीय शय्या-उपाश्रय

(उद्दे॰-१६, सूत्र : १-३) सागरिक शय्या– स्त्री-पुरुष जहाँ रहते हों अथवा जहाँ अकेली स्त्री रहती हो या केवल स्त्रियाँ ही रहती हों, वह स्थान **सागारिक शय्या** है। ऐसी शय्या में भिक्षुओं के रहने का इस सूत्र में प्रायश्चित्त कहा है। आभूषण, वस्त्र, आहार, सुगन्धित पदार्थ, वाद्य, नृत्य, नाटक, गीत तथा शयन, आसन आदि से युक्त स्थान **द्रव्य-सागारिक शय्या** है और स्त्रीयुक्त स्थान **भाव-सागारिक शय्या** है। छद्मस्थ साधक के अनुकूल निमित्त मिलने पर कभी भी मोहकर्म का उदय हो सकता है। जिससे वह स यम समाचारी में शिथिल हो सकता है या ब्रह्मचर्य से विचलित हो सकता है।

सउदक शय्या– जहाँ पर खुले हौज में या घड़े आदि में पानी रहता हो वह सउदक शय्या है। वहाँ ठहरने पर भिक्षु के गमनागमन आदि क्रियाओं से अप्कायिक जीवों की विराधना हो सकती है।

बृहत्कल्प सूत्र उ॰ २ में जहाँ सम्पूर्ण दिन-रात अचित्त जल के घड़े भरे रहते हों वहाँ ठहरने का निषेध है और यहाँ सामान्य रूप से जल पड़ा रहने वाले स्थान का प्रायश्चित्त कहा है।

ऐसे मकान में कभी उदय भाव से किसी भिक्षु को उस जल के पीने का स कल्प भी हो सकता है अथवा अन्य लोगों को साधु के जल पीने की आश का हो सकती है।

सागणिक शय्या– जिस घर में या घर के कक्ष में अग्नि जल रही हो या दीपक जलता हो वह सागणिक शय्या है। वहाँ भिक्षु न ठहरे क्यों कि वह वहाँ गमनागमन करेगा या वन्दन प्रतिलेखन, प्रमार्जन आदि स यम समाचारी के कार्य करेगा तो अग्निकाय की विराधना होने की सम्भावना रहेगी। शीत निवारण के लिये अग्नि का उपयोग करने पर हिंसा के अनुमोदन का दोष लगेगा।

आपवादिक कल्प– उक्त दोष वाले स्थानों में १-२ रात्रि ठहरने पर भी अगीतार्थ साधु को प्रायश्चित्त आता है परन्तु गीतार्थ साधु को प्रायश्चित्त नहीं आता है क्यों कि वह आपवादिक स्थिति के विवेक का यथार्थ निर्णय ले सकता है।

वास्तव में गीतार्थ का विहार करना और गीतार्थ की निश्रा में विहार करना ही कल्पनीय विहार है। एक या अनेक अगीतार्थो के विचरण करने तथा भिक्षाचरी करने आदि कार्यो का निषेध ही है। आचा॰ और निशीथ॰ को अर्थ सहित क ठस्थ धारण नहीं करने वाले सभी अगीतार्थ होते हैं।

स क्षेप में अन्य मकान के सुलभ न होने पर पूर्वोक्त शय्याओं में गीतार्थ भिक्षु १-२ रात्रि ठहर सकता है, अधिक ठहरने पर उसे भी सूत्रोक्त प्रायश्चित्त समझना चाहिए।

प्रकरण-१० : निवास सम्बन्धी कल्प मर्यादा और अपवाद

(उद्दे॰-२, सूत्र-३७) कल्पमर्यादा के सम्बन्ध में आचा॰ श्रु॰ २, अ॰ २, उ॰ २ के अनुसार दो क्रियाएँ दोषरूप कही गई है- १. कालातिक्रान्त किया २. उपस्थान क्रिया।

कालातिक्रान्त क्रिया– एक क्षेत्र में एक मासकल्प(२९ दिन) रहने के बाद भी वहाँ से विहार न करें तथा एक क्षेत्र में चातुर्मासकल्प

(आषाढ़ पूर्णिमा से कार्तिक पूर्णिमा तक) रहने के बाद भी वहाँ से विहार न करे तो 'कालातिकान्त क्रिया' नामक दोष लगता है।

उपस्थान क्रिया– एक क्षेत्र में एक मासकल्प रहने के बाद दो मास अन्यत्र बिताये बिना वहीं आकर रहे तो 'उपस्थान क्रिया' नामक दोष लगता है। इन दोनों क्रियाओं का सेवन करना ही 'नित्यवास' माना गया है। इसी नित्यवास का सूत्रोक्त लघुमास प्रायश्चित्त है।

नित्यवास-निषेध एव उसके प्रायश्चित्त-विधान का मूल हेतु यह है कि अकारण निरन्तर नित्यनिवास से अतिपरिचय होता है, उससे अवज्ञा या अनुराग दोनों हो सकते हैं। अवज्ञा से धर्म की हीलना और अनुरागवृद्धि से चरित्र की स्खलना होना स भव है। चारित्र स्खलना में गवेषणा और ब्रह्मचर्य की स्खलना प्रमुख होती है। इसलिए मास कल्प या चातुर्मासकल्प बिताकर विहार करना एव दुगुना काल अन्यत्र विचरना अत्यावश्यक है।

दशवैकालिक चू०-२, गाथा-११ के अनुसार चातुर्मास कल्प वाले क्षेत्र में एक वर्ष पर्यन्त पुनः न जाने की काल गणना इस प्रकार है- चातुर्मासकल्प के चार मास, उससे दुगुना आठ मास बीतने पर पुनः चातुर्मासकल्प आजाने से तिगुना काल एक वर्ष हो जाता है।

दुगुणा तिगुणेण – आचा० श्रु०२, अ०२, उ०२ में नित्यवास सम्बन्धी उपस्थान क्रिया का वर्णन करते हुए यह सूचित किया गया है कि शेष काल के कल्प(एक मास) का दुगुना काल अन्यत्र बिताये बिना पुनः वहाँ नहीं आना और चातुर्मास का तिगुणा काल अन्यत्र बिताये बिना पुनः वहाँ नहीं आना चाहिए अर्थात् दो महीने अन्यत्र बिताने के बाद पुनः उस क्षेत्र में मास कल्प रहा जा सकता है और चातुर्मास बाद तिगुनाकाल बारह मास अन्यत्र बिताने के बाद उस क्षेत्र में कभी भी मास कल्प या चौमासकल्प रहा जा सकता है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि एक चौमासे के बाद दो चौमासे अन्यत्र किये बिना उस क्षेत्र में चौमासा नहीं करना यह एका त धारणा अनावश्यक एव आगमाधार रहित है अर्थात् अति प्ररुपणा है। तथा चौमासे के बाद या मास कल्प पूरा करने के बाद एक रात या दो रात कहीं बिताकर फिर उस चौमासे किये क्षेत्र में रहना स्पष्टतः आगम

विपरीत स्वच्छ द प्रवृत्ति है। अनेक श्वे० मूर्तिपूजक स तों ने ऐसी प्रवृत्ति चला रखी है उन्हें इसमें आगम चिंतन पूर्वक स शोधन करना चाहिए।

कल्प में अपवाद का आधार– आगमों में कल्प उपरा त रहने का कहीं भी आपवादिक विधान नहीं है, किन्तु यहाँ भाष्य गाथा- १०२१ से १०२४ तक ग्लान अवस्था आदि परिस्थितियों में तथा ***ज्ञानादि गुणों की वृद्धि हेतु नित्यवास को दोष रहित कहा है तथा इन कारणों से रहने वाले भिक्षु को जिनाज्ञा एव स यम में स्थित माना है।***

इसी भाष्य गाथा के विधान के आधार से आजकल औषध उपचार के लिए या अध्ययन-अध्यापन के लिए युवक स त-सतियाँ कल्प उपरा त ठहरते हैं अथवा मध्यम तीर्थंकर के शैलक राजर्षि की ओट लेकर एक वृद्ध ग्लान साधु के आलम्बन से अनेक साधु-साध्वी कल्प उपरा त एक जगह ठहरते हैं जब कि सेवा के लिए तो एक या दो स तों की आवश्यकता होती है।

वास्तव में सेवा कार्य या स्वय की रुग्णता और अध्ययन के हेतु बिना केवल आलस्य या स्वच्छ दता से कल्प उपरा त ठहरना अकारण मर्यादा भ ग करना है जिसकी छूट भाष्य गाथा में भी नहीं कही गई है।

सार– (१) रुग्णता एव अध्ययन हेतु युवक स त भाष्याधार से कल्प उपरा त ठहरते हैं। (२) किसी की ओट से अकारण ठहरना स्वच्छ द वृत्ति है। (३) चौमासे के बाद एक चौमासा उस क्षेत्र में नहीं करना दूसरा चौमासा किया जा सकता है। (४) मास कल्प के बाद दुगुना और चौमासे के बाद तिगुणा काल बिताये बिना उस क्षेत्र में आकर ठहरना गलत है। (५) दुगुना तिगुणेण आचारा ग का पाठ ही शुद्ध है।

प्रकरण-११ : भिक्षु का नौका विहार एव वाहन उपयोग

(उद्दे०-१८, सूत्र-१) अप्काय के जीवों की विराधना का भिक्षु पूर्णतः त्यागी होता है अतः उसे नौका विहार करना नहीं कल्पता है। **आचारा ग सूत्र, बृहत्कल्प सूत्र तथा दशाश्रुतस्क ध सूत्र** में अपवादरूप विशेष प्रयोजनों से नौका द्वारा जाने का विधान है।

नौका विहार के कारण– सूत्रों में कहे गये नौका विहार करने का प्रमुख कारण तो कल्पमर्यादा पालन करने का है, साथ ही १. सेवा में जाना, २. भिक्षा दुर्लभ होने पर सुलभ भिक्षा वाले क्षेत्रों में जाना,

३. स्थल मार्ग जीवाकुल होने पर, ४. स्थल मार्ग अत्यधिक लम्बा होने पर(इसका अनुपात भाष्य से जानना), ५. स्थल मार्ग में चोर, अनार्य या हिंसक जन्तुओं का भय हो, ६. राजा आदि के द्वारा निषिद्ध क्षेत्र हो तो नौका द्वारा योग्य नदी को पार करने के लिये नाव में बैठना आगम विहित है अथवा इसे सप्रयोजन माना गया है। उनका इस सूत्र से प्रायश्चित्त नहीं आता है। किन्तु अप्काया(जल) आदि की होने वाली विराधना का प्रायश्चित्त बारहवें उद्देशक में कहे अनुसार समझ लेना चाहिए।

ठाणा ग सूत्र अ० ५ में वर्षाकाल में विहार करने के कुछ कारण कहे हैं उन कारणों से विहार करने पर कभी नौका द्वारा नदी आदि पार करना पड़े तो वह भी सकारण नौका विहार है, अतः उसका प्रस्तुत सूत्रोक्त प्रायश्चित्त नहीं आता है।

नाव देखने के लिये या नौका विहार की इच्छा पूर्ति के लिये ग्रामानुग्राम विचरण करने के लिए या तीर्थ स्थलों में भ्रमण करने हेतु अथवा अकारण या सामान्य कारण से नाव में बैठना निष्प्रयोजन बैठना कहा जाता है उसी का इस प्रथम सूत्र में प्रायश्चित्त कहा गया है।

प्रथम सूत्र के विवेचन मे बताये गये कारणों से जाना आवश्यक होने पर, नौकास तारिम जल युक्त मार्ग ही होने पर, अन्य कोई उपाय न होने से, नौका विहार का सुत्र में विधान है। यदि विहार करते हुए कभी मार्ग में ज घास तारिम जल हो तो उसे पार करने के लिए पैदल जाने की विधि आ० श्रु०-२, अ०-३, उ०-२ में बताई गई है।

ज घाबल क्षीण हो जाने पर या अन्य किसी शारीरिक कारण से विहार न हो सके तो भिक्षु एक स्थान पर स्थिरवास रह सकता है।

सूत्रोक्त नौका विहार का विधान प्रवचन प्रभावना के लिए भ्रमण करने हेतु नहीं हैं, क्यों कि निशीथ उ. १२ में तथा दशा० द० २ में महिने में दो बार और वर्ष में नव बार की ही छूट है जिसका केवल कल्प मर्यादा पालने हेतु नदी पार करने से सम्बन्ध है । इसके सिवाय प्रवचन प्रभावना के लिए पाद विहारी भिक्षु को वाहनों के प्रयोग का स कल्प करना भी स यम जीवन में अनुचित्त है।

अन्य वाहन का उपयोग– उत्सर्ग विधानों के अनुसार स यम साधना करने वाले भिक्षु को पाद विहार ही प्रशस्त है और अपवाद विधानों के अनुसार परिमित जल मार्ग को नौका द्वारा पार करने का आगम

में विधान है अन्य वाहनों के उपयोग करने का निषेध प्रश्नव्याकरण श्रु० २, अ० ५ में है वहाँ हाथी, घोड़े, वाहन, रथ आदि यान तथा ड़ोली, पालकी आदि का भी निषेध है। विशेष परिस्थिति में इनके आपवादिक उपयोग का निर्णय गीतार्थ की निश्रा से विवेक पूर्वक करना चाहिए। यान-वाहन उपयोग करने के कारण अकारण का स्पष्टीकरण भी नाव मे प्रयोग के लिए कहे गये कारणों के समान समझ लेना चाहिए। **कल्प मर्यादा** का कारण इनमें नहीं होता है।

जीव विराधना की तुलना– विशेष कारण होने पर नौका द्वारा जल मार्ग पार करने में अप्कायिक जीवों की विराधना अधिक होती है और अन्यकायिक जीवों की विराधना अल्प होती है। सकारण अन्य वाहनों के उपयोग में वायुकायिक जीवों की विराधना अधिक तथा तेजस्कायिक जीवों की विराधना अल्प एव शेषकायिक जीवों की विराधना और भी अल्प होती है। इन जीव विराधनाओं का उद्देशक-१२ सूत्र-८ के अनुसार प्रायश्चित्त आता है।

अपवाद का निर्णय एव प्रायश्चित्त– अपवादों के सेवन का उसके सेवन की सीमा का और प्रायश्चित्त का निर्धारण तो गीतार्थ ही करते हैं। आगमोक्त एव व्याख्या में कहे अपवादों के अतिरिक्त यानों का उपयोग करना अकारण उपयोग माना जाता है अतः उनके अकारण उपयोग का प्रायश्चित्त यहाँ प्रथम सूत्र के अनुसार समझना चाहिए एव सकारण वाहन उपयोग का प्रायश्चित्त नहीं आता है। यह भी इस प्रथम सूत्र से स्पष्ट होता है। किन्तु गवेषणा, विराधना आदि दोषों का प्रायश्चित्त सकारण या अकारण दोनों प्रकार के वाहन प्रयोग में आता है, ऐसा इन सूत्रों का तात्पर्य समझना चाहिए।

नौका विहार सम्बन्धी विधि निषेध का तथा उपसर्गजन्य स्थिति का विस्तृत वर्णन आचा० श्रु० २, अ० ३, उद्दे०-१,२ में स्वय सूत्रकार ने किया है। अतः तत्सम्बन्धी अर्थ विवेचना एव शब्दार्थ वहीं से जानना चाहिए। अन्य जानकारी के लिये निशीथ उद्देशक १२ तथा १८ एव बृहत्कल्प और दशाश्रुतस्क ध का विवेचन देखना चाहिये।

प्रकरण-१२ : स्त्री परिषद में रात्रि व्याख्यान विचारणा

(उद्दे०-८, सूत्र-१०) आगमों में स्त्री-सस र्ग का निषेध होते हुए भी

स्त्रियों को दिन में धर्मकथा कहने का सर्वथा निषेध नहीं किया है। अकेला साधु और अकेली स्त्री हो तो धर्म कथा आदि का निषेध अन्य सूत्रो में तथा उपर्युक्त सूत्रों में हुआ है। अनेक स्त्रियाँ या अनेक साधु हो तो उसका निषेध आगम में नहीं है। अर्थात् अनेक स्त्रियाँ हो या पुरुष युक्त स्त्रियाँ हों तो दिन में धर्मकथा कही जा सकती है। फिर भी वय, योग्यता व गुरु की आज्ञा लेने का विवेक रखना आवश्यक है।

प्रस्तुत सूत्र में रात्रि के समय स्त्री परिषद में धर्मकथा कहने का निषेध किया गया है। अतः रात्रि में साधु के निकट सम्मुख केवल स्त्री परिषद् हो या पुरुष युक्त स्त्री परिषद् हो तो धर्मकथा नहीं कहनी चाहिए, यह विधिमार्ग है।

अपरिमाणाए– भिक्षाचारी आदि के लिये गया हुआ साधु गृहस्थ के घर में धर्मकथा नहीं कर सकता है। किन्तु अत्यावश्यक प्रश्न के उत्तर स क्षिप्त में दे सकता है एव आवश्यक होने पर व्रत महाव्रत का स्वरूप भी विवेक से स क्षिप्त में कह सकता है। देखे- **बृहत्कल्प उद्देशक-३**। इसी आशय से यहाँ भी 'अपरिमाणाए' शब्द का प्रयोग सूत्र में किया गया है। भाष्यचूर्णी आदि में भी इसी आशय का कथन है। भाष्यगाथा -

इत्थीण मज्झम्मि, इत्थीस सत्ते परिवुड़े तेहिं ।
चउ प च उ परिमाण , तेण पर कह त आणादी ॥२४३०॥

चूर्णि- परिमाण जाव तिण्णि चउरो प च वा वागरणानि, परतो छट्टादि अपरिमाण । यहाँ तीन, चार या पाँच पृच्छा या गाथा को परिमित कहा गया। छः पृच्छा आदि को अपरिमाण कहा है।

भिक्षा लेने के बाद गृहस्थ के घर में खड़े रहने का निषेध बृहत्कल्प में किया गया है, किन्तु जिस प्रकार आपवादिक स्थिति में बृहत्कल्प सूत्र के अनुसार स क्षिप्त उत्तर देने आदि का विधान भी है। इसी तरह इस सूत्र में भी 'अपरिमाणए' शब्द से आपवादिक कथन ही समझना चाहिए। साधु के लिये अन्य कथा या विकथा तो सर्वथा निषिद्ध है ही अतः यहाँ 'कथा' से धर्मोपदेश आदि करना ही अपेक्षित है। अतः उचित एव आवश्यक प्रतीत होने पर रात्रि में उक्त परिषद को स क्षिप्त धर्मकथा या प्रश्न का उत्तर कह सकता है, परिमाण उल्ल घन होने पर ही सूत्रोक्त गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

सार :– (१) दिन के व्याख्यान की परिषद में बैठने के समान रात्रि में स्त्रियाँ व्याख्यान की निकट परिषद में नहीं बैठना चाहिए। एक तरफ दूर अलग बैठ सकती है। यह सूत्र का आशय है। (२) गोचरी गया हुआ साधु गृहस्थ के घर में आवश्यक होने पर परिमित धर्म कथन कर सकता है उसी प्रकार आवश्यक होने पर रात्रि में अनेक स्त्रियों को या स्त्री युक्त पुरुषों को परिमित धर्म कथन या परिमित उत्तर भिक्षु दे सकता है।

प्रकरण-१३ : पात्र के ब धन सूत्रों का वास्तविक आशय

(उद्दे०-१, सूत्र-४३)साधु का लक्ष्य तो यह रहे कि जिस पात्र का सुधार या उसके ब धन आदि कार्य न करना पड़े, ऐसे पात्र की ही याचना करें। सूत्र ४१-४२ व ४४-४५ दो-दो सूत्रों का भाव यही है कि 'जो भी पात्र मिले वह ऐसा हो कि कुछ भी स स्कार सुधार किए बिना सीधा उपयोग में आवे। यदि ऐसा न हो तो आवश्यकतानुसार जघन्य एक और उत्कृष्ट तीन ब धन लगाये जा सकते हैं।'

ब धन का अर्थ है- पात्र की गोलाई को धागे आदि से बा धकर मजबूत करना, जिससे अधिक समय तक सुरक्षित रह सके। एक स्थान पर ब धन लगाना एक ब धन कहलाता है और तीन स्थानों पर बा धना तीन ब धन कहलाता है। मिट्टी के पात्र में बिना ब धन के काम चल सकता है तो एक भी जगह बा धने की आवश्यकता नहीं होती है। लकड़ी के अत्यन्त छोटे पात्र में एक भी ब धन की आवश्यकता नहीं होती है। लकड़ी के बड़े पात्र में एक ब धन आवश्यक होता है। तुम्बे का पात्र आवश्यकतानुसार दो या तीन जगह ब धन लगाने से सुरक्षित रहता है।

साधु का मुख्य लक्ष्य सदा यह रहे कि अधिक प्रमाद न हो और स्वाध्याय बढ़े। साधु का प्रमाद शरीर और उपधि सम्बन्धी कार्य करना होता है, सावद्ययोग रूप गृहस्थ के प्रमाद का तो वह सर्वथा त्यागी ही होता है।

अइरेग ब धन– आवश्यक होने पर ब धन लगाने की अनुज्ञा(स्वीकृति) है, उत्कृष्ट तीन ब धन लगाने की भी अनुज्ञा है। तीन ब धन वाला पात्र जब तक उपयोग में आवे तब तक रखा जा सकता है। सामान्यतः तीन से ज्यादा ब धन की आवश्यकता या उपयोगिता किसी भी प्रकार के पात्र में नहीं होती है। यह सूत्र ४४-४५ से स्पष्ट होता है, तथापि

सूत्र-४६ में विकट परिस्थिति की स भावना के आशय से उसकी भी सीमित अनुज्ञा दी गई है अर्थात् किसी क्षेत्र या काल की परिस्थिति में लकड़ी या तु बा का पात्र जिसमें कि पहले से तीन ब धन लगे हैं और वह टूट-फूट जाय तो जब तक अन्य पात्र न मिले तब तक ४-५ ब धन लगाकर के भी चलाना पड़े तो शीघ्रातिशीघ्र मिट्टी आदि के पात्र की याचना कर लेना चाहिए और अधिक ब धन वाले पात्र को परठ देना चाहिए। उस अधिक ब धन वाले पात्र को ड़ेढ़ महीने के बाद रखने पर इस(४६ वें) सूत्र से प्रायश्चित्त आता है।

विधि और अविधि ब धन की व्याख्या– (१) ब धन और थेगली लगाने के बाद तथा सिलाई के बाद वह स्थान प्रतिलेखन करने योग्य हो जाना चाहिए। (२) जहाँ ब धन, थेगली आदि लगाये गए हों, वहाँ से आहार आदि का अ श सरलता से साफ हो जावे ऐसा हो जाना चाहिए। (३) ब धन आदि लगाने का कार्य कम से कम समय में हो जाए, अधिक समय न लगे। ये ही विधि या विवेक समझने चाहिए और इसके विपरीत अविधि समझना चाहिए।

प्रकरण-१४ : पुस्तक रखने सम्बन्धी सत्य हकीगत

(उद्दे०-१२, सूत्र-५) भाष्य में पुस्तकों के **पाँच** प्रकार बताये हैं । यथा- **(१)** ग ड़ी पुस्तक- चौड़ाई, मोटाई में समान अर्थात् चौरस ल बी पुस्तक। **(२)** कच्छपी पुस्तक- बीच में चौड़ी, किनारे कम चौड़ी अल्प मोटाई वाली। **(३)** मुष्टि पुस्तक- चार अ गुल विस्तार में वृत्ताकार गोल अथवा चार अ गुल ल बी चौड़ी समचौरस। **(४)** स पुट-फलक पुस्तक- वृक्ष आदि के फलक से निर्मित पुस्तक । **(५)** छेदपाटी पुस्तक- ताड़ आदि के पत्तों से बनी पुस्तक, कम चौड़ी तथा ल म्बाई व मोटाई में अधिक एव बीच में एक, दो या तीन छिद्र वाली। ये सभी पुस्तकें झुषिर (पोलार) युक्त होने से दुष्प्रतिलेख्य है, अतः अकल्पनीय है।

पुस्तक रखने से होने वाले नुकशान– **(१)** विहार में भार अधिक होता है। **(२)** क धों पर घाव हो सकते हैं। **(३)** पोलार रहने से प्रतिलेखन अच्छी तरह नहीं होता है। **(४)** कु थुवे, फूलन, (पनक) की उत्पत्ति हो सकती है। **(५)** धन की आशा से चोर चुरा सकते हैं । **(६)** तीर्थंकर भगवान ने इनके उपयोग करने की आज्ञा नहीं दी है अर्थात् प्रश्नव्याकरण आदि आगमों में कहे गये भिक्षु के उपकरणों में

इनका नाम नहीं है। **(७)** स्थाना तरित करने में परिम थ होता है। **(८)** सूत्र लिखा हुआ है ही, ऐसा सोच कर साधु-साध्वी प्रमादवश पुनरावृत्ति या क ठस्थ नहीं करते तो उससे श्रुत-अर्थ विनष्ट होता है। **(९)** पुस्तक सम्बन्धी परिकर्म में सूत्रार्थ के स्वाध्याय की हानि होती है। **(१०)** अक्षर लिखने में कु थुवे आदि प्राणियों का वध हो सकता है। **(११)** कई स घातिम जीवों के कलेवर अक्षरों पर चिपक जाते हैं अथवा उसका खून अक्षरों पर लग जाता है।

जीववध के चार दृष्टा त– (१) चतुर गिणी सेना के बीच से हिरण, (२) घी दूध आदि से स पातिम जीव, (३) तेल की घाणी आदि में से तिल या त्रस जीव तथा ४. जाल में फँसा हुआ मत्स्य इत्यादि अनेक जीव कदाचित् छूट भी सकते हैं, बच भी सकते हैं, किन्तु पुस्तक के बीच में आजाने वाले प्राणी नहीं बच सकते। इसलिये भाष्य में कहा है-

जतिय मेत्ता वारा, मु चति ब धति य जतिया बारा ।
जति अक्खराणि लिह ति व, तति लहुगा व आवज्जे ॥४००८॥

अर्थ :– इन पुस्तकों को जितनी बार खोले, ब द करे या जितने अक्षर लिखें उतनी बार लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है और जो प्राणी मर जाय उसका प्रायश्चित्त भी अलग आता है।

पुस्तक रखने का अपवाद मार्ग एव विवेक– शारीरिक परिस्थिति में आवश्यक होने पर चर्म-प चक ग्रहण करके उपयोग में लिये जा सकते हैं, उसी प्रकार श्रुत विस्मृति आदि कारणों से अध्ययन में सहयोगी होने से, पुस्तक आदि साधन भी विवेक के साथ रखे जा सकते हैं।

अपने पास रखी जाने वाली अधिक और औपग्रहिक उपधि का उभयकाल प्रतिलेखन प्रमार्जन करना भिक्षु का आवश्यक आचार है। तदनुसार यदि पुस्तकों को अपनी उपधि रुप में रखना हो तो उनका भी उभय काल यथाविधि प्रतिलेखन, प्रमार्जन करना चाहिए। ऐसा करने पर भाष्योक्त कई दोषों की सम्भावना भी नहीं रहती है और ज्ञान-आराधना में भी सुविधा रहती है।

भाष्यकाल की पुस्तकों की अपेक्षा वर्तमान युग की पुस्तकों में झुषिर अवस्था एव जीवोत्पत्ति भी अत्यल्प होती है इस कारण से भी इनमें दोष की सम्भावना अल्प है।

ज्ञान भण्ड़ारों में उचित विवेक किए बिना रखी जाने वाली अप्रतिलेखित पुस्तकों में अनेक प्रकार के जीव उत्पन्न हो जाते हैं । उन पुस्तकों का उपयोग करने में जीव विराधना की अत्यधिक सम्भावना रहती है, अतः उसका यथोचित विवेक रखना चाहिए।

आवश्यक अध्ययन के बाद पुस्तकें रखना, लिखना या पढ़ना आदि प्रवृत्तियों से निवृत्त होने का स कल्प रखना चाहिए एव यथा समय इनसे निवृत्त होकर क ठस्थ स्वाध्याय एव ध्यान साधना मय जीवन व्यतीत करना चाहिए।

प्रकरण-१५ : अनुकम्पा में दोष के भ्रम का निवारण

(उद्दे०-१२, सूत्र-१-२) कोलुण शब्द का अर्थ करूणा होता है । यथा- ***कोलुण -कारुण , अनुकम्पा । -चूर्णी***

ब धा हुआ पशु ब धन से मुक्त होने के लिए छटपटा रहा हो, उसे ब धन से मुक्त कर देना अथवा सुरक्षा के लिये खुले पशु को नियत स्थान पर बाँध देना यह पशु के प्रति करूणा भाव है।

पशु को बाँधने पर वह ब धन से पीड़ित हो या आकुल-व्याकुल हो तो तज्जन्य हिंसा दोष लगता है। खोलने पर कुछ हानि कर दे, निकलकर कहीं गुम जाये या ज गल में चला जाये और वहाँ कोई दूसरा पशु उसे खा जाये या मार ड़ाले तो भी दोष लगता है।

यद्यपि पशु आदि के खोलने-बाँधने आदि के कार्य स यम समाचारी से विहित नहीं है। ये कार्य भी गृहस्थ के कार्य ही हैं। इसलिए उसका प्रायश्चित्त गृहस्थ कार्य करने के प्रायश्चित्त के बराबर आना चाहिए अर्थात् गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आना चाहिए । किन्तु अनुकम्पा भाव की मुख्यता होने से इसका गुरु प्रायश्चित्त न कहकर लघु प्रायश्चित्त कहा गया है।

अनुकम्पा भाव रखना यह सम्यक्त्व का मुख्य लक्षण है, फिर भी भिक्षु ऐसे अनेक गृहस्थ, जीवन के कार्यो में न उलझ जाये इसलिये उसके स यम जीवन की अनेक मर्यादाएँ हैं। भिक्षु के पास आहार या पानी आवश्यकता से अधिक हो तो उसे परठने की स्थिति होने पर भी किसी भूखे या प्यासे व्यक्ति को मा गने पर या बिना मा गे देना नहीं कल्पता है क्यों कि इस प्रकार देने की प्रवृत्ति से या प्रस्तुत सूत्र कथित प्रवृत्ति करने में क्रमशः भिक्षु अनेक गृहस्थ कृत्यों में उलझ कर

स यम साधना के मुख्य लक्ष्य से दूर हो सकता है। उत्तरा० अ० ९, गा० ४० में नमिराजर्षि शकेन्द्र के द्वारा की गई दान की प्रेरणा के उत्तर में कहते हैं- ***तस्सावि स जमो सेओ, अदि तस्स वि कि चण ॥*** अर्थात् कुछ भी दान न करते हुए गृहस्थ के महान् दान से भी स यम श्रेष्ठ है।

अनुकम्पा भाव युक्त प्रवृत्ति की सामान्य परिस्थिति के प्रायश्चित्त में एव विशेष परिस्थिति के प्रायश्चित्त में भी अन्तर होता है अतः यह प्रायश्चित्तदाता गीतार्थ के निर्णय पर ही निर्भर रहता है।

यदि कोई पशु या मनुष्य मृत्यु स कट में पड़े हों और उन्हें कोई बचाने वाला न हो, ऐसी स्थिति में यदि कोई भिक्षु उन्हें बचा ले तो उसे छेद या तप प्रायश्चित्त नहीं आता है। केवल गुरू के पास उसे आलोचना रूप निवेदन करना आवश्यक होता है।

यदि उस अनुकम्पा की प्रवृत्ति में बाँधना, खोलना आदि गृहकार्य, आहार-पानी देना आदि मर्यादा भ ग के कार्य या जीवविराधना का कोई कार्य हो जाये तो उन दोषों का लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है। किन्तु अनुकम्पा का कोई प्रायश्चित्त नहीं है। फिर भी सूत्र में अनुकम्पा शब्द लगाकर कथन किया है वह मोह भाव का अभाव सूचित कर लघु प्रायश्चित्त कहने की अपेक्षा से है और साथ में यह भी बताया गया है कि करूणा भाव की प्रमुखता से गृहस्थ प्रवृत्ति का भी गुरू से लघु प्रायश्चित्त हो जाता है।

तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी ने स यमसाधना काल में तेजोलेश्या से भस्मभूत होने वाले गौशालक को अपनी शीतलेश्या से बचाया और केवल ज्ञान के बाद इस प्रकार कहा कि- मैने गौशालक की अनुकम्पा के लिये शीतलेश्या छोड़ी, जिससे वेश्यायन बालतपस्वी की तेजोलेश्या प्रतिहत हो गई। - ***भग० श० १५ ।***

अतः इस सूत्र में करूणा भाव या अनुकम्पा भाव का प्रायश्चित्त नहीं है किन्तु उसके साथ की गई गृहस्थ की प्रवृत्ति या स यममर्यादा भ ग की प्रवृत्ति का ही प्रायश्चित्त है और करूणा भाव साथ में होने से उस प्रवृत्ति का लघु प्रायश्चित्त है ऐसा समझना चाहिए।

अनुकम्पा पवित्र आत्म परिणाम है- अनुकम्पा का अर्थ है- किसी प्राणी को दुःखी देखकर देखने वाले का हृदय करूणा से भर जाना और भावना जागृत होना कि 'इसका यह दुःख दूर हो जाय,' इसको ही

अनुकम्पा कहते हैं। यह अनुकम्पा आत्मा का परिणाम है, आत्मा का गुण है और एका त निर्वद्य है। अतः अनुकम्पा के सावद्य-निर्वद्य ऐसे विकल्प करने की कोई आवश्यकता नहीं है। तथापि अनुकम्पा के परिणामों के पश्चात् किसी के दुःख को दूर करने के लिए जो साधन रूप प्रवृत्ति की जाती है वह प्रवृत्ति सावद्य और निर्वद्य दोनों तरह की हो सकती है। **यथा-** भूख-प्यास से व्याकुल पुरुष को श्रावक द्वारा अचित्त भोजन व अचित्त जल दे देना अथवा सचित्त भोजन और सचित्त जल दे देना। किन्तु इससे आत्म परिणाम रूप जो अनुकम्पा भाव है, उन भावों को या आत्मगुणों को सावद्य निर्वद्य के विकल्प से नहीं कहा जा सकता। वे तो शुभ एव पवित्र आत्मपरिणाम ही है।

आत्मा के इन्हीं पवित्र परिणामों के कारण गृहस्थ प्रवृत्ति का भी प्रस्तुत सूत्र में लघु प्रायश्चित्त कहा गया है। अनुकम्पा के भावों के निमित्त से अन्य कोई भी प्रवृत्ति की जाय उसे भी यथायोग्य सावद्य या निर्वद्य समझ लेनी चाहिए।

सार- (१) अनुकम्पा के आत्म परिणाम तो सदा सर्वदा श्रेष्ठ एव पवित्र ही होते हैं। (२) अनुकम्पा से किसी के दुःख को दूर करने में जो प्रवृत्ति की जाती है वह निर्वद्य भी होती है और सावद्य भी होती है। प्रवृत्ति करने में साधु एव श्रावक की अपनी-अपनी अलग-अलग मर्यादाएँ होती है तदनुसार ही विवेक रखना योग्य है।

प्रकरण-१६ : स भोग-प्रत्ययिक क्रिया का अस्तित्व

(उद्दे०-५, सूत्र-३९) ***'एकत्र भोजन स भोगः ततप्रत्यया क्रिया-कर्मबन्ध, नास्तीति, जो एव भाषते, तस्स मास लहू। एस सुत्तत्थो।' 'स भोइओ स भोइएण सम उवहिं सोलसेहिं आहाकम्मादिएहिं उग्गमदोसेहिं सुद्धं उप्पाए ति तो सुद्धो, अह अशुद्ध उप्पाएइ, जेण उग्गमदोसेण अशुद्ध गेण्हति तत्थ जावतिओ कम्मब धो ज च पायच्छित्त त आवज्जति।' - नि० चूर्णी।***

जिसके साथ में आहार का स भोग(व्यवहार) होता है ऐसा कोई भी सा भोगिक साधु आहारादि की गवेषणा में कोई दोष लगाता है, तो उस वस्तु का उपयोग करने वालों को भी गवेषणा दोष सम्बन्धी क्रिया अर्थात् कर्मबन्ध व प्रायश्चित्त आता है।

अतः स भोगप्रत्ययिक क्रिया के सम्बन्ध में गलत धारणा तथा प्ररूपणा नही करनी चाहिए कि 'गवेषणा करने वाले को दोष लगता

है, खाने या उपयोग में लेने वाले को कोई स भोगप्रत्यया क्रिया नहीं लगती है।' आत्मार्थी श्रमण को सूत्रकृता ग सूत्र अ०-१० में कही गई सूचना को ध्यान में रखना चाहिए अर्थात् जहाँ आधाकर्मी आहार आदि का उपयोग करना आवश्यक हो जाता हो उस समूह का त्याग कर एकत्व चर्या धारण कर लेनी चाहिए।

प्रकरण-१७ : अनुमोदन क्रिया का स्पष्टीकरण

(उद्दे०-१, सूत्र-१) 'करेइ, करेंत वा साइज्जइ' सूत्र में कराने की क्रिया नहीं दी गई है। 'कराना' भी एक प्रकार का अनुमोदन ही है, क्यों कि कराने में अनुमोदन निश्चित्त है जिससे कराने की क्रिया का भी ग्रहण हो जाता है। चूर्णिकार ने भी- 'साइज्जणा- कारावणे, अनुमोदने' इस प्रकार व्याख्या की है तथा आदि और अ त के कथन से मध्य का ग्रहण भी हो सकता है। अतः जहाँ पर भी 'करेइ, करेंत वा साइज्जइ' पाठ है, वहाँ यह अर्थ समझ लेना चाहिए कि- 'करता है या करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।'

साइज्जइ- किसी भी निषिद्ध कार्य के होने में अभिरूचि रखना 'साइज्जणा' है। **वह दो प्रकार की है-** (१) निषिद्ध कृत्य दूसरे से करवाना। (२) निषिद्ध कृत्य करते हुये का अनुमोदन करना। **दूसरे से करवाना भी** दो प्रकार का है- (१) जिसकी इच्छा निषिद्ध कार्य करने की है, उससे करवाना, (२) जिसकी इच्छा निषिद्ध कार्य करने की नहीं है, उससे बलपूर्वक करवाना। **अनुमोदन भी** दो प्रकार का है- (१) निषिद्ध कार्य करने वाले की सराहना करना, (२) अकृत्य करने वाले को गणप्रमुख आदि के द्वारा मना न करना।

शंका- गुरूतर दोष किसमें है, किसी अन्य से निषिद्ध कृत्य करवाने में या निषिद्ध कृत्य का अनुमोदन करने में ?

समाधान- अनुमोदन में लघुतर दोष है और करवानें में गुरूतर दोष है। - ***नि० चू० भाग-२, पृष्ट-२५, गाथा-५८८।***

प्रकरण-१८ : कृत्स्त्र सचित्त धान्य खाने का प्रायश्चित्त

(उद्दे०-४, सूत्र-३१) द्रव्यकृत्स्न और भावकृत्स्न इन दो भेदों के चार भ ग होते हैं। द्रव्यकृत्स्न का अर्थ है अखण्ड़ और भावकृत्स्न का अर्थ है सचित्त। यहाँ प्रायश्चित्त का विषय है इसलिए 'भावकृत्स्न'

(सचित्त) अर्थ ही ग्रहण करना चाहिए। यहाँ **'ओसहिओ'** से धान्य और उपलक्षण से अन्य प्रत्येक जीव वाले बीजों को ग्रहण करना चाहिए। अतः सूत्र का अर्थ है कि सचित्त धान्य एव बीज का आहार करने से लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

द्रव्य और भाव की चौभ गी में सचित्त सम्बन्धी प्रथम और द्वितीय दो भ ग है उनका ही यह प्रायश्चित्त है, अचित्त सम्बन्धी दो भ गो में सूत्रोक्त प्रायश्चित्त नहीं है।

अचित्त अख ड़ धान्यादि खाने का विधान– व्याख्याकार ने 'अचित्त अखण्ड़' में भी प्रायश्चित्त कहा है किन्तु सूत्रकार का आशय यह नहीं है। इसके लिए निम्न आगम स्थल देखने चाहिए।

(१) **अदु जावइत्थ लूहेण , ओयण म थुकुम्मासेण । -आचारा ग -९।**

(२) **अवि सूइय व सुक्क वा, सीयपि ड़ पुराणकुम्मास ।**
अदु बुक्कस व पुलाग वा, लद्धे पि ड़े अलद्धे दविए ॥-आचारा ग -९।

(३) **आयामग चेव जवोदण च, सीय सोवीर-जवोदग च।-उत्तरा.-१५।**

(४) **प ताणि चेव सेवेज्जा, सीयपि ड़ पुराणकुम्मास ।**
अदु बुक्कस पुलाग वा, जवणट्ठाए णिसेवए म थु ॥-उत्त. अ.-८

(५) **दशवै. अ.-५, उ.-१, गा.-९८ में 'म थुकुम्मासभोयण ।**

उपरोक्त स्थलों से स्पष्ट सिद्ध है कि भगवान महावीर स्वामी ने अचित्त अखण्ड़ धान्य चावल, उड़द आदि का आहार किया था तथा उत्तराध्ययन सूत्र में जौ के ओदन का व उड़द के बाकले आदि के लेने एव खाने का कथन है। वर्तमान में भी चावल, बाजरा, जौ आदि का ओदन व अखण्ड़ मू ग चना आदि का व्य जन साग बनता है एव लिया जाता है।

अतः अचित्त अखण्ड़ धान्यादि खाने का प्रायश्चित्त न समझ कर सचित्त धान्य या बीज के आहार का यह मासिक प्रायश्चित्त है ऐसा समझना ही आगम सम्मत है। सचित्त धान्य जानकर खाने का प्रायश्चित्त और अनजाने में खाने का प्रायश्चित्त भिन्न-भिन्न होता है। उसे प्रार भ में दी गई प्रायश्चित्त-तालिका से समझ लेना चाहिए।

इसके अतिरिक्त कच्ची वनस्पति, नमक, पानी आदि अस ख्य जीवी प्रत्येक काय के खाने का या उसके सचित्त से स युक्त अचित्त

पदार्थ खाने का लघु चौमासी प्रायश्चित्त **निशीथ के बारहवें** उद्देशक में है और फूलण आदि अन तकाय स युक्त आहार खाने का गुरु चौमासी प्रायश्चित्त **निशीथ के दसवें** उद्देशक में है।

ये सभी(तीनों) प्रायश्चित्त सचित्त खाने की अपेक्षा या सचित्त मिश्रित खाने की अपेक्षा है। भिक्षु को ये सचित्त खाने का प्रस ग भूल से हो जाने की स भावना रहती है। जानकर सचित्त खाना तो भिक्षु के लिए अस भव सा ही है।

प्रकरण-१९ : अचित्त नमक, आहार-अणाहार-परिज्ञान

(उद्दे.-११, सूत्र-६०)अचित्त नमक– बिल वा लोण =पकाया हुआ नमक। उब्भिय वा लोण =अन्य शस्त्रपरिणत नमक। ये दोनों प्रकार के नमक अचित्त हैं। आगम में सचित्त नमक के साथ इन दो प्रकार के नमक का नाम नहीं आता है। दशवै. अ. ३, गा.-८ में ६ प्रकार के सचित्त नमक ग्रहण करने व खाने को अनाचार कहा है, यथा-

सोवच्चले सि धवे लोणे, रोमालोणे य आमए।
सामुद्दे प सुखारे य, कालालोणे य आमए ॥

आचारा ग सूत्र, अ.-१, उ.-१० में इन उक्त दो प्रकार के नमक को खाने का विधान है। **दशवै. अ.-६, गा.-१८** में इन दो के स ग्रह का निषेध है और प्रस्तुत सूत्र में रात्रि में रखे हुए को खाने का प्रायश्चित्त है। इन स्थलों के वर्णन से यही स्पष्ट होता है कि उपरोक्त छः प्रकार के सचित्त नमक में से कोई नमक अग्नि-पक्क हो तो उसे 'बिड़लवण' कहते हैं। और अन्य शस्त्रपरिणत हो तो उसे 'उद्भिन्न नमक' कहते हैं।

भाष्यकार यहाँ **आहार एव अनाहार** योग्य पदार्थो का वर्णन करते हुए बताते हैं कि ये सूत्रोक्त पदार्थ भूख-प्यास को शा त करने वाले न होते हुए भी आहार में मिलाये जाते है और आहार को स स्कारित करते हैं, अतः ये भी आहार के उपकारक होने से आहार ही है।

औषधियाँ आहार व अनाहार रूप से दो प्रकार की कही है-
(१) जिन्हें खाने पर कुछ भी अनुकूल स्वाद आए वे आहार रूप है।
(२) जो खाने में अनिच्छनीय एव अरूचिकर हो वे अनाहार है, यथा- त्रिफला आदि औषधियाँ, मूत्र, निम्बादि की छाल, निम्बोली

तथा और भी ऐसे अनेक पत्र, पुष्प, फल बीज आदि समझ लेना चाहिए अथवा भूख में जो कुछ भी खाया जा सकता है वह सब आहार है।

यह व्याख्या एक विशेष अपेक्षा से ही समझनी चाहिए क्यों कि व्यव॰ उद्दे॰-९ के अनुसार रात्रि में स्वमूत्र पीना भी निषिद्ध है, जिसे भाष्य में अनाहार कहा गया है। अतः इन त्रिफला आदि पदार्थो को भी रात्रि में खाना या उपवास आदि में अनाहार समझ कर खाना आगम सम्मत नहीं समझना चाहिए अर्थात् आहार या अनाहार कोई भी पदार्थ रात्रि में खाना-पीना साधु को नहीं कल्पता है। गोबर आदि लेप्य पदार्थ भी रात में लगाने का प्रायश्चित्त निशीथ के बारहवें उद्देशक में कहा है।

विवेचन के अन्त में भाष्यकार ने भी आहार व अनाहार रूप पदार्थो को सामान्यतया रात्रि में रखने और खाने का निषेध ही किया है। आहार के रखने पर गुरुचौमासी और अनाहार के रखने पर लघु चौमासी प्रायश्चित्त कहा है।

प्रकरण-२० : गृहस्थ के बर्तन में खाना और वस्त्र धोना

(उद्दे॰-१३, सूत्र-१०) भिक्षु गृहस्थ के द्वारा अपने पात्र में आहारादि ग्रहण कर उसे खा सकता है किन्तु गृहस्थ के थाली-कटोरी आदि में नहीं खा सकता है तथा उनके गिलास लोटे आदि से पानी नहीं पी सकता है। यह मुनि जीवन का आचार है।

दशवै॰ अ॰-६, गा॰-५१ से ५३ में इसका निषिध किया गया है, यह वर्णन इस प्रकार है- का स्य मिट्टी आदि किसी भी प्रकार के गृहस्थ के बर्तन में अशन-पान आदि आहार करता हुआ भिक्षु अपने आचार से भ्रष्ट हो जाता है ॥५१॥ भिक्षु के खाने या पीने के बाद गृहस्थ के द्वारा उन बर्तनों को धोये जाने पर अप्काय की विराधना होती है और उस पानी के फेंकने पर अनेक त्रस प्राणियों की भी हिंसा होती है, अतः इसमें जिनेश्वर देव ने अस यम कहा है ॥५२॥ पूर्व कर्म-पश्चात् कर्म आदि दोष लगते हैं अतः भिक्षु को गृहस्थ के बर्तनों में खाना-पीना नहीं कल्पता है। इन्हीं कारणों से निर्ग्रन्थ मुनि गृहस्थ के बर्तन में आहारादि नहीं करते ॥५३॥

दशवै॰ अ॰-३, गा॰-३ में गृहस्थ के बर्तन में खाने की प्रवृत्ति को अनाचार कहा है। ***सूय॰ श्रु॰-१, अ॰-२, उ॰-२, गा॰-२० में*** गृहस्थ के

बर्तनों में नहीं खाने वाले भिक्षु को सामायिक चारित्रवान कहा है। ***सूय॰ श्रु॰-१, अ॰-९, गा॰-२० में*** कहा गया है कि- भिक्षु गृहस्थ के बर्तनों में आहार-पानी कदापि नहीं करें।

गृहस्थ के पात्र में खाने से होने वाले दोष- १. गृहस्थ के घर में खाना। २. गृहस्थ के द्वारा स्थान पर लाया हुआ खाना। ३. गृहस्थ द्वारा बर्तनों को पहले या पीछे धोना। ४. नया बर्तन खरीदना। ५. आहार-पानी की अलग-अलग व्यवस्था करना। इत्यादि अनेक दोषों की परम्परा बढ़ती है। अतः भिक्षु को आगमानुसार लकड़ी, मिट्टी या तुम्बे के अपने पात्र में ही आहार करना चाहिए। गृहस्थ के थाली, कटोरी, गिलास, लोटे आदि का उपयोग नहीं करना चाहिए।

उपर्युक्त आगम पाठों में गृहस्थ के पात्र में आहार-पानी के उपयोग करने का निषेध है और उन सूत्रों की व्याख्याओं में आहार-पानी सम्बन्धी दोषों का ही कथन है। अतः वस्त्रप्रक्षालन के लिए औपग्रहिक उपकरण के रूप में गृहस्थ के पात्र का यदि उपयोग किया जाए तो सूत्रोक्त प्रायश्चित्त नहीं आता हैं क्यों कि उनका उपयोग करने पर पश्चात्कर्मादि कोई दोष भी नहीं लगते हैं। सामान्यतया तो भिक्षु को अपने उपकरणों से ही सभी आवश्यक कार्यो का निर्वाह करना चाहिए यही श्रेष्ठ है।

प्रकरण-२१ : सरीखे ५४ सूत्रों का स कलनात्मक परिचय

(उद्दे॰-३, सूत्र-६९) निशीथ सूत्रों का समूह रूप एक आलापक है जिसका अन्यान्य अपेक्षा से उद्देशक-३,४,६,७,११,१५,१७ में भी कथन है। सर्वत्र इसी उद्देशक के मूल पाठ व अर्थ एव विवेचन की सूचना की गई है। अतः इनको स क्षिप्त तालिका से समझ लेना चाहिए।

क्रमा क	उद्देशक-३ सूत्रा क	विषय	सूत्र स ख्या
१-६	१६-२१	पैर परिकर्म के सूत्र	६
७-१२	२२-२७	काय(शरीर) परिकर्म के सूत्र	६
१३-१८	२८-३३	व्रण(घाव) चिकित्सा के सूत्र	६
१९-२४	३४-३९	ग ड़ादि(घूमड़े आदि) की शल्य चिकित्सा के सूत्र	६

क्रमा क	उद्देशक-३ सूत्र स ख्या	विषय	सूत्रा क
२५	४०	कृमिनीहरण का सूत्र	१
२६	४१	नख परिकर्म का सूत्र	१
२७-३२	४२-४७	रोम परिकर्म के सूत्र (ज घ, वत्थि, रोमराइ, कक्ख, उत्तरोट्ठ और मसु)	६
३३-३५	४८-५०	द त परिकर्म के सूत्र	३
३६-४१	५१-५६	ओष्ठ परिकर्म के सूत्र	६
४२-४८	५७-६३	चक्षु परिकर्म के सूत्र	७
४९-५१	६४-६६	रोम केश परिकर्म के सूत्र(नासा, भमुग, केसाइ)	३
५२	६७	प्रस्वेद-पसीना निवारण का सूत्र	१
५३	६८	चक्षु, कर्ण, द त, नख, मल-नीहरण सूत्र	१
५४	६९	मस्तक ढ़कने का सूत्र	१
		कुल	**५४**

इस **तीसरे** उद्देशक में अकारण स्वय करने का प्रायश्चित्त बताया है। **चौथे** उद्देशक में अकारण साधु-साधु परस्पर में करने का प्रायश्चित्त बताया है। **छट्ठे-सातवें** उद्देशक में मैथुन भाव से क्रमशः स्वय करने व साधु-साधु परस्पर करने का प्रायश्चित्त है। **ग्यारहवें** उद्देशक में साधु के द्वारा गृहस्थ के ये कार्य करने का प्रायश्चित्त है। **पन्द्रहवें** उद्देशक में गृहस्थ से ये कार्य कराने का प्रायश्चित्त है एव विभूषा वृत्ति से करने का प्रायश्चित्त भी कहा है । इस उद्देशक में ५४ सूत्र के दो आलापक है। **सत्रहवें** उद्देशक में साधु गृहस्थ के द्वारा साध्वी के कराने का तथा साध्वी गृहस्थ के द्वारा साधु के कराने का प्रायश्चित्त कथन हुआ है। इस उद्देशक में भी दो आलापक है।

इस प्रकार इन ५४ सूत्रों का निशीथ सूत्र में कुल नव बार पुनरावर्तन अन्यान्य अपेक्षाओं से हुआ है।

जिस प्रकार इस उद्देशक में इन ५४ सूत्रों का प्रायश्चित्त विधान अकारण से ये प्रवृत्तियाँ करने का है उसी प्रकार अन्य उद्देशों में भी

जहाँ कहीं भी शरीर और उपकरण के परिकर्म सम्बन्धी सामान्य (विभूषा, मैथुन, गृहस्थ सेवा आदि के निर्देष बिना) सूत्र है वहाँ भी अकारण करने का ही प्रायश्चित्त समझना चाहिए। यथा- प्रथम उद्देशक में पात्र वस्त्र स बन्धी सुधार कार्य का प्रायश्चित्त आदि।

प्रकरण-२२ : द तम जन सम्बन्धी उत्सर्ग-अपवाद विवेक

(उद्दे०-३, सूत्र : ४८-५०) दशवै० अ०-३, गा०-३ में द तप्रक्षालन को अनाचार कहा है तथा उववाई आदि अन्य आगमों में अनेक स्थानों पर श्रमणचर्या में 'अद त धावण' भी एक आवश्यक महत्वशील चर्या कही गई है। वर्तमान युग में साधु-साध्वियों की आहार पानी की सामग्री प्राचीन काल जैसी न रहने के कारण द तप्रक्षालन(द तम जन) आदि न करने पर दा तो में दन्तक्षय या 'पायरिया' आदि रोग होने की सम्भावना रहती है। अतः जिन साधु-साध्वियों को उक्त जिनाज्ञा का पालन करना हो तो उन्हे नीचे लिखी सावधानिया रखनी चाहिए-

(१) पौष्टिक पदार्थो का सेवन नहीं करना, यदि सेवन किया जाए तो उपवास आदि तप अवश्य करना, **(२)** सदा ऊणोदरी तप अवश्य करना, अर्थात् भूख से कम ही खाना। **(३)** अत्यन्त गर्म या अत्यन्त ठण्ड़े पदार्थो का सेवन नहीं करना, **(४)** भोजन करने के बाद या कुछ खाने-पीने के बाद दा तो को साफ करते हुए कुछ पानी पी लेना चाहिए। शाम का चौविहार का त्याग करते समय भी इसी प्रकार दा तो को अच्छी तरह साफ करते हुए पानी पी लेना चाहिए। **(५)** दिन भर या बार-बार नहीं खाना।

उक्त सावधानिया रखने पर 'अद त धावण' नियम का पालन करते हुए भी दा त स्वस्थ रह सकते हैं, एव इन्द्रिय-निग्रह, ब्रह्मचर्य पालन आदि में भी समाधि भाव रह सकता है।

आगमोक्त अद तधावन, अस्नान, ब्रह्मचर्य, ऊणोदरी तप तथा अन्य बाह्य आभ्यन्तर तप एव अन्य सभी नियम परस्पर सम्बन्धित है, अतः आगमोक्त सभी नियमों का पूर्ण पालन करने पर ही स्वास्थ्य एव स यम की समाधि कायम रह सकती है। तात्पर्य यह है कि अद तधावन नियम के पालन में खान-पान का विवेक आवश्यक है और खान-पान के विवेक से ही इन्द्रियनिग्रह में सफलता प्राप्त हो

सकती है। इन्द्रियनिग्रह की सफलता में ही स यमाराधन की सफलता रही हुई है। इन्हीं कारणों से आगमों में अद तधावन को इतना अधिक महत्व दिया गया है। सामान्यतः म जन करना और द तधावन सम्बन्धी क्रियाएँ करना, ये सब स यम जीवन के अयोग्य प्रवृत्तियाँ हैं किन्तु यदि असावधानी से या अन्य किसी कारण से दा तों के रूग्ण हो जाने पर चिकित्सा के लिए म जन करना एव द तप्रक्षालन सम्बन्धी क्रियाएँ करना पड़े तो वह अनाचार नहीं है एव उसका प्रस्तुत सूत्र से प्रायश्चित्त भी नहीं आता है।

दा तों की रूग्णता ज्ञात होने के बाद भी साधक को उपर्युक्त सावधानियाँ रख कर शीघ्र ही चिकित्सा के निमित्त किये जाने वाले द त प्रक्षालन से मुक्त हो जाना चाहिये, अर्थात् सदा के लिये द त प्रक्षालन प्रवृत्ति को स्वीकार न करके खान-पान का विवेक करके अद तधावनचर्या को पुनः स्वीकार कर लेना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्रों में अकारण(भ्रम से, रोग के भय से या गलत स स्कार से, आदत से) म जन करने का एव प्रक्षालन करने का या अन्य कोई पदार्थ लगाने का प्रायश्चित्त कहा गया है, ऐसा समझना चाहिए।

विभूषा के स कल्प से म जन आदि करने का प्रायश्चित्त यहाँ इन लघुमासिक प्रायश्चित्त के सूत्रों में नहीं समझें। विभूषा के स कल्प का तो प द्रहवें उद्देशक में लघु चौमासी प्रायश्चित्त अलग ही कहा गया है। इस द त प्रक्षालन विषय में ***पुष्प-३, पृ.-४१*** पर स्वत त्र निबन्ध है उसका भी अध्ययन कर लेना चाहिए।

प्रकरण-२३ : मैल परीषह जीतने के उत्सर्ग-अपवाद विवेक

(उद्दे.-३, सूत्र : ६७, ६८) अपवाद कल्प– अल्पाधिक चक्षु रोग हो जाने के कारण आँख का मैल निकालना **'सकारण'** है और वह प्रायश्चित्त योग्य नहीं है। दा तो में से अन्न आदि का कण निकालना तथा अल्पाधिक द त-रोग हो जाने पर दा तों का मैल निकालना भी **'सकारण'** समझना चाहिए।

नखों में प्रविष्ट अशुचिमय पदार्थो का निकालना तथा प्रविष्ट अन्नकणों का निकालना प्रायश्चित्त योग्य नहीं है, तथा बाल ग्लान वृद्ध आदि की वैयावृत्य सम्बन्धी कार्यो के लिए अथवा सामूहिक सेवा कार्यो के लिए नखों का मैल निकालना 'सकारण' है।

उत्सर्गकल्प– जो आत्मलब्धि आहार करने वाले या एकाकी आहार करने वाले, गच्छवासी धर्मरूचि अनगार या अर्जुनमाली के समान साधक हो तथा गच्छनिर्गत साधक हो या गच्छगत होते हुए भी सेवा सम्बन्धी कार्यो से पूर्ण निवृत्त साधक हो या समान रूचि वाले ही सहयोगी साथी साधक हो तो उन्हें अशुचि व आहार कणों के निकालने के सिवाय नख का मैल निकालने की आवश्यकता नहीं रहती है।

विवेक– खाज-खुजलाने आदि की प्रवृत्ति कम करने से या स्वावल बी व सेवानिष्ठ जीवन होने से नखों में मैल के रहने की स भावना भी कम रहती है।

सूत्र-६७ और ६८ के इस प्रायश्चित्त विधान में जल्ल परीषह को जीतने के लिए बल दिया गया है। फिर भी जो भिक्षु सामर्थ्य की कमी से या क्षेत्र काल की दृष्टि से जल्ल परीषह जीतने में सफल न हो सके तो भी उसे इन परीषहजय के विधानों से विपरीत प्ररूपणा तो नहीं करनी चाहिए एव अपनी कमजोरी को कमजोरी स्वीकार करने की सरलता धारण करनी चाहिए।

प्रकरण-२४ : विभूषावृत्ति स बन्धी ज्ञान-विज्ञान

(उद्दे.-१५, सूत्र-१५३, १५४) भिक्षु वस्त्र, पात्र आदि उपकरण स यम निर्वाह के लिए रखता है और उपयोग में लेता है।

ज पि वत्थ व पाय वा, क बल पायपु छण ।
त पि स जम-लज्जट्ठा, धार ति परिहर ति य ॥दशवै.अ.६॥

प्रश्न व्याकरण सूत्र, श्रु.-२, अ.-१ तथा ५ में भी कहा है- एय पि स जमस्स उववूहणट्ठयाए वायातव-द समसग-सीय-परिरक्खणट्ठयाए उवगरण रागदोसरहिय परिहरियव्व स जएण ।

भावार्थ :– स यम निर्वाह के लिए, लज्जा निवारण के लिये, गर्मी, सर्दी, हवा, ड़ाँस, मच्छर आदि से शरीर के स रक्षण के लिए भिक्षु वस्त्रादि धारण करे या उपयोग में ले। इस प्रकार उपकरणों को रखने का प्रयोजन आगमों में स्पष्ट है। किन्तु भिक्षु यदि विभूषा के लिए शरीर आदि की शोभा के लिए अर्थात् अपने को सुन्दर दिखाने के लिए अथवा निष्प्रयोजन किसी उपकरण को धारण करता है तो उसे १५३ वें सूत्र के अनुसार प्रायश्चित्त आता है। १५४ वें सूत्र में विभूषावृत्ति से

अर्थात् सुन्दर दिखने के लिए यदि भिक्षु वस्त्रादि उपकरणों को धोवे या सुसज्जित करे तो उसका प्रायश्चित्त कहा है।

इन दोनों सूत्रों से यह भी स्पष्ट है कि भिक्षु बिना विभूषा वृत्ति के किसी प्रयोजन से वस्त्रादि उपकरण रखे या उन्हें धोवे तो सूत्रोक्त प्रायश्चित्त नहीं आता है अर्थात् भिक्षु स यम के आवश्यक उपकरण रख सकता है और उन्हें आवश्यकतानुसार यथाविधि धो भी सकता है, किन्तु धोने में विभूषा के भाव नहीं होने चाहिए एव अनावश्यक धोना भी नहीं चाहिए। यदि पूर्ण रूप से भिक्षु को वस्त्र आदि धोना अकल्पनीय ही होता तो उसका प्रायश्चित्त कथन अलग प्रकार से होता किन्तु सूत्र में विभूषा वृत्ति से ही धोने का प्रायश्चित्त कहा है। अन्य प्रायश्चित्त नहीं कहा है।

शरीर परिकर्म सम्बन्धी ५४ सूत्र तो अनेक उद्देशों में आए हैं किन्तु यहाँ विभूषा वृत्ति के प्रकरण में ५६ सूत्र कहे गये हैं। अतः इसी सूत्र पाठ से भिक्षु का वस्त्र प्रक्षालन विहित है। विशिष्ट अभिग्रह प्रतिमा धारण करने वालों की अपेक्षा से ही आचा० श्रु०-१, अ०-८, उद्दे०-४, ५, ६ में वस्त्र प्रक्षालन का एका त निषेध है ऐसा वहाँ के वर्णन से भी स्पष्ट हो जाता है।

इस उद्देशक में विभूषा के स कल्प से शरीर-परिकर्मो का और उपकरण रखने तथा धोने का प्रायश्चित्त कहा गया है। अन्य आगमों में भी भिक्षु के लिये विभूषावृत्ति का विभिन्न प्रकार से निषेध किया गया है। **(१)** दश० अ०-३, गा०-६ में विभूषा करने को अनाचार कहा है। **(२)** दश० अ०-६, गा०-६५ से ६७ तक में कहा है कि- 'नग्नभाव एव मु ड़भाव स्वीकार करने वाले, बालों एव नखों का स स्कार न करने वाले तथा मैथुन से विरत भिक्षु को विभूषा से प्रयोजन ही क्या है ?' अर्थात् ऐसे भिक्षु को विभूषा करने का कोई प्रयोजन ही नहीं है फिर भी जो भिक्षु विभूषावृत्ति करता है वह चिकने कर्मो का बन्ध करता हैं, जिससे वह घोर एव दुस्तर स सार-सागर में गिरता है।'

'केवल विभूषा के विचारों को भी ज्ञानी, विभूषा प्रवृत्ति करने के समान ही कर्मबन्ध एव स सार का कारण मानते है। इस विभूषावृत्ति से अनेक सावद्य प्रवृत्तियाँ उद्भूत होती है। अतः यह प्रवृत्ति षट्काय-रक्षक मुनि के आचारण योग्य नहीं है।'

(३) दश० अ०-८, गा०-५७ में स यम के लिए विभूषावृत्ति को तालपुट विष की उपमा दी गई। **(४)** उत्तरा० अ०-१६ में कहा है कि- 'जो भिक्षु विभूषा के लिए प्रवृत्ति करता है वह निर्ग्रन्थ नहीं है, अतः भिक्षु को विभूषा नहीं करनी चाहिए।' भिक्षु विभूषा और शरीर-परिम ड़न (सजाने) का त्याग करे तथा ब्रह्मचर्यरत भिक्षु श्रृ गार के लिए वस्त्रादि को भी धारण न करे। ***-उत्तरा० १६ ।***

इन आगम स्थलों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मचर्य के लिए विभूषावृत्ति सर्वथा अहितकर है, कर्मबन्ध का कारण है तथा प्रायश्चित्त के योग्य है। अतः भिक्षु विभूषा के स कल्पों का त्याग करें अर्थात् शारीरिक श्रृ गार करने का एव उपकरणों को सुन्दर दिखाने का प्रयत्न न करें। उपकरणों को स यम और शरीर की सुरक्षा के लिए ही धारण करें एव आवश्यक होने पर ही उनका प्रक्षालन करें। विभूषा के स कल्पों से रहित होकर वस्त्र का प्रक्षालन करना हो तो सामान्यतः केवल अचित्त जल से ही प्रक्षालन करना चाहिए। विशेष कारण से किसी पदार्थ का उपयोग करना हो तो जीव विराधना न हो इसका पूर्ण विवेक रखना चाहिए एव विभूषावृत्ति का मानस भी न बनने पावे इसकी भी सतत सावधानी जागरुकता रखनी चाहिए।

प्रकरण-२५ : मस्तक ढ़ कने का प्रायश्चित्त विधान

(उद्दे०-३, सूत्र-६९) इस सूत्र के भाष्य आदि व्याख्याओं में बताया गया है कि साधु को गोचरी विहार आदि कार्यो के लिए कहीं मकान के बाहर जाना हो तो मस्तक नहीं ढ़ कना चाहिए। ऐसा करने से लि ग (वेशभूषा) की विपरीतता होती है। क्यों कि 'मस्तक ढ़ क कर बाहर जाना', यह स्त्री की वेश भूषा है। बाहर जाने के समय ही लि ग का पूर्ण विवेक रखा जाता है। जैनेत्तर सन्यासी आदि भी बाहर जाने के समय लि ग के अनेक आवश्यक उपकरण साथ लेकर जाते हैं। जैन भिक्षु भी बाहर जाते समय रजोहरण, पात्र, झोली आदि लेकर एव चद्दर चोलपट्टक मुख वस्त्रिका आदि व्यवस्थित करके बाहर जाते हैं।

साधु का मस्तक पर वस्त्र ढ़ क कर बाहर जाना लि ग विपरीत है और साध्वी का मस्तक बिना ढ़ के बाहर जाना लि ग विपरीत है। यथास भव उपाश्रय के अ दर भी साधु को मस्तक ढ़ क कर नहीं रहना चाहिए और साध्वी को मस्तक उघाड़ कर नहीं रहना चाहिए।

अपवाद रूप से कई परिस्थितियों में साधु का मस्तक ढ़ क कर बाहर जाने की भाष्य में छूट बताई हैं किन्तु आवश्यक रूप से कम्बल मस्तक पर ओढ़ कर गोचरी आदि जाने का या रात्रि में मस्तक ढ़ क कर बाहर जाने का कथन वहाँ पर नहीं किया है। परम्परा से ऐसी प्रवृत्तियाँ चल रही है किन्तु इन परम्पराओं के लिए आगम में कोई विधान नहीं है एव प्रस्तुत सूत्र में तो मस्तक ढ़ क कर बाहर जाने का प्रायश्चित्त कहा ही है एव व्याख्याकारों ने उसी को स्पष्ट किया है।

कदाचित् आवश्यक होने पर साधु उपाश्रय में मस्तक ढ़ क कर और साध्वी उपाश्रय में बिना मस्तक ढ़ के रह जाय तो उसका इस सूत्र से प्रायश्चित्त नहीं आता है फिर भी अपने-अपने लि ग की वेशभूषा का विवेक तो रखना ही चाहिए।

प्रकरण-२६ : साधु-साध्वियों के उपकरणों का ज्ञान विज्ञान

(उद्दे०-१६, सूत्र-६९) भिक्षु के सम्पूर्ण उपधि सूचक सूत्र बृहत्कल्प सूत्र उ० ३ में तथा प्रश्नाव्याकरण सूत्र श्रु०-२, अ०-५ में है।

बृहत्कल्प :- 'भिक्षु को दीक्षित होते समय रजोहरण, गोच्छग, पात्र और तीन अखण्ड़ वस्त्र ग्रहण करके प्रव्रजित होना कल्पता है।'

यहाँ रजोहरण, गोच्छग(पूँजणी) और पात्र की स ख्या का कथन नहीं किया गया है। शेष उपकरण चद्दर, चोलपट्टक मुखवस्त्रिका, आसन, झोली, पात्र के वस्त्र, रजोहरण का वस्त्र इनके लिए कुल तीन अखण्ड़ वस्त्र लेने का कथन है किन्तु इनकी अलग-अलग स ख्या या माप यहाँ नहीं बताया गया है।

बृहकल्पसूत्र के उद्देशक तीन में ही अखण्ड़ वस्त्र(पूर्ण थान) रखने का निषेध किया गया है। अतः यहाँ पर कहे गए तीन थान केवल सम्पूर्ण उपधि के माप के सूचक है, ऐसा समझना चाहिए जिसका परम्परा से ७२ हाथ प्रमाण वस्त्र का माप भी माना जाता है। किन्तु मूल आगमों में एव भाष्यादि में इस माप का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है।

प्रश्नव्याकरण सूत्र- 'पात्रधारी सुविहित श्रमणों के ये उपकरण होते हैं पात्र, पात्रबन्धनक, पात्र केसरिका, पात्र रखने का वस्त्र, तीन पटल, रजस्त्राण, गोच्छग, तीन चद्दर, रजोहरण, चोलपट्टक, मुखवस्त्रिका

आदि इनको भी वह स यम और शारीरिक सुरक्षा के लिए धारण करता है।'

यहाँ रजोहरण और गोच्छग का कथन करने के साथ पात्र के स्थान पर पात्र सम्बन्धी ६ उपकरण एव तीन अखण्ड़ वस्त्र की जगह चद्दर, चोलपट्टक, मुखवस्त्रिका आदि कहे हैं, इनमें पटल एव चादर की स ख्या तीन-तीन कही है, किन्तु पात्र, चोलपट्टक, मुखवस्त्रिका एव सम्पूर्ण उपकरणों की स ख्या का निर्देश नहीं है तथा पाठ के अन्त में 'आदि' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिससे अन्य उपधि का भी ग्रहण हो सकता है, यथा- आसन आदि।

इन दो स्थलों के अतिरिक्त आचारा ग सूत्र में वस्त्र-पात्र सम्बन्धी स्वत त्र अध्ययन भी है तथा छेदसूत्रों में भी वस्त्र पात्र रजोहरण आदि के विधि-निषेध का अनेक सूत्रों में वर्णन है।

प्रस्तुत प्रायश्चित्त सूत्र में गिनती से और प्रमाण(माप) से अधिक उपधि रखने का प्रायश्चित्त कहा है किन्तु उपर्युक्त आगमों में सभी उपधि के माप तथा स ख्या का स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं मिलता है, केवल चद्दर और पात्र के पटल एव अखण्ड़ वस्त्र की स ख्या का उल्लेख है। भाष्य निर्युक्ति में उपधि का विस्तृत वर्णन होते हुए भी अनेक आवश्यक उपकरणों के माप एव स ख्या का उल्लेख अस्पष्ट है, यथा एक पात्र रखना या तरुण साधु को दो हाथ का चोलपट्टक रखना। एक मात्रक रखना किन्तु उसको उपयोग में नहीं लेना, इत्यादि। इन्हीं कारणों से उपधि-परिमाण की परम्पराएँ साधु समाज में भिन्न-भिन्न हो गई हैं।

चादर सम्बन्धी ज्ञान-विज्ञान- तीन चद्दर रखने का उल्लेख आगमों में स्पष्ट है तथा इस सूत्र की चूर्णि में करपात्र वाले या पात्रधारी जिन-कल्पी भिक्षु को एक, दो या तीन चद्दर रखना बताया है। आचारा ग ***श्रु०-१, अ०-८, उ०-४, ५, ६*** में वस्त्र सम्बन्धी अभिग्रहधारी भिक्षु का वर्णन है। वहाँ भी तीन वस्त्र(चद्दर) धारी, दो वस्त्रधारी, एक वस्त्रधारी और चोलपट्टकधारी भिक्षु का वर्णन है- वस्त्र की उणोदरी के वर्णन में एक वस्त्र(चद्दर) रखना मूल पाठ में कहा है। व्याख्या में दो चद्दर रखना भी वस्त्र की उणोदरी होना कहा है। अतः चद्दर की स ख्या आगमों में तथा उनकी व्याख्याओं में स्पष्ट है।

आचा॰ श्रु॰-२, अ॰-५, उ॰-१ में किस-किस जाति के वस्त्र ग्रहण करना, इस वर्णन में ६ जाति का उल्लेख करने के पश्चात् कहा गया है कि- 'जो भिक्षु तरुण एव स्वस्थ हो, वह एक वस्त्र अर्थात् एक ही जाति का वस्त्र धारण करे दूसरा नहीं।' इस कथन को चद्दर की स ख्या के लिए मानकर अर्थ करना उचित नहीं है, क्यों कि यहाँ वस्त्र की जाति का ही विधान किया गया है तथा आगमों में जिन-कल्पी व अभिग्रहधारी भिक्षु के लिए भी तीन चद्दर रखने का स्पष्ट उल्लेख है। वस्त्र की उणोदरी करने के वर्णन से भी अनेक चद्दर रखना सिद्ध है। अतः समर्थ साधु को एक जाति के वस्त्र ही धारणा करना ऐसा अर्थ आचारा ग सूत्र के पाठ का करना ही आगम सम्मत है तथा तीन चद्दर से कम अर्थात् दो या एक चद्दर रखकर उणोदरी तप करना ऐच्छिक समझना चाहिए। इस सूत्र से साधु को एक चादर रखने का एका त प्ररूपण करना आगम विपरीत प्ररूपण है।

भाष्य गाथा ५८०७ में कहा है कि जिनकल्पी अभिग्रहधारी आदि भिक्षु तीन, दो या एक चद्दर रख सकते हैं किन्तु स्थविरकल्पी को तीन चद्दर नियमत रखनी चाहिए। उणोदरी करना हो तो उसका उपयोग नहीं करना चाहिए। परिस्थिति में स्वय के या अन्य वृद्ध ग्लान की सेवा के लिए उसका उपयोग करना चाहिए।

भाष्य गाथा ५७९४ में चद्दर का मध्यम माप साड़े तीन×ढ़ाई हाथ तथा उत्कृष्ट ४ हाथ × ढ़ाई हाथ कहा है अर्थात् तरुण सन्त के लिए साढ़े तीन हाथ और वृद्ध सन्त के लिए साढ़े चार हाथ लम्बी चद्दर रखना कहा है।

आचारा ग सूत्र के वस्त्रैषणा अध्ययन में साध्वी के चद्दरों की चौड़ाई चार हाथ, तीन हाथ तथा दो हाथ की कही है, वहाँ लम्बाई का कथन नहीं है। फिर भी चौड़ाई से लम्बाई तो अधिक ही होती है, इसलिए वर्तमान में पाँच हाथ की लम्बी चद्दर करने की परम्परा है जो उपयुक्त ही है। उत्तरा॰ अ॰-२६ में प्रतिलेखना प्रकरण में जो 'छ पुरिमा नवखोड़ा' कथन है, उससे भी चद्दर की उत्कृष्ट लम्बाई पाँच हाथ की होना उपयुक्त है।

साध्वी के लिए जो तीन माप की चार चद्दरों का कथन है वे चद्दरे, समान लम्बी चौड़ी नहीं होती है, वैसे ही भिक्षु के भी तीनों

चद्दरे समान नहीं होती है। आगमों में इनके माप का उल्लेख न मिलने से उपयोगिता और आवश्यकतानुसार छोटी बड़ी बनाई जा सकती है। चद्दर की चौड़ाई का कथन व्याख्या में एक ही प्रकार का अर्थात् ढ़ाई हाथ का बताया है। उसे आगम वर्णन के अनुसार तीनों ही चद्दरों के लिए समझ लेना उचित नहीं है। अतः भिक्षु के तीनों चद्दरों की लम्बाई-चौड़ाई हीनाधिक जघन्य मध्यम उत्कृष्ट होती है। वर्तमान में प्रायः पाँच हाथ लम्बी और तीन हाथ चौड़ी उत्कृष्ट चद्दर का उपयोग किया जाता है।

चोलपट्टक सम्बन्धी ज्ञान-विज्ञान– प्रश्नव्याकरणसूत्र में भिक्षु की उपधि में चोलपट्टक का केवल नामोल्लेख है। इसके अतिरिक्त स ख्या माप आदि अन्य वर्णन आगमों में नहीं है।

निशीथभाष्य गाथा ५८०४ में तरुण भिक्षु के लिए केवल दो हाथ लम्बा, एक हाथ चौड़ा चोलपट्टक का माप कहा है जो लौकिक व्यवहार में लज्जा रखने के लिए पर्याप्त नहीं है इसलिए इसका औचित्य समझ में नहीं आता। इस गाथा में चोलपट्टक की स ख्या भी नहीं कही है।

वृद्ध भिक्षु के लिए इसी गाथा में चार हाथ लम्बा और एक हाथ चौड़ा चोलपट्टक का माप बताया है जो उसके लिए भी पूर्ण लज्जा रखने के लिए पर्याप्त नहीं हो सकता है। प्राचीन शुद्ध परम्परा के अभाव में वर्तमान साधु समाज में अनेक प्रकार के लम्बाई एव चौड़ाई के माप वाले चोलपट्टक प्रचलित है जो भाष्य कथित माप से पूर्णतः भिन्न है।

बृहत्कल्पसूत्र के तीसरे उद्देशक में भिक्षु के आवश्यक सभी उपकरणों हेतु तीन अखण्ड़ वस्त्र(थान) ग्रहण करके दीक्षा लेने का विधान है। यदि भाष्य कथित परिणाम के चद्दर-चोलपट्टक आदि बनाए जायें तो उक्त विधान के तीन थान जितने वस्त्रों को ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं रहती है जिससे वह सूत्र विधान निरर्थक होता है। इसलिए चद्दर, चोलपट्टक का पूर्ण परिमाण यही है कि वह लज्जा रखने योग्य, शीत निवारण योग्य और अपने शरीर की लम्बाई-चौड़ाई के अनुसार हो। चलने आदि में भी अयतना या असुविधा न हो।

चोलपट्टक की स ख्या के सम्बन्ध में आगम भाष्य में यद्यपि उल्लेख नहीं है फिर भी प्रतिलेखन आदि की अपेक्षा से जघन्य दो चोलपट्टक रखना स्थविरकल्पी के लिए उचित ही है।

मुखवस्त्रिका स ब ध ी विज्ञान– 'मुखपोतिकामुख पिधानाय, पोत –वस्त्र मुखपोत , तदेव ह्रस्व चतुर गुलाधिकवितस्तिमात्रप्रमाणत्वात् मुखपोतिका। मुखवस्त्रिकायाम्।' पि ड़निर्युक्ति।

भावार्थ :– मुखवस्त्रिका अर्थात् मुख को आवृत्त करने का वस्त्र। एक बेंत और चार अ गुल अर्थात् सोलह अ गुल की मुखवस्त्रिका।

निशीथभाष्य एव बृहत्कल्पभाष्य में यही एक माप कहा गया है, किन्तु लम्बाई-चौड़ाई का अलग-अलग उल्लेख नहीं किया है। अन्य आगमों की व्याख्याओं में भी लम्बाई चौड़ाई का अलग-अलग उल्लेख नहीं मिलता है।

अतः मूर्तिपूजक समाज में प्रायः समचौरस मुहपत्ति रखने की परम्परा प्रचलित है। स्थानकवासी समाज में २१ अ गुल लम्बी और सौलह अ गुल चौड़ी मुखवस्त्रिका रखने की परम्परा है। मुखवस्त्रिका का यह माप किसी आगम में या व्याख्या ग्रन्थ में नहीं है, किन्तु यह माप मुख पर बाँधने में अधिक उपयुक्त है।

ओधनिर्युक्ति में मुखवस्त्रिका के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा है, यथा– **चत्वार्यर्ड्गुलानि वितस्तिश्चेति, एतच्चतुरस्त्र मुखानन्तकस्य प्रमाणम्, अथवा इद द्वितीय-प्रमाण –यदुत मुखप्रमाण कर्त्तव्य मुहण तय , गणना प्रमाणेन पुनस्तदेकैकमेव मुखान तक भवतीति।–ओघनिर्युक्ति गाथा-७११।**

भावार्थ :– मुखवस्त्रिका सोलह अ गुल की होती है अथवा मुख प्रमाण करनी चाहिये। गणना की अपेक्षा दोनों प्रकार की मुखवस्त्रिकाएँ प्रत्येक श्रमण-श्रमणी को एक-एक रखना चाहिए।

ओघनिर्युक्ति गाथा ६९४ की टीका में भी मुखवस्त्रिका के सोलह अ गुल की होने का उल्लेख है। इसी प्रकार से छेदसूत्रों के व्याख्या ग्रन्थों में मुखवस्त्रिका की लम्बाई-चौड़ाई अलग-अलग न कहकर केवल सोलह अ गुल का माप ही कहा गया है। इसलिये अर्वाचीन आचार्यो ने इक्कीस की लम्बाई और १६ अ गुल की चौड़ाई कही है जो बाँधने की अपेक्षा उपयुक्त है।

गाथा-७१२ में दोनों प्रकार की मुखवस्त्रिका का प्रयोजन बताया है। उसकी टीका इस प्रकार है–***स पातिमसत्वरक्षणार्थ जल्पदभिर्मुखे दीयते,' तथा नासिकामुख बध्नाति तया मुखवस्त्रिकया वसति प्रमार्जयन्, येन न मुखादौ रजः प्रविशतीति ।'*** स पतिम जीवों की रक्षा के लिए बोलते समय मुखवस्त्रिका मुख पर रखी जाती है तथा उपाश्रय का प्रमार्जन करते समय सूक्ष्म रज मुख और नाक में प्रवेश न करे, इसके लिए मुखवस्त्रिका बाँधी जाती है।

उत्तरा॰ अ॰-३ की व्याख्या में मुखवस्त्रिका रखने का कारण स्पष्ट करते हुए कहा है– (**अभि॰ राजेन्द्र कोष भा॰ ६ पृष्ठ-३३३**)

स ति स पातिमाः सत्वाः, सूक्ष्माश्च व्यापिनोपरे ।
तेषा रक्षानिमित्तं च, विज्ञेया मुखवस्त्रिकाः ॥

अर्थ :– स पातिम प्राणियों तथा अन्य इधर-उधर फैले हुए सूक्ष्म जीवों की रक्षा के लिए 'मुखवस्त्रिका' रखी जाती है, ऐसा समझना चाहिए। भगवती सूत्र श॰-१६, उ॰-२ में खुले मु ह से बोली जाने वाली भाषा को सावद्य कहा है। मुनि सावद्य भाषा का त्यागी होता है।

'जिनकल्पी आदि वस्त्ररहित एव पात्ररहित रहने वाले भिक्षुओं को भी मुखवस्त्रिका रखना आवश्यक है क्यों कि मुखवस्त्रिका तथा रजोहरण मुनि चिन्ह के आवश्यक उपकरण है।' प्रमाण के लिए देखें– (१) बृहत्कल्प उ. ३, भाष्य गा. ३९६३ की टीका (२) निशीथ उद्दे॰ २, भाष्य गा॰-१३९१ (३) अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-४ 'जिणकप्प' पृ॰-१४८९।– ***आचा॰ श्रु॰-१, अ॰-२ टीका*** (४) अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-६ 'लि गकप्प' पृ॰-६५६–***प च कल्प, भाष्य एव चूर्णि, कल्प-२***।

इन प्रमाणों के आधार से यह स्पष्ट होता है कि मु हपति मुख पर बा धना ही मुनि-चिन्ह एव जीव रक्षा के लिए उपयुक्त है अन्यथा प्रायः सभी साधु-साध्वियों का खुले मु ह बोलना निश्चित्त है तथा इधर-उधर रख देने से मुनि-चिन्ह भी नहीं रहता है। ग्रामादि में चलते समय या विहार आदि में मुखवस्त्रिका मुख पर न रहे तो जिनकल्पी आदि के लिए भाष्यादि में इसे मुनि-चिन्ह की अपेक्षा आवश्यक उपकरण कहना निरर्थक हो जाता है।

भगवती सूत्र श॰-९, उ॰-३२ में मुँहपत्ति के आठ पट का होना सिद्ध होता है। समुत्थान सूत्र में भी आठ पट होने का उल्लेख है।

श्वे॰ मूर्तिपूजक समाज में चार पट की मुँहपत्ति रखी जाती है किन्तु एक किनारे नाम मात्र के आठ पट भी कर दिए जाते हैं उसे सदा हाथ में रखते हैं। विहार आदि के समय चोलपट्टक में भी लटका देते हैं। श्वे॰स्थानकवासी मुनि पूर्ण रूप से आठ पट करके मुखवस्त्रिका मुख पर बाँध कर रखते हैं।

शिवपुराण अध्याय २१ में जैन साधु का परिचय देते हुए मुख पर मुखवस्त्रिका धारण करने का कहा है । यथा-

हस्ते पात्र दधानाश्च, तु ड़े वस्त्रस्य धारकाः ।
मलिनान्येव वासा सि, धारय त्यल्पभाषिणः ॥

निशीथभाष्य तथा पि ड़निर्युक्ति में कहा है- बितिय पि य पमाण , मुहप्पमाणेण कायव्व ॥५८०५॥- *राजेन्द्र कोष भा॰ ६, पृ॰ ३३३ ।*

मुखवस्त्रिका मुख पर बाँधने से ही मुख प्रमाण बनाने का यह कथन सार्थक हो सकता है।समुत्थान सूत्र में मुखवस्त्रिका बाँधने का स्पष्ट विधान है। मुखवस्त्रिका की स ख्या भी आगम में नहीं कही गई है। अतः दो या अधिक आवश्यकतानुसार रखी जा सकती है। व्याख्या ग्रन्थों में एक-एक मुखवस्त्रिका रखना कहा है।

कम्बल सम्बन्धी विचारणा- आगमों में अनेक जगह कम्बल का नाम आता है। यह शीत से शरीर की रक्षा के लिए रखा जाता है।

प्रश्न व्याकरण सूत्र में जहाँ तीन चद्दर का कथन है । वहाँ अन्य उपधि में कम्बल का नाम नहीं है, इसलिए इसका समावेश तीन चद्दरों में किया जाता है। जो भिक्षु शीत-परीषह सहन कर सकता है, वह वस्त्र का उणोदरी तप करता हुआ एक सूती चद्दर से भी निर्वाह कर सकता है तथा अचेल भी रह सकता है। अथवा वस्त्र के जाति की अपेक्षा से उणोदरी तप करता हुआ भिक्षु केवल सूती वस्त्र रखने पर कम्बल का त्याग कर सकता है।

कम्बल को जीव रक्षा का साधन भी माना जाने लगा है जो परम्परा मात्र है किन्तु आगम सम्मत नहीं है क्यों कि (१) दशा द॰ ७ में पड़िमाधारी भिक्षु का सूर्योदय से सूर्यास्त तक विहार करने का

वर्णन है। जहाँ सूर्यास्त हो जाए वहीं रात्रि भर अप्रमत्त भाव से व्यतीत करने का कथन है। (२) बृहत्कल्प उद्दे॰ २ में साधु को खुले आकाश वाले स्थान में रहना कल्पनीय कहा है। किन्तु इन स्थानों में अप्काय की विराधना होना या कम्बल ओढ़कर रहना नहीं कहा गया है।

अतः कम्बल को मुखवस्त्रिका या रजोहरण के समान जीव रक्षा का आवश्यक उपकरण मानना आगम सम्मत नहीं है इसीलिए दिन में या रात्रि में कम्बल आदि से मस्तक ढ़ँककर गमनागमन करने की पर परा भी आगम सम्मत नहीं है। क्यों कि जब कम्बल रखना ही सभी साधुओं के लिए आवश्यक नहीं है तो उससे मस्तक ढ़ँकने का आवश्यक नियम कहना कदापि उचित्त नहीं हो सकता।

कम्बल के माप का एव कीमत का स्पष्टीकरण भी उपलब्ध नहीं होता है। अतः आवश्यकता एव विवेक पूर्वक योग्य कीमत एव प्रमाणोपेत कम्बल रखी जा सकती है।

पादप्रोंछन का ज्ञान-विज्ञान- यह भी एक वस्त्रमय उपकरण है । इसका कथन आगमों में अनेक स्थलों पर है। निशीथ सूत्र में भी अनेक जगह इसका कथन है। इसका मुख्य उपयोग पाँव पूँछना है।

आचारा ग सूत्र में मल त्याग के समय भी इसका उपयोग करने का कहा है। बृहत्कल्प उद्दे॰ ५ तथा निशीथ उद्दे॰ २ के अनुसार कभी-कभी काष्ट दण्ड़ से बाँधकर शय्या के प्रमार्जन में भी इसका उपयोग किया जाता है। निशीथ उद्दे॰-५ के अनुसार यदि कभी आवश्यक हो तो गृहस्थ का पादप्रोंछन एक दो दिन के लिए लाया जा सकता है। इस तरह आगमों में पादप्रोंछन के अनेक प्रकार एव अनेक उपयोग बताए हैं। इन भिन्न-भिन्न प्रयोगों के कारण या अन्य किसी दृष्टिकोण से व्याख्या ग्रन्थों में इसे रजोहरण का पर्यावाची भी मान लिया गया है। कहीं इसको दो पदों में विभाजित करके 'पात्र' तथा 'प्रोंछन'(रजोहरण) ऐसा अर्थ भी किया गया है। इस अर्थ भ्रम के कारण मूल पाठ में अनेक जगह रजोहरण के स्थान पर पादप्रोंछन लिखा गया हो ऐसा प्रतीत होता है। वास्तव में यह पादप्रोंछन रजोहरण से भिन्न उपकरण है, ऐसा प्रश्न व्याकरण सूत्र से स्पष्ट है क्यों कि वहाँ दोनों उपकरण अलग-अलग कहे हैं और टीकाकार ने भी अलग-अलग गिनकर उपकरणों की स ख्या १२ कही है।

दशवै॰ अ॰-४ में भी एक साथ दोनों उपकरणों के नाम गिनाए हैं। यह जीर्ण या उपयोग में आए हुए वस्त्रखण्ड़ का बनाया जाता है, जो सूती या ऊनी किसी भी प्रकार का हो सकता है। इसका भी आगम में कोई माप निर्दिष्ट नहीं है। व्याख्या ग्रन्थों में यह एक हाथ का सम चौरस ऊनी वस्त्र खण्ड़ कहा गया है किन्तु ऊनी वस्त्र का त्याग कर ऊणोदरी करने वाले सभी कामों में सूती वस्त्र का ही उपयोग करते हैं। अतः कोई भी उपकरण ऊनी ही हो ऐसा आग्रह नहीं किया जा सकता है । पादप्रोंछन विषयक अन्य जानकारी के लिए निशीथ उद्दे॰ २ सूत्र-१-८ का विवेचन देखें।

उत्तरा॰ अ॰ १७ गा॰ ७ एव उसकी टीका के अनुसार पादप्रोंछन कभी बैठने के भी उपयोग में लिया जा सकता है।

रजोहरण पादप्रोंछन में भिन्नता- रजोहरण प्रमार्जन करने का उपकरण है एव मुनि लि ग और जीव रक्षा का आवश्यक उपकरण है । इस पर बैठना आदि नहीं किया जाता है। कि तु पादप्रोंछन बैठने, पाँव पूँछने, मल त्याग के समय जीर्ण वस्त्र खण्ड़ की जगह उपयोग लेने के काम आता है और यह सभी को रखने का आवश्यक उपकरण नहीं है आवश्यक होने पर एक दूसरे मुनि से मा ग लिया जाता है।

पुनश्च- रजोहरण फलियों के समूह से बना औघिक उपकरण है । पादप्रोंछन वस्त्र ख ड़ होता है और वह औपग्रहिक उपकरण है। अन्य विशेष जानकारी के लिए निशीथ उद्दे॰ २ सू॰ १ का विवेचन देखें- ***आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर।***

पात्र सम्बन्धी वस्त्रों का ज्ञान- भिक्षा लाने के लिए झोली, २. गोचरी लाने के बाद आहार युक्त पात्रों को रखने का वस्त्र(मा ड़ला), ३. खाली पात्रों को बाँधने के समय उनके बीच में दिए जाने वाले वस्त्र (अस्तान), ४. पानी छानने या उसे ढ़ँकने का वस्त्र(गरणा), ५. पात्र प्रमार्जन करने का कोमल वस्त्र।

इन्हें प्रश्न॰ श्रु॰ २, अ॰ ५ में क्रमशः १. पात्रबन्धन, २. पात्र स्थापनक, ३. पटल, ४. रजस्त्राण, ५. पात्रकेसरिका कहा है । ये वस्त्र आवश्यकतानुसार लम्बे-चौड़े रखे जा सकते हैं क्यों कि आगमों में इनके माप का कोई उल्लेख नहीं है।

निशीथिया स ब धी ज्ञान चर्चा- यह रजोहरण की ड़ ड़ी के ऊपर लपेटने का वस्त्र होता है। इसका आगम में कही भी निर्देश नहीं है । अतः यह परम्परा से रजोहरण की ड़ ड़ी पर लपेटने के लिए प्रचलित है । इससे रजोहरण व्यवस्थित ब धा रहता है और वस्त्र युक्त काष्ट द ड़ से पशु आदि कोई भयभीत भी नहीं होते हैं। कसीदा एव र गो से युक्त निशीथिया रखने की और दो-तीन निशीथिये लपेटकर रखने की प्रवृत्ति भी मूर्तिपूजक साधु समाज में है, जो केवल परम्परा मात्र है जिसका स यम की अपेक्षा से कोई महत्त्व नहीं है और ऐसे चित्र-विचित्र रग-बिर गे कसीदे वाले उपकरण साधु के लिए अकल्पनीय भी है।

ये सब वस्त्र सम्बन्धी उपकरण कहे गये हैं। आगमों में इन सभी के माप का स्पष्ट वर्णन नहीं है। अतः भिक्षु ममत्व भाव न करते हुए उपयोगी वस्त्र आवश्यकता एव गण समाचारी के अनुसार रख सकता है। किन्तु उन सभी वस्त्रों का कुल माप तीन अखण्ड़ वस्त्र (थान-ताका) से अधिक होने पर उन्हें सूत्रोक्त प्रायश्चित्त आता है। किन्तु निशी॰ उ॰ १८ के अनुसार सकारण(अशक्ति आदि से) आज्ञा पूर्वक मर्यादा से अतिरिक्त वस्त्र रखे जाने पर प्रायश्चित्त नहीं आता है।

साध्वी के वस्त्र सम्बन्धी विशेष उपकरण- आगमों में साध्वी के लिए ४ चद्दरों का और उनकी चौड़ाई का कथन है। 'उग्गहण तक' और 'उग्गहपट्टक' ये दो उपकरण विशेष कहे गए हैं। आगमों में साध्वी के उपकरणों का भी अलग-अलग स्पष्ट माप नहीं है। अतः साध्वियाँ भी आवश्यकता और समाचारी के अनुसार उपकरण रख सकती है। किन्तु अकारण एव आज्ञा बिना चार अखण्ड़ वस्त्र(थान-ताका) के माप से अधिक वस्त्र रखने पर उन्हें भी सूत्रोक्त प्रायश्चित्त समझना चाहिए।

शील रक्षा के लिए और शरीर-स रचना के कारण कुछ उपकरण स ख्या और उनका माप अधिक होने से साध्वी के लिए बृहत्कल्पसूत्र में एक अखण्ड़ वस्त्र(थान-ताका) अधिक कहा गया है।

उग्गहण तक-उग्गहपट्टक- गुप्ता ग को ढ़ँकने का लम्बा(ल गोट जैसा) कपड़ा 'उग्गहपट्क' है और जाँघिया जैसे उपकरण को 'उग्गहण तक' समझना चाहिए।

बृहत्कल्प सूत्र, उ॰-३ में ये दोनों उपकरण साधु को रखने का निषेध है और साध्वी को रखने का विधान है। ये दोनों उपकरण शील रक्षा के लिए रखे जाते हैं और यथासमय पहने जाते हैं।

व्याख्याकारों ने इन दो उपकरणों के स्थान पर छः उपकरणों का वर्णन किया है तथा साध्वी के लिए कुल २५ उपकरणों की स ख्या बताई है और साधु के लिए १४ उपकरण कहे हैं। आगमों में स ख्या का ऐसा कोई निर्देश नहीं है। किन्तु भिन्न-भिन्न स्थलों पर भिन्न-भिन्न उपकरणों का कथन है। प्रश्नव्याकरण सूत्र में एक साथ उपकरणों का कथन भी किया गया है परन्तु वहाँ स ख्या का निर्देश नहीं है, न ही उस कथन से भाष्योक्त स ख्या की स गति होती है।

पात्र सम्बन्धी ज्ञान-विज्ञान- लकड़ी, तुम्बा, मिट्टी इन तीन जाति के पात्रों में से किसी भी जाति के पात्र रखे जा सकते हैं ऐसा वर्णन अनेक आगमों में स्पष्ट मिलता है किन्तु पात्र की स ख्या का निर्णय किसी भी आगम पाठ से नहीं होता है।

(१) आचा॰ श्रु॰-१, अ॰-८, उद्दे॰-४ में विशिष्ट प्रतिज्ञाधारी समर्थ भिक्षु के लिए अनेक पात्रों का वर्णन है-**'जे भिक्खू तिहिं वत्थेहिं परिवुसिए पाय चउत्थेहिं ।'** यहाँ पर एक वचन का प्रयोग न करके 'पाय चउत्थेहिं' ऐसा बहुवचना त शब्द का प्रयोग किया गया है।

(२) व्यव॰ उद्दे॰-२ में परिहार तप प्रायश्चित्त वहन करने वाले भिक्षु के लिए आहार करने का विधान करते हुए पात्र की अपेक्षा से पाँच शब्दों का प्रयोग किया है- **'सय सि वा पड़िग्गह सि, सय सि वा पलासयग सि, सय सि वा कम ड़ल सि, सय सि वा खुब्बग सि, सय सि वा पाणिसि ॥'**

यहाँ पर आहार के पात्र के लिए 'पड़िग्गह सि' शब्द है। मात्रक के लिए 'पलासग सि' शब्द है और पानी के पात्र के लिए 'कम ड़ल सि' शब्द है। इस पाठ में भी अनेक प्रकार के पात्र होने का कथन स्पष्ट है।

(३) भगवती सूत्र, श॰-२, उद्दे॰-५ में गौतम स्वामी के गोचरी जाने के वर्णन में उनके अनेक पात्रों का वर्णन है- 'तएण से भगव गोयमे छट्ठ-क्खमणपारणग सि ***जाव*** भायणाइ वत्थाइ पड़िलेहेइ भायणाइ वत्थाइ पड़िलेहित्ता भायणाइ पमज्जइ भायणाइ पमज्जिता, भायणाइ उग्गाहेइ, भायणाइ उग्गाहेत्ता जेणेव समणे भगव महावीरे ***जाव*** भिक्खायरिय अड़इ ***जाव*** एसण अणेसण आलोएइ आलोएत्ता भत्त पाण पड़िद सेइ।'

इस वर्णन में बताया गया है कि- गौतम स्वामी ने बहुत से पात्रों का प्रतिलेखन प्रमार्जन किया तथा गोचरी में लाए हुए आहार तथा पानी दोनों भगवान् को दिखाए। यहाँ पर गौतम स्वामी के अनेक पात्र होने का स्पष्ट वर्णन है।

(४) भगवती सूत्र श॰ २५, उद्दे॰ ७ में उपकरण-उणोदरी का वर्णन इस प्रकार है- से कि त उवगरणोमोयरिया ? उवगरणोमोयरिया- एगे वत्थे, एगे पाए, चियत्तोवगरणसाइज्जणया।

यहाँ एक वस्त्र(चद्दर) एव एक पात्र रखने से उणोदरी तप होने का कथन है। इससे अनेक वस्त्र एव अनेक पात्र रखना स्पष्ट सिद्ध होता है क्यों कि अनेक वस्त्र-पात्र कल्पनीय हो तब ही एक वस्त्र या पात्र रखने से उणोदरी तप हो सकता है।

(५) प्रश्नव्याकरण सूत्र श्रु॰ २, अ॰ ५ में पात्र के उपकरणों में 'पटल' की स ख्या तीन कही गई है। पटल का उपयोग पात्रों को बाँधकर रखते समय पट लगाने में किया जाता है। पात्र के बीच में रखे जाने के कारण इनको 'पटल'(अस्तान) कहा गया है। इनकी स ख्या तीन कही गई है अतः पात्र तो तीन से ज्यादा होना स्वतः सिद्ध हो जाता है। एक या दो पात्र के लिए तीन पटल की आवश्यकता नहीं होती है। व्याख्याकारों ने पटल का उपयोग गोचरी में भ्रमण करते समय आहार के पात्रों को ढ़कने का बताया है तथा पाँच-सात पटल रखना भी कह दिया है किन्तु आगम में आहार के पात्रों को ढ़ा कने के लिए झोली एव रजस्त्राण उपकरण अलग कहे गये हैं; अतः पटल का उपरोक्त उपयोग ही उचित है।

(६) आचा॰ श्रु॰-२, अ॰-६ में पात्र सम्बन्धी पाठ इस प्रकार है- 'से भिक्खू वा भिक्खूणी वा अभिक खेज्जा पाय एसित्तए, से ज पुण पाय जाणेज्जा, त जहा-अलाउपाय वा दारुपाय वा मट्टिया पाय वा तहप्पगार पाय जे निग्ग थे तरुणे ***जाव*** थिरस घयणे, से एग पाय धारेज्जा णो बीय ।'

अर्थ- भिक्षु या भिक्षुणी पात्र की गवेषणा करना चाहे तब वह ऐसा जाने कि यह तुम्बे का पात्र, लकड़ी का पात्र या मिट्टी का पात्र है इनमें से जो निर्ग्रन्थ तरुण यावत् स्थिर स हनन वाला है वह एक ही प्रकार का पात्र ग्रहण करे दूसरे प्रकार का नहीं।

केवल एक पात्र रखने की कल्पना अनागमिक- यहाँ तीन जाति के पात्रों का कथन करके एक को ग्रहण करने का जो विधान है वह एक जाति की अपेक्षा से है ऐसा स्पष्ट है एव ऐसा अर्थ करना ही आगम स मत है। यदि सम्बन्ध मिलाए बिना ही ऐसा समझ लिया जाए कि स ख्या में एक ही पात्र भिक्षु को कल्पता है अनेक नहीं, तो यह अर्थ उपर्युक्त स कलित अनेक आगम पाठों से विरुद्ध है क्यों कि गणधर गौतम स्वामी के एव पारिहारिक तप करने वाले भिक्षु के तथा विशिष्ट प्रतिज्ञाधारी भिक्षुओं के भी अनेक पात्र होना ऊपर बताए गए आगम प्रमाणों से स्पष्ट है।

यदि तरुण स्वस्थ साधु को एक ही पात्र कल्पता हो तो अनेक पात्र रखना कमजोरी और अपवाद मार्ग सिद्ध होता है। ऐसी स्थिति में पात्र की ऊणोदरी करने का कोई प्रयोजन ही नहीं रहता। जबकि भगवती आदि सूत्रों में ऊणोदरी तप का पाठ स्पष्ट मिलता है तथा उसकी व्याख्या भी मिलती है। अतः आचरा ग के इस पाठ में एक जाति के पात्र ही तरुण साधु को कल्पते हैं, यही अर्थ करना निराबाध है एव आगम सम्मत है।

इस प्रकार से भिक्षु के अनेक पात्र रखने का निर्णय तो हो जाता है किन्तु कितने पात्र रखना है यह निर्णय नहीं हो पाता है। तीन पटल के पाठ से जघन्य ४ पात्र रखना तो स्पष्ट है, इसके अतिरिक्त मात्रक तीन प्रकार के कहे गए हैं- **१.** उच्चार मात्रक, **२.** प्रस्त्रवण मात्रक, **३.** खेल मात्रक। इसमें प्रस्त्रवण मात्रक तो सभी को आवश्यक होता है किन्तु खेल मात्रक और उच्चार मात्रक विशेष कारण से किसी-किसी को आवश्यक होता है।

आचारा ग के इस पाठ से या अन्य किसी कारण से भाष्य टीकाकारों ने पात्र स ख्या की चर्चा करते हुए एक पात्र व एक मात्रक रखने को कल्पनीय सिद्ध किया हैं। जिसमें मात्रक का विधान आर्य-रक्षित के द्वारा किया गया बताया है। अन्य भी इस विषयक विस्तृत चर्चा की गई है। जिसका उपरोक्त आगम प्रमाणों के सामने कुछ भी महत्व नहीं रहता है तथा एक या दो पात्र रखने की कोई परम्परा भी प्रचलित नहीं है।

एक पात्र की प्ररूपणा के लक्ष्य में भाष्यकार आदि पात्रों की

आगम सम्मत स ख्या का उल्लेख नहीं कर सके हैं। कम से कम चार पात्र और मात्रक तो उक्त प्रमाण चर्चा से ही स्पष्ट है। अतः विभिन्न प्रवृत्ति पर पराओं में जघन्य ४-५ मध्यम ७-९ उत्कृष्ट यथेच्छ आवश्यकता अनुसार पात्र रखे जाते हैं। श्वे. मूर्ति पूजक पर परा में अधिका शतः ६ पात्र गोचरी के, एक दूध के लिए तरपणी और एक पानी का घड़ा तथा मात्रक यों कुल ९ पात्र रखे जाते हैं। स्थानकवासी स घ में जघन्य स ख्या को स्वीकार करने वाले कुल ४-५ पात्र रखते हैं इनके अतिरिक्त ६-९ आदि विभिन्न स ख्या में पात्र रखे जाते हैं। श्वे॰ तेराप थी पर परा में कुल ३-४ पात्र रखे जाते हैं।

जाति की अपेक्षा अधिका शतः लकड़ी और मिट्टी के पात्र रखे जाते हैं। कोई केवल लकड़ी के पात्र ही रखते हैं। तो कई यथेच्छ प्लास्टिक आदि के पात्र चम्मच, प्लेट, ढ़क्कन, बाल्टी आदि भी रखते हैं।

निष्कर्ष यह है कि जिस उपकरण की स ख्या का आगम में उल्लेख नहीं है, उसे अपनी क्षमतानुसार अल्पतम रखने का प्रयत्न रखना चाहिए। अनावश्यक स ग्रह भी नहीं करना चाहिए और आवश्यक उपकरण भी स्वय उठा सके उतने ही रखने चाहिए। गृहस्थ से उठवाना पड़े इतने उपकरण रखना, यह स यम मर्यादा भ ग करना है एव उसका प्रायश्चित्त भी आता है।

पात्र की तीन जाति की विचारणा :- आचा॰ श्रु॰-२, अ॰-६, उद्दे॰-१ में तथा ठाणा गसूत्र अ॰-३ में साधु-साध्वी के लिये तीन प्रकार के पात्र ग्रहण करने एव धारण करने का विधान है, यथा- **१.** तुम्बे के पात्र, **२.** लकड़ी के पात्र, **३.** मिट्टी के पात्र। अन्य अनेक आगमों में भी इन्हीं तीन प्रकार के पात्रों का निर्देशपूर्वक वर्णन किया गया है।

आचा॰ श्रु॰-२, अ॰-६, उद्दे॰-१ में लोहे आदि के पात्र तथा लोहे आदि के ब धन युक्त पात्र ग्रहण करने का निषेध किया गया है। प्रस्तुत चार सूत्रों में उन्हीं लोहे आदि के पात्रों को ग्रहण करने का प्रायश्चित्त कहा गया है। आचारा ग सूत्र में लोहे से चर्म पर्यन्त कथन करने के साथ अन्य भी इस प्रकार के पात्र ग्रहण करने का निषेध किया है तथा इन्हें बहूमूल्य विशेषण से सूचित किया है।

लकड़ी, तुम्बा व मिट्टी के पात्र भिक्षु की लघुता के सूचक है। भगवती सूत्र, श०-३, उद्दे०-१ में तामलि तापस के काष्ट-पात्र ग्रहण करने का वर्णन है। उववाई सूत्र में तापस परिव्राजक आदि के वर्णन में उनके लिए काष्ट आदि तीन प्रकार के ही पात्र रखने का विधान है एव अन्य अनेक प्रकार के पात्र रखने का निषेध है।

काष्ठादि तीनों प्रकार के पात्र अल्प मूल्य एव सामान्य जातीय होने से उनकी चोरी होने का भय नहीं रहता है। काष्ठ व तुम्बे के पात्र में वजन भी कम होता है। लोहे आदि के पात्र भारी तथा बहुमूल्य होते हैं, अतः इनका निषेध व प्रायश्चित्त कहा गया है।

वर्तमान में प्लास्टिक के पात्र भी साधु-साध्वी उपयोग में लेते हैं। प्लास्टिक को काष्ठ-रस स योग से निर्मित माना जाता है। प्लास्टिक के पात्र का वजन व मूल्य काष्ठ-पात्र से भी कम होता है। अतः लोहे आदि के पात्र में होने वाले दोषों की इसमें सम्भावना नहीं हैं। किन्तु ये पात्र सभी प्रकार के खाद्य पदार्थ ग्रहण करने व रखने के योग्य नहीं होते हैं एव गृहस्थ के उपयोग में आने योग्य एव चोरी होने योग्य भी होते हैं। अतः आगम निर्दिष्ट काष्ठादि पात्र के समान ये पूर्ण रूप से उपयोगी या उपयुक्त नहीं है। प्लास्टिक पात्र लघुता सूचक भी नहीं है अपितु फैशन परस्त है।

गोच्छग सम्बन्धी विचारणा- स यम लेते समय ग्रहण की जाने वाली उपधि के वर्णन में पात्र से भिन्न 'गोच्छग' का कथन है। -***बृह० उद्दे०-३.***

उत्तरा० अ०-२६ में सूर्योदय होने पर मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना के बाद 'गोच्छग' के प्रतिलेखन करने का विधान है। उसके बाद वस्त्र प्रतिलेखन का कथन है। तदनन्तर पौन पोरिषी आने पर पात्र प्रतिलेखन का विधान है।

इन सूत्रों से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि 'गोच्छग' पात्र सम्बन्धी उपकरण नहीं है किन्तु वस्त्रों के प्रतिलेखन में प्रमार्जन करने का उपकरण है, जिसे प्रमार्जनिका(पूँजणी) कहा जाता है जिसका प्रतिलेखन मुख-वस्त्रिका के बाद किया जाता है।

प्रश्नव्याकरण सूत्र श्रु०-२, अ०-५ में अनेक उपकरणों के नाम निर्दश हैं तथा वहाँ 'आदि' शब्द का प्रयोग भी किया गया है जिससे पादप्रोंछन, मात्रक, आसन आदि अनिर्दिष्ट एव अन्यत्र आगमों में वर्णित

उपकरणों को ग्रहण किया जाता है। उस पाठ में भी 'गोच्छग' उपकरण स्वतन्त्र कहा गया है। **दशवै० अ०-४** में अनेक उपकरणों के निर्देश के साथ 'गोच्छग' का भी निर्देश पात्र से अलग किया है।

व्याख्याकारों ने 'गोच्छग' को पात्र का ही उपकरण गिनाया एव समझाया है और उसे ऊनी वस्त्र खण्ड़ बताया है जो उपरोक्त आगम वर्णनों से विपरीत है। अतः उपर्युक्त स्पष्टीकरण से गोच्छग को पूँजणी ही समझना उचित है।

बृहत्कल्प सूत्र, उद्देशक-५ में तथा प्रश्न श्रु०-२, अ०-५ में 'पायकेसरिया' उपकरण का वर्णन है। जो पात्र प्रमार्जन का कोमल वस्त्र रूप उपकरण है। तूम्बे के पात्र का प्रामर्जन करने के लिए इसे भिक्षु छोटे काष्ठ द ड़ से बाँधकर भी रख सकता है, किन्तु साध्वी को काष्ठ द ड़ युक्त रखने का बृहत्कल्प सूत्र में निषेध है। कहीं-कहीं इसे भी 'गोच्छग' ही मान लिया जाता है। किन्तु प्रश्नव्याकरणसूत्र में पात्र के उपकरणों के बीच तीसरा उपकरण 'पायकेसरिका' कहा है और गोच्छग अलग कहा है, अतः दोनों उपकरण भिन्न-भिन्न है। गोच्छग का उपयोग वस्त्र, शरीर या अन्य उपधि के प्रमार्जन के लिए होता है एव पात्रकेसरिका का उपयोग पात्र प्रमार्जन के लिए होता है। इस प्रकार दोनों का कार्य भी भिन्न-भिन्न है।

रजोहरण का परिचय- यह भिक्षु का आवश्यक उपकरण है जो काष्ठ या बेंत आदि की ड़ ड़ी में फलियों को बाँधकर बनाया जाता है। जिनकल्पी एव स्थविरकल्पी सभी साधुओं को रखना आवश्यक होता है। खड़े-खड़े भूमि का प्रमार्जन किया जा सके इतना लम्बा होता है तथा एक बार में प्रमार्जन की हुई भूमि में बराबर पैर रखा जा सके इतना घेराव होता है। उत्कृष्ट घेराव ३२ अ गुल भी समझा जा सकता है। चलते समय प्रमार्जन करने में तथा आसन, शय्या व मकान का प्रमार्जन करने में इसका उपयोग किया जाता है। इसे 'ऋषि-ध्वज' भी कहा गया है। **निशीथ उद्दे०-५** में इसे खड़े रहने, बैठने या सिरहाने देने के उपयोग में लेने का प्रायश्चित्त कहा है।

आगमों में भिक्षु को 'अचेल' और 'अपात्र' (करपात्री) भी कहा है। भाष्यादि में मु हपत्ती एव रजोहरण के सिवाय सभी उपकरणों का त्याग किया जा सकना बताया है क्यों कि ये दोनों स यम एव जीव

रक्षा के प्रमुख साधन है और शेष उपकरण शरीर की रक्षा एव लज्जा की प्रमुखता से रखे जाते हैं। अल्प उपधि रखने वाले जिनकल्पी आदि भिक्षु रजोहरण से गोच्छग का कार्य भी कर सकते हैं।

साधु के सभी उपकरणों की तालिका :–

वस्त्र माप	उपकरण	विवरण
१. हाथ =	मु हपत्ती =	दो (कम से कम) लम्बाई २१ अ गुल चौड़ाई १६ अ गुल अथवा १६ अ गुल समचौरस।
	गोच्छग =	एक(शरीर, उपकरण और वस्त्र के प्रमार्जन योग्य)
	रजोहरण =	एक(खड़े-खड़े या चलते समय भूमि प्रमार्जन योग्य)
३५ हाथ =	चद्दर =	तीन (ऊनी कम्बल या सूती चद्दर)
१५ हाथ =	चोलपट्टक =	दो (लम्बाई ५ हाथ और चौड़ाई ड़ेढ़ हाथ)
७ हाथ =	आसन	एक साड़े तीन हाथ का। कुल दो।
	पात्र =	चार (कम से कम) मात्रक अलग।
१० हाथ =	पात्र के वस्त्र =	सात
१ हाथ =	पादप्रोंछन =	एक
१ हाथ =	निशीथिया =	एक, रजोहरण के काष्ठदण्ड़ पर लगाने के लिए
योग – ७० हाथ लगभग = तीन अखण्ड़ वस्त्र = ७२ हाथ होता है।		

साध्वी के सभी उपकरणों की तालिका :–

चद्दर ४	४५ हाथ
साटिका(साड़ी) २(चोलपट्टा)	२० हाथ
उग्गहण तक, उग्गह पट्टक, क चुकी	१० हाथ
शेष मुह पत्ती आदि पूर्वोक्त	२० हाथ
४ अखण्ड़ वस्त्र = ९६ हाथ =	९५ हाथ लगभग = योग

उपरोक्त उपधि रखना भिक्षु की उत्सर्ग विधि है। अपवाद जन्य उपधि आवश्यकतानुसार अल्प समय के लिए गीतार्थ भिक्षु की आज्ञा से रखी जा सकती है किन्तु सदा के लिए और सभी साधुओं के लिए रखना उपयुक्त नहीं है। अतः अकारण कोई उपधि नहीं रखी जा सकती है।

औपग्रहिक उपधि इस प्रकार है- १. दण्ड़, २. लाठी, ३. बा स

की खपच्ची, ४. बा स की सुई, ५. चर्म, ६. चर्मकोश, ७. चर्म छेदनक, ८. छत्र, ९. भृषिका, १०. नालिका, ११. चिलमिली, १२. सुई, १३. कैंची, १४. नखच्छेदनक, १५. कर्ण शोधनक, १६. का टा निकालने का साधन, १७. आकुञ्चन पट्टक(पर्यस्तिका पट्टक) इत्यादि औपग्रहिक उपकरणों का उल्लेख आगमों में है। भाष्य में आपवादिक औपग्रहिक उपकरण इस प्रकार कहे है–

पीठग णिसज्ज द ड़ग, पमज्जणी घट्टए ड़गलमादी।
पिप्पलसूयि-णहहरणि, सोधणगदुग जहण्णो उ ॥१४१३॥

वासत्ताणे पणग , चिलमिलि पणग दुग च स थारे।
द ड़ादि पणग पुण, मतगतिग पदलेहणिया ॥१४१४॥
चम्मतिग पट्टदुग , णायव्वो.....॥१४१५॥

अक्खा स थारो य, एगमणेग गिओ य उक्कोसो।
पोत्थगपणग फलग , वितियपदे होई उक्कोसो ॥१४१६॥

–नि. भाष्य भा. २, पृष्ठ-१९२, ९३।–बृह. भाष्य गा. ४०९६ से ४०९९

अर्थ :– १. अनेक प्रकार के पीढ़े, **२.** निषद्या, **३.** द ड़ प्रमार्जनिका (ड़ांड़िया या द ड़ासन) **४.** ड़गल-पत्थरादि, **५.** कैंची(कतरणी) **६.** सुई, **७.** नख छेदनक, **८.** कर्णशोधनक, **९.** दन्त शोधनक, **१०.** छत्र प चक, **११.** चिलमिलिका प चक, **१२.** स स्तारक(अनेक प्रकार के तृण) **१३.** पाँच प्रकार के द ड़ लाठी आदि, **१४.** तीन मात्रक(उच्चार, प्रसवण, खेल मात्रक), **१५.** अवलेखनिका(बा स की खपच्ची), **१६.** चर्म त्रिक(सोने, बैठने एव ओढ़ने का), **१७.** स स्तारक पट और उत्तर पट्ट (ऊनी एव सूती शयन वस्त्र), **१८.** अक्ष-समवसरण (स्थापनाचार्य), **१९.** चटाई आदि **२०.** पुस्तक प चक, **२१.** फलग-लकड़ी के पाट आदि। भिक्षु इन उपकरणों को उत्सर्ग विधि से नहीं रख सकता है। आपवादिक स्थिति से ये औपग्रहिक उपकरण रखे जा सकते हैं। पुस्तक के कथन से अध्ययन की लेखन सामग्री के अन्य उपकरण एव चश्मे आदि भी क्षेत्र काल अनुसार आवश्यक होने पर रखे जा सकते हैं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इन उपकरणों में सूई, कैंची, छत्र आदि धातु वाले उपकरण भी कहे हैं। पुस्तक, मात्रक, स स्तारक, पाट तथा शयन वस्त्र को भी आपवादिक उपकरण कहा है तथा अन्य अनेक

प्रचलित उपकरणों एव पदार्थो का यहाँ कोई उल्लेख नहीं है। आगम तथा उनके भाष्य टीका के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न समुदायों में प्रचलित कुछ नूतन उपकरण इस प्रकार है- (१) ना द, तगड़ी, सूपड़ी, चूली, मूर्ति आदि। (२) गुरूजनों के फोटू आदि। (३) समय की जानकारी के लिए घड़ी। (४) स्थापनाचार्य के लिए ठमणी। (५) पुस्तक रखने के सापड़ा, सापड़ी। (६) योग की पाटली, द ड़ी, द ड़ासन। (७) वासक्षेप का ड़िब्बा या बटवा। (८) प्लास्टिक के लोटा, गिलास, ढ़क्कन, बाल्टी आदि उपकरण। (९) रात्रि में रखने के पानी में ड़ालने के चूने का ड़िब्बा। (१०) वस्त्र, पात्र आदि को स्वच्छ करने के लिए साबुन, सोड़ा व सर्फ आदि। (११) वस्त्रादि सुखाने के लिए एव चोलपट्टक के उपर बाँधने के लिए ड़ोरिया ।

इन उपकरणों के रखने का विधान आगमों में या उनके भाष्य आदि व्याख्या ग्रन्थों में नहीं है। अत्यावश्यक होने पर तो स यम एव शरीर आदि कि सुरक्षा के हेतु औपग्रहिक उपकरण रखे जा सकते हैं किन्तु केवल प्रवृत्ति या परम्परा से अनागमिक, अनावश्यक उपकरण रखना परिग्रह रूप ही हैं।

औधिक उपधि का प्रायश्चित्त- प्रस्तुत प्रायश्चित्त सूत्र औत्सर्गिक उपधि से सम्बन्धित है। उसमें भी जिसकी गणना या प्रमाण(माप) आगम में उपलब्ध है उसी के उल्ल घन का प्रायश्चित्त इससे समझना चाहिए। शेष का परिमाण एव प्रायश्चित्त प्रमाणाभाव में परम्परागत समाचारी के अनुसार समझना चाहिए।

औपग्रहिक या अतिरिक्त उपधि के प्रायश्चित्त की विचारणा- आगम निरपेक्ष अतिरिक्त उपधि रखने का गुरू चौमासिक प्रायश्चित्त आता है। कारण बिना या कारण के समाप्त हो जाने पर भी औपग्रहिक उपकरणों को रखने पर गुरू चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है। औपग्रहिक उपकरणों को सदा के लिए आवश्यक रूप से रखने की परम्परा चलाने पर उत्सूत्र परुपणा का प्रायश्चित्त आता है और रखने वालों को गुरू चौमासी प्रायश्चित्त आता है। अतः ड़ ड़ा, कम्बल स्थापनाचार्य आदि किसी भी उपकरण का आग्रह युक्त प्ररूपण करना मिथ्या प्रवर्तन समझना चाहिए।

प्रकरण-२७ : गुरू आदि की आशातनाओं में अपवाद

(उद्देशक-१०, सूत्र-४) भाष्य चूर्णि में आशातना के अनेक अपवादों का भी उल्लेख किया है यथा- (१) गुरू बीमार हो तो उनके लिए जो अपथ्य आहार हो वह उन्हें न दिखाना किन्तु स्वय खा लेना या बिना पूछे अन्य को दे देना। (२) मार्ग में का टे आदि हटाने के लिए आगे चलना। (३) विषम स्थान में या रुग्ण अवस्था में सहारे के लिये अत्यन्त निकट चलना। (४) शारीरिक परिचर्या करने के लिए निकट बैठना एव स्पर्श करना। (५) अपरिणत(अयोग्य) साधु न सुन सके, इसके लिये छेदसूत्र की वाचना के समय निकट बैठना। (६) गृहस्थ का घर निकट हो तो गुरू के आवाज देने पर भी न बोलना अथवा स घर्ष की सम्भावना हो तो भी न बोलना। (७) साधुओं से मार्ग अवरूद्ध हो तो स्थान पर से ही गुरू को उत्तर दे देना। (८) स्वय बीमार हो या अन्य बीमार की सेवा में स लग्न हो तो बुलाने पर भी न बोलना। (९) मलविसर्जन करते हुए न बोलना। (१०) गुरु से कभी उत्सूत्र प्ररूपणा हो जाये तो विवेकपूर्वक या एकान्त में कह देना। (११) गुरु आदि के स यम में शिथिल हो जाने पर उन्हें स यम में स्थिर करने के लिये कर्कश भाषा का प्रयोग करना।

उक्त आशातना की प्रवृत्ति करने पर भी सूत्रोक्त प्रायश्चित्त नहीं आता है क्यों कि इसमें आशातना के भाव न होकर उचित विवेक दृष्टि होती है।

प्रकरण-२८ : श्रुत अध्ययन एव भिक्षु पड़िमा
(पूर्व ज्ञान के बिना एकल विहार)

(अ तगड़सूत्र-व्यवहारसूत्र) अ तकृत दशा सूत्र में ८८ श्रमण-श्रमणियों के श्रुत अध्ययन का वर्णन है जिसमें- ग्यारह अ ग को क ठस्थ करने वाले-६६ हैं। द्वादश अ ग-चौदह पूर्व क ठस्थ करने वाले-२२ हैं। इनमें ग्यारह अ ग क ठस्थ करने वालों की दीक्षा पर्याय पाँच वर्ष से लेकर अनेक वर्षो की है। चौदह पूर्व = बारह अ ग क ठस्थ करने वालों की दीक्षा पर्याय १६ और २० वर्ष है।

शास्त्र अध्ययन तीन वर्ष के पहले- व्यवहार सूत्र उद्देशक दस में शास्त्र अध्ययन का दीक्षा पर्याय से वर्णन किया गया है उसका सही अर्थ

है कि सूत्र निर्दिष्ट वर्षो तक तो योग्य साधु-साध्वी को सूत्र कथित शास्त्र का अध्ययन कर ही लेना चाहिए या करा देना चाहिए।

'सूत्र निर्दिष्ट वर्षो के बाद ही उस सूत्र का अध्ययन करना या कराना' ऐसा अर्थ करना केवल मति-भ्रम ही है जिससे अनेक आगम पाठों की स गति भी नहीं होती है और अ तगड़ सूत्र में आये शास्त्र-अध्ययन के वर्णन से भी विरोध होता है।

सूत्र का सही अर्थ न करके मतिभ्रम से गलत अर्थ करना और फिर आगम विहारी के समाधान से स तोष करना दोहरी भूल है। वैसा करने से कथानकों का समाधान मान भी लिया जाय तो भी छेद सूत्रों के अनेक विधानों का कुछ भी समन्वय समाधान नहीं हो सकेगा। अतः इस सूत्र में कहा गया ग्यारह अ ग और १४ पूर्व के अध्ययन वर्णन का व्यवहार सूत्र के विधान के सही अर्थ से कोई विरोध नहीं है।

व्यवहार सूत्र उद्देशक तीन के अनुसार तीन वर्ष की दीक्षा वाला श्रमण-श्रमणी पर्याय-स पन्न होने से मुखिया बनकर विचरण कर सकता है तथा जिनके आचारा ग-निशीथ सूत्र का अध्ययन पूर्ण नहीं हुआ है, वैसा साधु-साध्वी मुखिया बन कर विचरण नहीं कर सकता है और उद्देशक चार के अनुसार यदि उनका मुखिया काल धर्म को प्राप्त हो जाय तो उन्हें चातुर्मास में भी विहार करना आवश्यक हो जाता है।

अतः यह स्पष्ट है कि तीन वर्ष की दीक्षा वाला और आचारा ग निशीथ का अध्ययन कर उसे क ठस्थ धारण करने वाला ही मुखिया बनकर विचरण कर सकता है। इससे भी यह सिद्ध हुआ कि तीन वर्ष की दीक्षा तक कम से कम आचारा ग निशीथ का अध्ययन कर लेना चाहिए, ऐसा अर्थ करना ही आगमनुकूल है।

व्यवहार सूत्र के तीसरे उद्देशक में तीन वर्ष की दीक्षा वाले को उपाध्याय बनाने का स्पष्ट विधान है। वहाँ यह भी विधान है कि वह उपाध्याय बनने वाला साधु बहुश्रुत हो और कम से कम आचारा ग निशीथ को क ठस्थ अर्थ सहित धारण करने वाला हो। यदि मति भ्रम से किए जाने वाले अर्थ को सही माना जाय तो यह सूत्र विधान निरर्थक हो जाएगा, क्यों कि उनके अनुसार तो तीन वर्ष के बाद आचारा ग निशीथ पढ़ाया जाना चाहिए।

अतः सत्य अर्थ को स्वीकार कर श्रुत अध्ययन की महत्वपूर्ण प्रणाली को विकसित रखना चाहिए।

भिक्षु पड़िमा- इसके लिए पर परा से ऐसा कथन प्रचलित है कि नौ पूर्व ज्ञान धारण करने वाला ही भिक्षु की बारह पड़िमा धारण कर सकता है। अ तगड़ सूत्र में वर्णित, अनेक (३१) ऐसे श्रमणों ने भिक्षु पड़िमा का पालन किया जिन्होंने पूर्वो का ज्ञान हासिल नहीं किया था कि तु उन्होंने केवल ग्यारह अ ग शास्त्रों का ही अध्ययन किया था।

किसी भी आगम में ऐसा नहीं कहा गया है कि पूर्वज्ञान धारी ही पड़िमा धारण करें किन्तु उससे विपरीत वर्णन तो सूत्र में अवश्य है। अतः प्रचलित पर परा आगम सम्मत नहीं है और आगम कथित भी नहीं है।

सार- (१) भिक्षु पड़िमा के लिए पूर्वो का ज्ञान आवश्यक नहीं है और किसी भी आगम में वैसा उल्लेख है भी नहीं।

(२) भिक्षु की बारह पड़िमा में एकल विहार भी आवश्यक है। अतः सामान्य एकल विहार के लिए भी पूर्व ज्ञान का आग्रह स्पष्ट ही आगम विपरीत प्ररूपण है।

(३) तीन वर्ष की दीक्षा के पहले ही आचारा ग निशीथ का अध्ययन पूर्ण कर देना चाहिए।

॥ छेद सूत्र परिशिष्ट ख ड-२ स पूर्ण ॥

प्राप्ति स्थान : सन् २०१२ से

हिन्दी साहित्य :

श्री विमलकुमार जी नवलखा
C/o. नवलखा टेकसटाइल ट्रेडर्स,
पोस्ट- पीपोदरा (जी.आई.डी.सी)
तालुका-मा गरोल,
जिल्ला- सूरत(गुजरात)
(मो.-०९४२६८८३६०५)

गुजराती साहित्य :

श्री प्रकाशमुनि जी म.सा.
तुरखिया रेडीमेइड, मेइन रोड,
सुरेन्द्रनगर-३६३ ००१
(फोन-(०२७५२)२२६४५७
(मो.-०९६२४७११५९६)

३२ अस्वाध्याय का स्पष्टीकरण

दिन में तथा रात्रि में स्वाध्याय करना आवश्यक होते हुए भी आगमों में जब जब जहाँ जहाँ स्वाध्याय करने का निषेध किया गया है उस अस्वाध्याय काल का सदा ध्यान रखना चाहिए। निम्न आगमों में अस्वाध्याय स्थानों का वर्णन है- **(१) ठाणा ग सूत्र अ.-४ में-** ४ प्रतिपदाओं और ४ स ध्याओं में स्वाध्याय करने का निषेध है। **(२) ठाणा ग सूत्र अ.-१० में-** १० आकाशीय अस्वाध्याय और १० औदारिक अस्वाध्याय कहे हैं। **(३) निशीथ उद्दे.-१९ में-** ४ महा महोत्सव ४ प्रतिपदा और ४ स ध्या में स्वाध्याय करने का प्रायश्चित्त कहा है। **(४) व्यव. उ.-७ में-** स्वशरीर सम्बन्धी अस्वाध्यायों में स्वाध्याय करने का निषेध किया है। इन सभी निषेध स्थानों का स ग्रह करने से कुल ३२ अस्वाध्याय स्थान होते हैं। **यथा-**

आकाश सम्बन्धी	-१०
औदारिक सम्बन्धी	-१०
महोत्सव एव प्रतिपदा सम्बन्धी	- ८
स ध्याकाल आदि से सम्बनिधत	- ४
कुल	**- ३२**

आकाशीय अस्वाध्याय :- (१) उल्कापात- तारे का टूटना अर्थात् तारा विमान का चलित होना, स्थानान्तरित होना। तारा विमान के तिर्यक् गमन करने पर या देव के विकुर्वणा आदि करने पर आकाश में तारा टूटने जैसा दृश्य दिखाई देता है। यह कभी लम्बी रेखायुक्त गिरते हुए दिखता है, कभी प्रकाशयुक्त गिरते हुए दिखता है इसे ही व्यवहार में तारा टूटना कहा जाता है। सामान्यतः आकाश में तारे टूटते प्रायः सदा ही देखे जाते हैं कि तु विशिष्ट प्रकाश करते हुए या प्रकाश रेखा खि चते हुए तारा टूटे तो ही अस्वाध्याय समझना चाहिए। इसका एक प्रहर तक अस्वाध्याय होता है।

(२) दिग्दाह :- स्वाभाविक ही पुद्गल परिणमन से एक या अनेक दिशाओं में आकाश में कोई महानगर के जलने जैसा दृश्य दिखाई दे उसे दिग्दाह समझना चाहिए। यह भूमि से कुछ ऊपर दिखाई देता है। इसका एक प्रहर का अस्वाध्याय होता है।

(३) गर्जन :- बादलों की ध्वनि। इसका दो प्रहर का अस्वाध्याय होता है। किन्तु आर्द्रानक्षत्र से स्वातिनक्षत्र तक के वर्षा-नक्षत्रों में अस्वाध्याय नहीं गिना जाता।

(४) विद्युत :- बिजली का चमकना। इसका एक प्रहर का अस्वाध्याय होता है। कि तु उपर्युक्त वर्षा के नक्षत्रों में अस्वाध्याय नहीं होता है।

(५) निर्घात :- दारूण-(घोर) ध्वनि के साथ बिजली का चमकना। इसे बिजली कड़कना या बिजली गिरना भी कहा जाता है। इसका आठ प्रहर का अस्वाध्याय होता है।

(६) यूपक :- शुक्ल पक्ष की एकम, बीज और तीज के दिन सूर्यास्त होने एव चन्द्र अस्त होने के समय की मिश्र अवस्था को यूपक कहा जाता है। इन तीन दिनों के प्रथम प्रहर में अस्वाध्याय होता है। इसे बालचन्द्र का अस्वाध्याय भी कहा जाता है।

(७) यक्षादीप्त :- आकाश में प्रकाशमान पुद्गलों की अनेक आकृतियों का दृष्टिगोचर होन। इसका एक प्रहर का अस्वाध्याय होता है।

(८) धूमिका :- अ धकारयुक्त धुँअर का गिरना। यह जब तक रहे, तब तक इसका अस्वाध्याय काल रहता है।

(९) महिका :- अ धकार रहित सामान्य धूँअर का गिरना। यह जब तक रहे तब तक इसका भी अस्वाध्याय रहता है। इन दोनों अस्वाध्यायों के समय अप्काय की विराधना से बचने के लिए प्रतिलेखन आदि कायिक-वाचिक कार्य भी नहीं किए जाते। इनके होने का समय कार्तिक, मार्गशीर्ष, पोष और माघ मास है। अर्थात् इन गर्भमासों में कभी-कभी, कहीं-कहीं धूँअर या महिका गिरती है। किसी वर्ष किसी क्षेत्र में नहीं भी गिरती है।

पर्वतीय क्षेत्रों में बादलों के गमनागमन करते रहने के समय भी ऐसा दृश्य होता है। किन्तु उनका स्वभाव धूँअर से भिन्न होता है अतः उनका अस्वाध्याय नहीं होता है। धु अर से भूमि एव छत पानी युक्त हो जाते है कि तु बादलों के चलने से नहीं होते हैं।

(१०) रज-उद्घात :- आकाश में धूल छा जाना और रज का गिरना। यह जब तक रहे तब तक अस्वाध्याय होता है। भाष्य में बताया है कि तीन दिन सचित्त रज गिरती रहे तो उसके बाद स्वाध्याय के सिवाय प्रतिलेखन आदि भी नहीं करना चाहिए क्यों कि सर्वत्र सचित्त रज व्याप्त हो जाती है। ये दस आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय है।

औदारिक अस्वाध्याय :– (११, १२, १३) हड्डी–मा स–खून। तिर्यंच की हड्डी या मा स ६० हाथ और मनुष्य की हड्डी मा स १०० हाथ के भीतर दृष्टिगत हो तो अस्वाध्याय होता है। हड्डिया जली हुई या धुली हुई हो तो उसका अस्वाध्याय नहीं होता है। अन्यथा उसका १२ वर्ष तक अस्वाध्याय होता है। इसी तरह दा त के लिए भी समझना चाहिए।

खून जहाँ दृष्टिगोचर हो या ग ध आवे तो उसका अस्वाध्याय होता है अन्यथा अस्वाध्याय नहीं होता हे। अर्थात् ६० हाथ या १०० हाथ ही मर्यादा इसके लिए नहीं है। तिर्यंच प चेन्द्रिय के खून का तीन प्रहर और मनुष्य के खून का अहोरात्र तक अस्वाध्याय रहता है। उसके बाद अस्वाध्याय नहीं रहता है।

उपाश्रय के पास किसी घर में लड़की उत्पन्न हो तो आठ दिन और लड़का हो तो ७ दिन अस्वाध्याय रहता है। इसमें दीवाल से स लग्न सात घर की मर्यादा मानी जाती है। तिर्यंच सम्बन्धी प्रसूति हो तो जरा गिरने को बाद तीन प्रहर तक अस्वाध्याय समझना चाहिए।

(१४) अशुचि :– मनुष्य का मल जब तक सामने दीखता हो या ग ध आती हो तब तक वहाँ अस्वाध्याय समझना चाहिए। तिर्यंच के मल की दुर्गन्ध आती हो तो अस्वाध्याय होता है, अन्यथा नहीं। मनुष्य के मूत्र की जहाँ दुर्गन्ध आती हो ऐसे मूत्रालय आदि के निकट अस्वाध्याय होता है। जहाँ पर नगर की नालियाँ–गटर आदि की दुर्गन्ध आती हो वहाँ भी अस्वाध्याय होता है। अन्य कोई भी मनुष्य तिर्यंच के शारीरिक पुद्गलों की दुर्गन्ध आती हो तो उसका भी अस्वाध्याय समझना चाहिए।

(१५) शमशान :– शमशान के निकट चारों तरफ अस्वाध्याय होता है।

(१६) सूर्यग्रहण :– अपूर्ण हो तो १२ प्रहर और पूर्ण हो तो १६ प्रहर तक अस्वाध्याय होता है, सूर्यग्रहण के प्रार भ से अस्वाध्याय का प्रार भ समझना चाहिए। अथवा जिस दिन हो उस पूरे दिन रात तक अस्वाध्याय होता है, दूसरे दिन अस्वाध्याय नहीं रहता है।

(१७) चन्द्रग्रहण :– अपूर्ण हो तो आठ प्रहर और पूर्ण हो तो १२ प्रहर तक अस्वाध्याय रहता है। यह ग्रहण के प्रार भ काल से समझना चाहिए। अथवा उस रात्रि में चन्द्रग्रहण के प्रार भ से अगले दिन जब तक चन्द्रोदय न हो तब तक अस्वाध्याय समझना चाहिए। उसके बाद अस्वाध्याय नहीं रहता है।

(१८) पतन :– राजा म त्री आदि प्रमुख व्यक्ति की मृत्यु होने पर उस नगरी

में जब तक शोक रहे और नया राजा स्थापित न हो तब तक अस्वाध्याय समझना और उसके राज्य में भी एक अहोरात्र का अस्वाध्याय समझना चाहिए।

(१९) राज–व्युद्ग्रह :– जहाँ राजाओं का युद्ध चल रहा हो, उस स्थल के निकट या राजधानी में अस्वाध्याय रहता है। युद्ध के समाप्त होने के बाद एक अहोरात्र तक अस्वाध्याय काल रहता है।

(२०) औदारिक कलेवर :– उपाश्रय में मृत मनुष्य का शरीर पड़ा हो तो १०० हाथ पर्यन्त अस्वाध्याय होता है। तिर्यंच का शरीर हो तो ६० हाथ तक अस्वाध्याय होता है। किन्तु परम्परा से यह मान्यता है कि औदारिक कलेवर जब तक रहे तब तक उस उपाश्रय की सीमा में अस्वाध्याय रहता है। मृत या भग्न अ ड़े का तीन प्रहर तक अस्वाध्याय रहता है।

चार पूर्णिमा :– अषाढ़ी, आसोजी, कार्तिकी और चैत्री पूनम।

चार प्रतिपदा :– श्रावण वदी एकम, कार्तिक वदी एकम, मिगसर वदी एकम, वैसाख वदी एकम।

चार स ध्या :– सूर्योदय एव सूर्यास्त के समय की लाल दिशा रहे जब तक का समय तथा मध्यान्ह एव मध्य रात्रि का (१२ बजे से १ बजे तक का) समय।

पूर्णिमा और प्रतिपदा को लगातार ४८ घन्टे दो दिन का अस्वाध्याय सूर्योदय से सूर्योदय तक रहता है। दिन और रात्रि में १२ बजे से एक बजे तक मध्यान्ह मध्य रात्रि का अस्वाध्याय होता है। सुबह शाम जितने समय लाल दिशा रहे तब तक अस्वाध्याय रहता है। सूर्योदय के पूर्व लगभग ४०–५० मिनट लाल दिशा रहती है एव सूर्योदय के बाद १०–१२ मिनट रहती है। सूर्यास्त के पूर्व १०–१२ मिनट एव सूर्यास्त के बाद ४०–५० मिनट लगभग लाल दिशा रहती है।

इन सभी अस्वाध्यायों का विवेचन प्रायः भाष्य के आधार से किया गया है। अतः प्रमाण के लिए देखें– निशीथ भाष्य गा॰ ६०७८–६१६२, व्यव॰ उ॰ ७ भाष्य गा॰ २७२–३८३, अभि॰ रा॰ कोश भाग एक पृ॰ ८२७ 'असज्झाइय' शब्द। इन ३२ प्रकार के अस्वाध्यायों में स्वाध्याय करने पर जिनाज्ञा का उल्ल घन होता है और कदाचित किसी देव द्वारा उपद्रव भी हो सकता है तथा ज्ञानाचार की शुद्ध आराधना नहीं होती है अपितु अतिचार का सेवन होता है।

धूमिका, महिका में स्वाध्याय आदि करने से अप्काय की विराधना भी होती है। औदारिक पुद्गल सम्बन्धी दस अस्वाध्याय में स्वाध्याय करने पर लोक व्यवहार से विरुद्ध आचरण भी होता है तथा सूत्र का सम्मान भी नहीं रहता है। युद्ध के समय और राजा की मृत्यु होने पर स्वाध्याय करने से राजा या राज कर्मचारियों को साधु के प्रति अप्रीति या द्वेष उत्पन्न हो सकता है।

अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय करने के निषेध करने का प्रमुख कारण यह है कि भग॰ श॰-५, उ॰-४ में देवों की अर्धमागधी भाषा कही है और यही भाषा आगम की भी है। अतः मिथ्यात्वी एव कौतुहली देवों के द्वारा उपद्रव करने की सम्भावना बनी रहती है।

अस्वाध्याय के इन स्थानों से यह भी ज्ञात होता है कि स्पष्ट घोष के साथ उच्चारण करते हुए आगमों की पुनरावृत्ति रूप स्वाध्याय करने की पद्धति होती है। इसी अपेक्षा से ये अस्वाध्याय कहे हैं किन्तु इनकी अनुप्रेक्षा में या भाषा तरित हुए आगम का स्वाध्याय करने में अस्वाध्याय नहीं होता है।

अस्वाध्याय के सम्बन्ध में विशेष विधान यह है कि आवश्यक सूत्र के पठन-पाठन में अस्वाध्याय नहीं होता है क्यों कि यह सदा उभयकाल स ध्या समय में ही अवश्य करणीय होता है। अतः 'नमस्कार मन्त्र', 'लोगस्स' आदि आवश्यक सूत्र के पाठ भी सदा सर्वत्र पढ़े या बोले जा सकते हैं।

किसी भी अस्वाध्याय की जानकारी होने के बाद शेष रहे हुए अध्ययन या उद्देशक को पूर्ण करने के लिए स्वाध्याय करने पर प्रायश्चित्त आता है।

तिर्यंच प चेन्द्रिय या मनुष्य के रक्त आदि को जल से शुद्ध करना हो तो स्वाध्याय स्थल से ६० हाथ या १०० हाथ दूर जाकर करना चाहिए। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय के खून या कलेवर का अस्वाध्याय नहीं गिना जाता है। औदारिक सम्बन्धी अशुचि पदार्थो के बीच में राजमार्ग हो तो अस्वाध्याय नहीं होता है। उपाश्रय में तथा बाहर ६० हाथ तक अच्छी तरह प्रतिलेखन करके स्वाध्याय करने पर भी कोई औदारिक शरीर सम्बन्धी अस्वाध्याय रह जाय तो सूत्रोक्त प्रायश्चित्त नहीं आता है।

अतः भिक्षु दिन में सभी प्रकार के अस्वाध्यायों का प्रतिलेखन एव

विचार करके स्वाध्याय करे और रात्रि में स्वाध्याय काल प्रतिलेखन करने योग्य भूमि का अर्थात् जहाँ पर खड़े होने पर सभी दिशाएं एव आकाश स्पष्ट दिखें ऐसी तीन भूमियों का सूर्यास्त पूर्व प्रतिलेखन करे। वर्षा आदि के कारण से कभी मकान में रहकर भी काल का प्रतिलेखन किया जा सकता है।

बहुत बड़े श्रमण समूह में दो साधु आचार्य की आज्ञा लेकर काल प्रतिलेखन करते हैं, फिर सूचना देने पर ही साधु स्वाध्याय करते हैं। बीच में अस्वाध्याय का कारण ज्ञात हो जाने पर उसका पूर्ण निर्णय करके स्वाध्याय बन्द कर दिया जाता है।

स्वाध्याय आभ्यन्तर तप एव महान निर्जरा का साधन होते हुए भी अस्वाध्याय में स्वाध्याय करने पर जिनाज्ञा का उल्ल घन होता है, मर्यादा भ ग आदि से कर्मबन्ध होता है, कभी अपयश भी होता है, इसलिए स यम विराधना की एव प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। **-निशीथ चूर्णि उद्दे॰-१९, सूत्र-१४, - अभि॰ रा॰ को॰ भा॰-१, पृ॰ ८२७.**

अतः स्वाध्याय प्रिय भिक्षु को इन ३२ अस्वाध्यायों के सम्बन्ध में सदा सावधानी रखनी चाहिए।

नोंध :- भादवा की पूनम एव आसोज की एकम की भी अस्वाध्याय मानने की पर परा है। जो लिपि दोष आदि से बनी भ्रमित पर परा है जिससे ३२ + २ = ३४ अस्वाध्याय कही जाती है। इसकी विस्तृत जानकारी के लिये आगम प्रकाशन समिति ब्यावर से प्रकाशित विवेचन युक्त निशीथ सूत्र उद्दे॰ १९, सू॰-११, १२ देखें।

आगम विपरीत प्रायश्चित्त क्यों

(१) साधु जितने समय अकेला रहे उतने समय का दीक्षा छेद का प्रायश्चित्त। **(२)** छः महीनों से अधिक ***यावत्*** अनेक वर्षो का दीक्षा छेद का प्रायश्चित्त ।

उक्त दोनों प्रकार के प्रायश्चित्त आगम विपरीत है। क्यों कि साधु के अकेले रहने का प्रायश्चित्त विधान किसी भी सूत्र में (३२ सूत्र में) नहीं है। निशीथ सूत्र में सेकड़ों प्रायश्चित्त विधान है उनमें भी

उक्त प्रकार का प्रायश्चित्त नहीं है ।तब फिर उतने ही दिन की दीक्षा कट करना अर्थात् सातवाँ प्रायश्चित्त देना आगमानुसार नहीं है ।

अन्य भी किसी विषय में उतने ही दिन का प्रायश्चित्त देने का विधान किसी भी आगम में नहीं है फिर भी वैसा अर्थ करने की एक भ्रमित पर परा चल पड़ी है। जबकि उन्हीं सूत्रों के व्याख्या ग्रन्थों में उन सूत्रों का वैसा अर्थ करने की प्रणाली नहीं है, यह स्पष्ट है ।

छेद प्रायश्चित्त देने की विधि बताते हुए व्याख्याकारों ने जघन्य ५ दिन के छेद प्रायश्चित्त से प्रार भ करके १०, १५ दिन ***यावत्*** ६ महीने के छेद तक प्रायश्चित्त की वृद्धि करने का क्रम दिया है । उसके बाद चर्चा विचारणा करके स्पष्ट किया है कि २४ वें तीर्थंकर के शासन में तप और छेद प्रायश्चित्त छः मास के अधिक देने का विधान नहीं है। यह ६ मास का उत्कृष्ट छेद प्रायश्चित्त भी किसी गलती के बार बार करने पर तीन बार दिया जा सकता है उसके बाद चौथी बार उसे नई दीक्षा का प्रायश्चित्त दिया जाता है। इस प्रकार १३०० वर्ष पूर्व के प्राचीन व्याख्याकारों ने छः मास से अधिक छेद प्रायश्चित्त देने का स्पष्ट निषेध किया है।

शास्त्र में साधु का दूसरा मनोरथ ही अकेले रह कर आत्म उन्नति करने का है। कई आगमों में अकेले रहने की प्रेरणा भी की गई है। सपरिस्थितिक या अपरिस्थितिक एव प्रशस्त या अप्रशस्त इत्यादि एकल विहारों का विशेष वर्णन है। व्यवहार सूत्र में वृद्धावस्था वाले विशेष कारणिक शरीरी एकल विहारी के प्रति सद्भावना पूर्ण वर्णन है ।

ऐसी स्थिति में स घ के आचार्य, उपाध्याय एव अनेक गच्छ प्रमुख गतानुगतिक होकर आगम विरूद्ध खोटी पर परा को पकड़ कर उतने ही समय का दीक्षा छेद प्रायश्चित्त देकर एकल विहार का घोर अपमान करके स्वय की अगीतार्थता और अबहुश्रुतता प्रकट करते हैं। एव लकीर के फकीर बनते हैं। उन्हें पूछ लिया जाय कि एकल विहारी को उतने दिन का दीक्षा कट का प्रायश्चित्त आप किसी आगम प्रमाण से देते है ? प्रमाणित करिये। तो उन्हें इधर-उधर बगलें झाँकने के कर्तव्य करते ही पाया जायेगा ।

अतः पूज्य आचार्य, उपाध्याय एव प्रवर्तक आदि पदवीधरों तथा गच्छ प्रमुखों से निवेदन है कि वे पहले अच्छी तरह छेद सूत्रों के व्याख्या ग्रन्थों से प्रायश्चित्त विधानों एव अनेक मर्मो को समझें, सच्चे बहुश्रुत

बनें, फिर गच्छ प्रमुख या पदवीधर कहलावें। ऐसा न कर सकते तो अबहुश्रुत अवस्था के अपने लिये हुए पद का मोह न करते हुए उसका सहर्ष त्याग कर सामान्य साधक अवस्था में रह कर ही जिन शासन में स यम साधना करें। किन्तु अबहुश्रुत होकर जिन शासन के पदों की शान न बिगाड़ें ।

वर्तमान में छः महीने से अधिक तप प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता है ऐसा सभी श्रमण सामान्य रूप से समझते है किन्तु छेद प्रायश्चित्त भी छःमास से अधिक नहीं दिया जाता है, यह निशीथ उद्दे० २० की व्याख्या में चर्चा सहित स्पष्ट किया गया है। प्रमाण के लिये कोई भी जिज्ञासु निशीथचूर्णि, भाग-४ पृ० ३५१-५२ देखें तथा व्यवहार सूत्र के प्रथम उद्दे० का भाष्य टीका भी देखें एव बृहत्कल्प भाष्य गा० ७०७ एव ७१० भी टीका सहित देखें। (ये दोनों गाथाएँ अगले पृष्टों में दी गई है।)

इन स्थलों में ६ मास से अधिक दीक्षा कट करने के प्रायश्चित्त का निषेध है साथ ही दीक्षा कट का प्रायश्चित्त कैसी योग्यता वाले को दिया जाता है और किसे नहीं दिया जाता है यह स्पष्ट किया गया है फिर भी अनेक आचार्य और गच्छ प्रमुख बिना विचारे हर किसी को ढ़र्रे मात्र से दीक्षा कट का प्रायश्चित्त दे देते हैं वह भी छः मास का उल्ल घन करके वर्ष, दो वर्ष यावत् दस वर्ष का प्रायश्चित्त घोषित कर देते हैं, वह सर्वथा अनुचित एव आगम निरपेक्ष है ।

सार- *छेद सूत्रों के अर्थ परमार्थ का ज्ञाता(विशेषज्ञ)ही बहुश्रुत (गीतार्थ) कहा जाता है और वैसा बहुश्रुत ही गुरू या आचार्य अथवा गच्छ प्रमुख एव पदवीधर बनाया जाना चाहिये।*

अबहुश्रुतों को गुरू आदि बनाना आगम आज्ञा की अवहेलना करना है ।

आगम विपरीत प्रायश्चित्त देने वाले स्वय गुरुचौमासी प्रायश्चित्त के भागी बनते हैं। देखें- ***निशीथ उद्दे० १०, सूत्र : १५-१८***

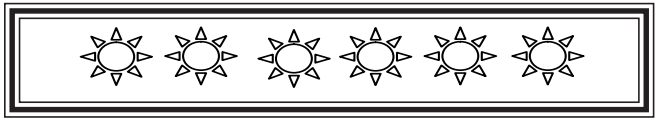

❋ सेवा करने वाले को विचित्र प्रायश्चित्त ❋

आगम में यक्षाविष्ट पागल आदि अनेक प्रकार के रूग्ण भिक्षुओं की सेवा करना परम कर्तव्य बताया गया है और उन्हें गच्छ से निकालने का निषेध किया गया है। उनकी सेवा भी अन्य सेवा से विशेष प्रकार की होती है। पागल एव यक्षाविष्ट व्यक्ति के साथ अनेक प्रकार के व्यवहार विवेक पूर्वक किये जाते हैं।

ऐसी सभी स्थितियों से युक्त सेवा करने वाले को आगम में लघु से लघु प्रायश्चित्त देने का विधान है। अन्य भी सभी प्रकार की सेवा करने वाले साधु को एव सेवा में जाने वाले साधु को छोटा से छोटा प्रायश्चित्त देने का आगमों में विधान है।

स्पष्ट आगम प्रमाण उपलब्ध होते हुए भी आज के प्रायश्चित्त दाता निःस्वार्थ भाव से सेवा करने वाले को छोटे से छोटा प्रायश्चित्त देने की आज्ञा का उल्ल घन कर गुरू प्रायश्चित्त या उस से भी आगे बढ़ कर छेद प्रायश्चित्त दे देते हैं यह सर्वथा अनुचित्त है और शास्त्र मर्यादा का उल्ल घन है।

व्यवहार सूत्र में प्रायश्चित्त वहन करने वाले परिहारिक साधु को सेवा में भेजने का वर्णन है। वह यदि मार्ग में स्वेच्छा से अपनी कोई कल्प मर्यादा का उल्ल घन करले और आचार्य को मालूम पड़ जाय तो भी उसे सेवा का कार्य समाप्त होने पर ही छोटा से छोटा प्रायश्चित्त देने का विधान है। यह सेवा कार्य का सन्मान है कि उसके व्यक्तिगत अपराध को भी गौण कर दिया जाता है। तब निःस्वार्थ सेवारत भिक्षुओं को छेद(दीक्षा कट) जैसा प्रायश्चित्त देना जिनशासन का महान अपराध है एव सेवा कृत्य का अबहुमान है।

शास्त्रकार तो सेवा काल में हुई उसकी स यम स्खलनाओं की शुद्धि हेतु छोटा से छोटा प्रायश्चित्त देने का ही स्पष्ट निर्देश करते हैं।

अतः प्रायश्चित्त दाताओं को इस ओर भी विशेष ध्यान देकर गतानुगतिक पर परा के निर्णयों में सुधार करना चाहिये क्यों कि अयोग्य और अनुचित अथवा आगम विपरीत प्रायश्चित्त देने वाले को निशीथ उद्देशक १० के अनुसार गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

सेवा करने वाले की स यम स्खलनाएँ- (१) ड़ाक्टर को बुलाना एव उनसे बार बार सम्पर्क करना (२) क्रीत औषध लाकर देना या खरीद कर म गाना (३) ड़ाक्टरों के आर भ युक्त प्रवृत्तियों में सहयोग देना (४) रोगी मुनि के साथ अस्पताल में रहना (५) स यम मर्यादाओं में रोगी के लिये अपवाद सेवन करना (६) गवेषणा के नियमों का पालन न होना (७) रोगी के साथ जाने हेतु वाहन प्रयोग करना इत्यादि यथा प्रस ग अनेक प्रवृतियों को उदाहरणार्थ समझ लेना चाहिये। ये प्रवृत्तियाँ भी निःश्वार्थ भाव से केवल रोगी की सेवा परिचर्या भावना से ओत प्रोत होकर की जाती है इसलिये इनका गुरु प्रायश्चित्त या छेद प्रायश्चित्त नहीं आता हैं।

०००००

– गच्छ समाचारी को या पर परा को प्रमुखता देकर आगम प्रमाणों की उपेक्षा करना हठधर्मीपन है।

– बृहत्कल्प भाष्य गाथा ६९५ में गीतार्थ के अकारण एकल विहार का लघुमासिक प्रायश्चित्त कहा है। अगीतार्थ के एकल विहार का गुरू चौमासी प्रायश्चित्त कहा है। इसके अतिरिक्त अन्य स यम दोषों का प्रायश्चित्त आलोचनानुसार अलग देने का कहा है।

– इसलिये एका त रूप से दीक्षा छेद का प्रायश्चित्त देने वाले प्रमाणित करें अथवा अनागमिक प्रायश्चित्त देने का स्वय ही गुरू चौमासी प्रायश्चित्त निशीथ उद्दे.१० के अनुसार स्वीकार करें।

– गीतार्थ को सकारण (उचित कारण) से एकल विहार का प्रायश्चित्त नहीं आता है।

– सेवा करने वालों को गुरू या छेद प्रायश्चित्त देना भी आगम से प्रमाणित नहीं किया जा सकता है। अतः आगम विरूद्ध प्रायश्चित्त देने का गुरू चौमासी प्रायश्चित्त लेना चाहिए।

卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐

प्रायश्चित्त विषयक भाष्य प्रमाण

तुल्ला चेव उ ठाणा, तव-छेयाण हव ति दोण्ह पि ।
पणगाइ पणगवुड्ढी, दोण्ह वि छम्मास निट्ठवणा (७०७)।

तपश्छेदयोर्द्वयोरपि स्थानानि तुल्यान्येव भवन्ति, न हीनानि नाप्यधिकानीति एवशब्दार्थः। कुतः ? इत्याह- ''पणगा'' इत्यादि। यतः ''द्वयोरपि'' तपश्छेदयोः प चक-प च रात्रिन्दिवान्यादौ कृत्वा प चकवृद्धया वद्धस्मानाना स्थानाना षण्मासेषु ''निष्ठापना'' समापना भवति। इयमत्र भावना- लघुप चकादीनि गुरूषाण्मासिकपर्यन्तानि यान्येव तपः स्थानानि तान्येव च्छेदस्यापीति तुल्यान्येवानयोः स्थानानि । एतेन च लघुप चकादर्वाग गुरुभ्यः षण्मासेभ्यः ऊर्ध्वं छेदो न भवतीत्यावेदित द्रष्टव्यम् (७०७) ।

भावार्थ :- तप और छेद दोनों प्रायश्चित्त के स्थान समान है । इन दोनों प्रायश्चित्त में पाँच दिन की वृद्धि करते हुए उत्कृष्ट ६ महिने का तप और छेद प्रायश्चित्त होता है इसलिये ६ महीने से आगे छेद (दीक्षा कट का) प्रायश्चित्त नहीं होता है ऐसा बताया गया है, दिखाया गया है। (७०७)

दुविहो य होइ छेदो, देसच्छेदो य सव्वछेदो य ।
मूलाणवट्ठप्प चरिमा, सव्वच्छेओ अतो सत्त (७१०) ।

इह च्छेदो द्विविधो भवति- देशच्छेदश्च सर्वचछेदश्च। प चकादिकः षण्मातपर्यन्तो देशच्छेदः । मूलक-अनवस्थाप्य-पारा चिकानि पुनर्देशोन-पूर्वकोटिप्रमाणस्यापि पर्यायस्य युगपत् छेदकत्वात् सर्वच्छेदः। एष द्विविधोपि सामान्यतश्छेदशब्देन ग्रह्यते इति विवक्षया सप्तविध प्रायश्चित्तम् (७१०)

भावार्थ :- अपेक्षा से प्रायश्चित्त के सात प्रकार कहे गये हैं। सातवाँ छेद प्रायश्चित्त है उसका दो भेद है- (१) देश छेद (२) सर्व छेद। पहला देश छेद प्रायश्चित्त पाँच दिन से लेकर उत्कृष्ट ६ महीने का होता है और सर्व छेद प्रायश्चित्त के तीन प्रकार है- (१) मूल(नई दीक्षा) प्रायश्चित्त (२) अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त (३) पार चिक प्रायश्चित्त। इन तीनों प्रायश्चित में एक बार में ही सम्पूर्ण दीक्षा पर्याय का छेदन हो जाता है।-***बृहत्कल्प भाष्य पीठिका।***

सार :- ६ महीने से अधिक दीक्षा छेद का प्रायश्चित्त नहीं होता है। इसके आगे नई दीक्षा देने रूप मूल प्रायश्चित्त ही होता है किन्तु ८ मास, १० मास या वर्ष दो वर्ष **यावत्** दस वर्ष का दीक्षा छेद का प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता है।

अतः एकल विहार या किसी भी अन्य दोष का ६ महीने से अधिक दीक्षा छेद प्रायश्चित्त देना अज्ञानदशा एव अ धानुकरण है।

एकल विहार का उत्कृष्ट गुरू चौमासी प्रायश्चित्त ही आता है। उसका उतने ही दिन का दीक्षा कट का प्रायश्चित्त देना भी भेड़ चाल मात्र है। जो किसी भी शास्त्र या उनकी प्राचीन व्याख्याओं से प्रमाणित नहीं किया जा सकता है। ऐसे आगम विपरीत प्रायश्चित्त देने वाले स्वय प्रायश्चित्त के पात्र है- ***निशी॰ उद्दे॰ १०***

ऐसा आगम विपरीत प्रायश्चित्त कोई आचार्य भी देवे तो उसे ग्रहण नहीं करना चाहिये, स्वीकार नहीं करना चाहिये, इन्कार कर देना चाहिये-प्रमाण के लिये देखें- ***बृहत्कल्प सूत्र उद्दे॰ ४ का सूत्र ३० का मूल पाठ एव विवेचन।***

॥ छेद सूत्र परिशिष्ट विभाग स पूर्ण ॥

॥ चार छेद सूत्र स पूर्ण ॥

॥ जैनागम नवनीत प्रश्नोत्तर भाग-९ स पूर्ण ॥